स्वर्गीय श्रद्धेय डॉ० मदनलालजी

समर्पण

मेरे पूज्य अग्रज डॉ० मदनलालजी

की पावन स्मृति मे

अनुक्रम

- अपनी एक बात ९
- राजस्थान की एक छोटी-सी झाँकी ११
- वंश-परिचय ३५
- विद्यार्थी-जीवन ३७
- डॉक्टरजी अजमेर मे ४६
- देवलिया-निवास के रोचक प्रसंग ४८
- ज्येष्ठ भ्राता की बीमारी ५१
- रोज एक जोडा नई धोती ५३
- तब और अब ५६
- विदाई के समय ६०
- दु ख की घड़ी ६२
- डॉक्टर साहब जोधपुर मे ६७
- आदर्श भाभी और शरारती देवर ७५
- पिताजी की निष्ठा ७७
- पिताजी का देहावसान ८०
- अनन्तरामजी का मोतीहारी-गमन ८६
- भाईसाहब का लालाजी से वार्तालाप ८८
- शैशव-काल के कुछ मधुर संस्मरण ९६
- भाई देवकीनन्दनजी की मृत्यु ९९
- माँ की शिक्षा १०३
- भाई मोहनलालजी का देहान्त १०५
- नागौर के वे मधुर दिन १०७
- मेरी सगाई और विवाह १११
- नागौर मे डॉक्टर साहब की बढती हुई प्रतिष्ठा ११६
- घर-खर्च : माँ-बेटे के बीच एक रोचक वार्तालाप ११९

○ गरीबो के प्रति सहृदयता १२१
○ सोलह रुपये कुछ आने १२३
○ माताजी का देहान्त १२५
○ घर से प्रयाण और प्रत्यावर्तन १२८
○ भाईसाहब की दूर-दर्शिता १३२
○ कोटा मे अध्ययन १३५
○ भइया का जोधपुर स्थानान्तरण १३८
○ न्हारुआ की सफल चिकित्सा १४४
○ वकालत का मेरा पहला मुकदमा १४६
○ भइया का अवकाश-ग्रहण १५०
○ सगे-सम्बन्धियो के प्रति सहृदयता १५३
○ सेकण्ड-क्लर्की का मेरा कार्य-काल १५६
○ कलकत्ता-प्रवास १६१
○ ज्योतिषी से साक्षात्कार १६४
○ एक प्रेरणादायक पत्र १६७
○ कोल-फील्ड मे प्रथम पदार्पण १७०
○ भइया का कोलियरी आगमन १७५
○ प्रकृति देवी का अटल नियम १७८
○ मेरी चुँदडी मे कितना बल है १८३
○ वापस जैरामपुर कोलियरी १८६
○ षड्यंत्र के विकट चक्रव्यूह मे १८८
○ भइया की बीमारी और उनका सान्निध्य १९७
○ भइया का दूसरा प्रेरक पत्र २०१
○ रामचन्द्रजी के साथ भेट और वार्ता २०३
○ चेतन और सुषुप्त मन २०६
○ एक मधुर स्मृति २११
○ बाई भगवती की शादी के सन्दर्भ मे २१४
○ वे चिर-स्मरणीय दिन २१७
○ मर्यादित दूरी की महिमा २२०
○ बाई भगवती का विवाह २२७
○ जैरामपुर कोलियरी का हस्तान्तरण और नये संघर्ष का सूत्रपात २३२

० भइया की अस्वस्थता और एक चिर-स्मरणीय क्षण — २३६
० संघर्ष का एक और चक्रव्यूह — २३६
० प्रकृति का प्रथम संकेत और डालमियाजी से मुलाकात — २५०
० प्रकृति का दूसरा सकेत — २५६
० अन्नपूर्णा की जय — २६१
० पिता का सुयोग्य प्रतिनिधि — २६३
० प्रेम एक विश्लेषण — २६५
० श्रेय का अधिकारी कौन — २६८
० मर्यादा का महत्त्व — २७१
० अवतारवाद का विवेचन — २७३
० मेरा नाम राजेन्द्रकुमार गोयनका है — २७७
० एक पवित्र संकल्प — २८०
० त्रिलोकीनाथ साथ हैं — २८३
० हे क्षण-भगुर भव राम-राम — २८७
० गुरु-दक्षिणा — २८६
० कन्या-दान संस्कार — २९१
० यहाँ की भूमि हँस रही है — २९७
० प्रकृति का तीसरा संकेत — ३०३
० परासिया मे पदार्पण — ३१०
० वाई मिथिलेश का विवाह — ३१६
० साउथ परासिया कोलियरी का जन्म — ३२३
० एक ईश्वर-प्रदत्त वरदान — ३२६
० मोतियाबिन्द का ऑपरेशन — ३३२
० मेरे कोलियरी-जीवन का अन्तिम चरण — ३३६
० स्वाध्याय के सोपान — ३४४
० फलित-ज्योतिष के प्रसंग मे — ३४८
० देवी, सहचरी, प्राण — ३५२
सुदामा की पत्नी का प्रसंग — ३५२
इलाज के लिए कलकत्ता-प्रस्थान — ३५४
एक दिव्य व्यक्तित्व · पूज्य दीपचन्दजी — ३५६
विधाता की कुटिल गति — ३५८
रोग के शिकजे में — ३५६

एक दर्पपूर्ण मुस्कान ३६०
गया-यात्रा ३६१
आत्मा का भव्य प्रकाश ३६३
एक कारुणिक वार्तालाप ३६३
माँ-बेटी की अन्तिम सम्मिलित हँसी ३६४
आखिरी शब्द ३६५
विदा, चिर विदा ३६६
० होनहार बिरवान के ३६८
प्रथम गुरु ३,८
सुलेख का महत्त्व ३७०
शिशु का खान-पान ३७१
दाई प्रथा के कुसंस्कार ३७१
शिक्षा की प्रारंभिक सीढियाँ ३७२
असफलता का सफल सामाधान ३७३
भाईसाहब का भइया ३७४
उच्च शिक्षा की ओर ३७६
खर्च का सही हिसाब ३७७
बी० कॉम० में सफलता ३७८
कोलियरी-जीवन का प्रशिक्षण ३७९
सगाई ३८०
विवाह बरात का स्वागत-सत्कार ३८५
सिन्दूर की माँग दुर्गा के खड्ग का प्रतीक ३८८
बरात की विदाई ३८९
भाई अशर्फीलालजी से एक वार्तालाप ३९२
वधू का स्वागत ३९४
ग्रुप-एजेन्ट का पद-ग्रहण ३९५
मेवे के गाछ ३९७
एक अप्रिय कटु प्रसग ४००
सर्वतोमुखी विकास के पथ पर ४०४
० समापन श्रद्धाञ्जलि ४०६
० ग्रन्थ-प्रणयन की पीठिका ४०९

लेखक
श्री निरंजनलाल गोयनका

अपनी एक बात

जब मेरे विद्यार्थी-जीवन में असफलताओं-पर-असफलताएँ मुझे झकझोरे चली जा रही थीं, तो एक दिन मैं बैठक में बड़ा ही खिन्न मन बैठा हुआ था। मेरे अग्रज मदनलालजी ने बैठक में प्रवेश किया। मेरी मुख-मुद्रा को लक्ष्य कर उन्होंने कहा, 'निरञ्जन, इतना उदास क्यों बैठा है? मनुष्य के जीवन में असफलताएँ तो उसको एक पाठ सिखाने आती हैं, और जो सही मायने में उस पाठ को सीख जाता है, उसके जीवन को जाज्वल्यमान होने में देर नहीं लगती। हमारे जिस परम्परानुगत महामंत्र से मैं दीक्षित हुआ था, उसी महामन्त्र से तुम भी आज दीक्षित हो जाओ। उस मंत्र की साधना के पश्चात तुम्हारे जीवन में ऐसी प्रबल शक्ति का संचार हो सकेगा कि बाधाओं के कैसे भी प्रचण्ड झंझावात जीवन-क्षेत्र से तुम्हारे पैर नहीं उखाड़ सकेंगे। यह महामंत्र सिर्फ एक शब्द में ही सीमित है, और वह शब्द है—संघर्ष। यह संघर्ष ही व्यक्तित्व का जनक है। जो व्यक्ति विपरीत परिस्थितियों की चपेट में आकर पस्त हो जाता है, उसका जीवन तो असफल रह जाता है, किन्तु जो उन परिस्थितियों को पराभूत कर अपने जीवन-मार्ग पर अग्रसर होता चला जाता है, वही

व्यक्ति जीवन के मधुर फल का उपभोग करने मे समर्थ होता है। उदाहरण के लिए, तुम मेरे ही जीवन को देखो। मेरा जीवन तो बचपन से ही सघर्षमय रहा है। आज भी डॉक्टर होने के नाते विषम-से-विषम रोग-ग्रस्त रोगियो का इलाज करना, उनके रोगो से टक्कर लेना, और उन रोगियो को उनसे मुक्त करा देना—मेरा तो दिन-रात का जीवन ही इसी संघर्ष मे व्यतीत होता है। भयंकर-से-भयंकर रोग का इलाज करने मे मै पीछे नही हटता। मेरा तेज चाकू रोगी के गलित एव दूषित अंग को काटने मे विकम्पित नही होता। जिन सर्जनो के चाकू मरीज के उस दूषित अंग को निकाल फेकते समय हिल जाते है, वे अपने कार्य मे असफल रहते हैं, क्योकि वे संघर्ष से डरते है, और यह डर उनके चाकू को कुण्ठित बना देता है। सघर्ष ही तो सफल जीवन का विजय-घोष है। इसलिए उठो, और जीवन मे संघर्ष करना सीखो।'

सघर्ष शब्द की यह गूढ व्याख्या उस दिन प्रथम बार मैंने भाईसाहब के मुख से सुनी थी। उन्ही के जीवन को आधार बनाकर इस संघर्ष की एक छोटी-सी झॉकी इस पुस्तक मे देने का मैंने विनम्र प्रयास किया है।

परासिया कोलियरीज लि०
कजोराग्राम (वर्दवान)

—निरंजनलाल गोयनका
१ जुलाई, १९६७

भारतवर्ष
का
मानचित्र
हरिद्वार
गुरुकुल
कांगड़ी
सीतापुर
दिल्ली
चुरू
फतेहपुर
सिकन्दराऊ
लखनऊ
मोतिहारी
बनारस
गया
गोमो
आसनसोल
कलकत्ता
झरिया
धनबाद
रानीगंज
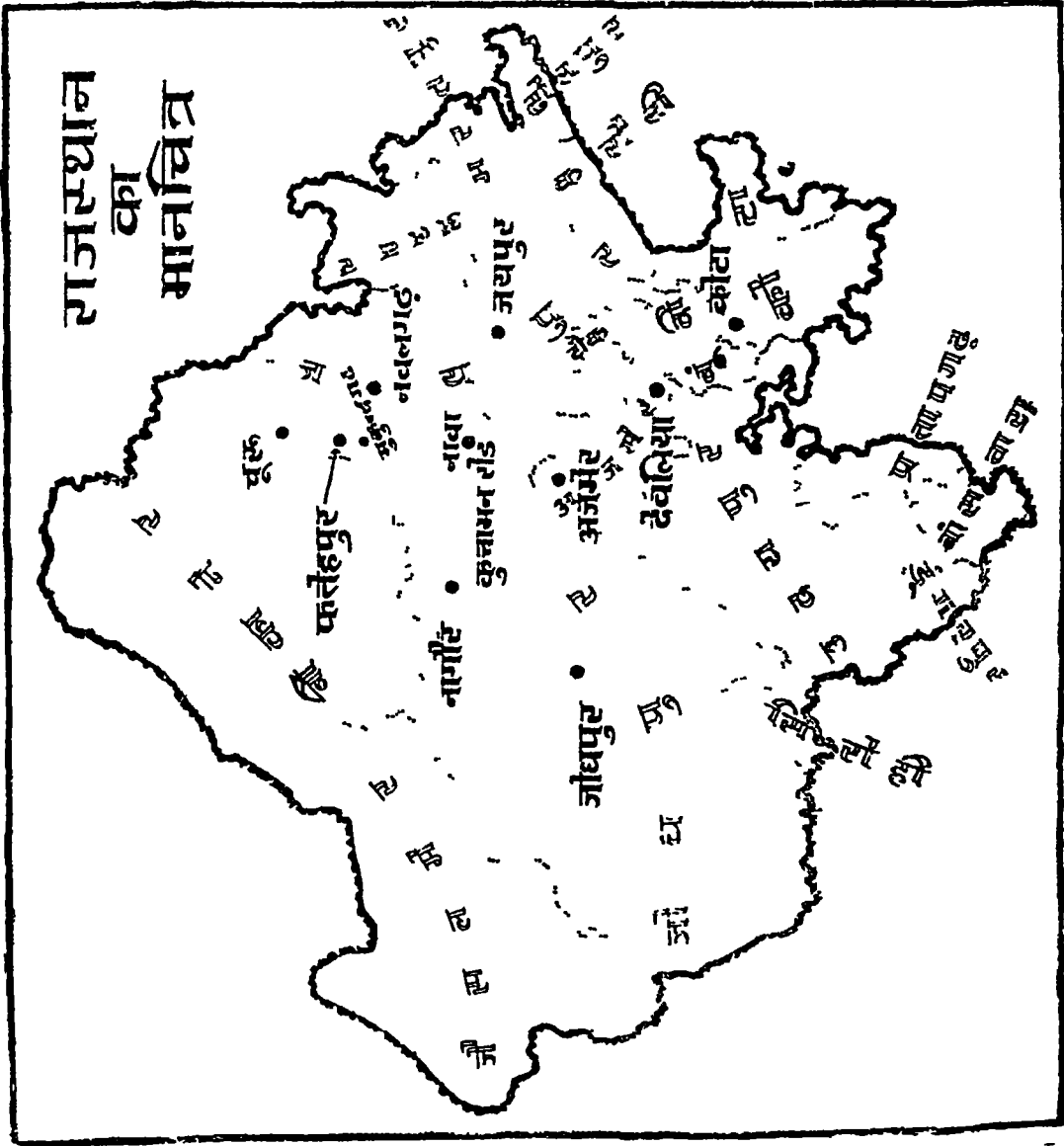
राजस्थान
का
मानचित्र
चूरू
फतेहपुर
मुकुन्दगढ़
नवलगढ़
नागौर
नावा
कुचामन रोड
जयपुर
जोधपुर
अजमेर
देवलिया
कोटा

राजस्थान की एक छोटी-सी झाँकी

हमारा भारतवर्ष विश्वमण्डल का एक छोटा-सा भूखण्ड है। यह भूखण्ड कई परिधियों में विभक्त है। अतीत काल में वेदों एवं उपनिषदों के रचयिता एवं षट् शास्त्रों के प्रणेता पातञ्जलि इत्यादि को जन्म देने का इसी भूमि को श्रेय है। तत्पश्चात् बुद्ध, शंकर, रामानुज, वल्लभाचार्य, गौतम, नानक, कबीर, रामदास, शिवाजी, महर्षि दयानन्द, महात्मा गाँधी, रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द, स्वामी रामतीर्थ, रवीन्द्रनाथ टैगोर, अरविन्द घोष इत्यादि-इत्यादि पुण्य-श्लोक महान् आत्माओं ने इस भूमि पर जन्म लेकर अपने गुणों से इसको संजोने का श्रेय लूटा है।

इसी भूखण्ड का एक अनूठा अंश राजस्थान है। राजस्थान शब्द अपने-आपमें एक इतिहास है। इस शब्द के सुनने मात्र से ऐसा प्रतीत होने लगता है मानो यही राजाओं यानी क्षत्रियों के रहने का स्थान हो, घर हो। हमारे वाङ्मय में क्षत्रिय और राजपूत पर्यायवाची शब्द हैं। हमारी वर्ण-व्यवस्था के अनुसार अपने अधीन भू-भाग की रक्षा का भार इन्हीं के हाथों में सौंपा गया था। ये हमारे रक्षक थे, न कि आज की परिभाषा के अनुसार शोषक और शासक। ये शोषक और शासक नहीं थे, प्रजा के रक्षक एवं सेवक मात्र थे। इनके ऊपर एक जबर्दस्त अंकुश ब्राह्मण-वर्ग का था, जो कि इनको निर्दिष्ट परिधि के बाहर नहीं

जाने देता था। इतिहास के पढने से मालूम होता है कि ऋषियो ने अपनी रक्षार्थ अपने ब्रह्म-तेज का कही भी उपयोग नही किया। यह ब्रह्म-तेज तो क्षत्रियो के ऊपर अंकुश के लिए ही था, ताकि चारो वर्ण अपनी परिधि के अन्दर रहकर एक पूर्ण अग के रूप में इस भूखण्ड में सुख-शान्ति अनुभव कर सकें।

जब ब्राह्मण-वर्ग अपनी धुरी से विचलित हो चला, तब इनके ऊपर से उनका अकुश जाता रहा। आखिर ये भी तो थे मनुष्य ही—तीनो गुणो के मिश्रीकरण के फल। जब सतोगुण का अकुश नपुसक हो चलता है, तब रजोगुण और तमोगुण प्रबल हो उठते है, और अपनी करतूत दिखाये बिना नही रहते। यह बात सृष्टि के नियम के विपरीत नही है।

हम यह न समझ बैठें कि इस वर्ण-व्यवस्था के अन्दर एक वर्ग दूसरे वर्ग को हेय दृष्टि से देखता था, बल्कि इसके विपरीत एक वर्ग दूसरे वर्ग के लिए अनिवार्य रूप से उपादेय था। हमारे शरीर के अन्दर भी तो यही नियम और क्रम दृष्टिगोचर हो रहा है। हमारे शरीर के निम्नस्थ भाग की उपयोगिता मुख से कम नही है, बल्कि विशेष ही है। मुख के कैन्सर का रोगी सालों-साल जिन्दा रह सकता है, लेकिन ये निम्नस्थ स्थल अगर विशेष रोग-ग्रस्त हो जायें, तो चन्द घटो में ही शरीरान्त होते देर नही लगती। प्रत्येक अग एक-दूसरे का पूरक है, और सारे अंग मिलकर ही पूरे शरीर का निर्माण करते है। शरीर की हस्ती तुरन्त खत्म हो जायेगी अगर इसके अग-प्रत्यग इससे अलग कर दिये जायें। इस नाते से हमारा क्षत्रिय अंग प्रबल होने पर भी अन्य अगो का पूरक ही रहा है, और जब कभी यह पूरक अग कुछ अभिमान में आकर अन्य अंगो को अपने अभिभूत करके ताण्डव-नृत्य में रत होने लगता है, तब देखा-देखी दूसरे अग भी एक-दूसरे से असहयोग कर, एक-दूसरे को अभिभूत करने मे रत हो जाते है। फलत सारे ही अंग शिथिल और कमजोर पड जाते है, और ऐसी अवस्था में आ जाते है कि कोई भी सबल व्यक्ति इनको जब चाहे पददलित कर सकता है।

इतिहास के अवलोकन से ऐसा प्रतीत होता है कि सारे भारतवर्ष में एकछत्र राज्य कभी नही हो पाया। यहाँ चक्रवर्ती राजा ही होते रहे, जिनका स्वत्व छोटे-छोटे राज्यो को मान्य रहा, और जब कभी विषम परिस्थिति उत्पन्न हो जाती, तो सभी एक होकर उस परिस्थिति का मुकाबला करने में डट जाते। लेकिन यह स्थिति भी बुद्ध-काल के आस-पास नही रहने पाई थी। ऐसा अनुमान लगाया जा सकता है कि बौद्ध धर्म को यह वर्ण-व्यवस्था मान्य नही थी। बुद्ध का तीव्र खग ब्राह्मण और क्षत्रिय वर्ग के ऊपर बेरहमी से चला। इस कारण

वर्ण-व्यवस्था प्राय एकदम ढीली पड चली। उधर विभिन्न राजाओ मे एकता की डोरी भी शिथिल हो चली थी और प्रत्येक राजा अपने स्वार्थ की सिद्धि मे लगा हुआ था। जिस जाति और जिस देश मे एकता न रहे, स्वार्थ का ताण्डव-नृत्य होने लगे, तो आगे चलकर वह जाति व देश सुखपूर्वक जीवित रहने का अधिकार खो बैठता है। भारतवर्ष की जब इस प्रकार की अवस्था हो रही थी, और चारो वर्णो का ध्यान बौद्ध धर्म की तरफ झुक गया था, तब क्षात्र-धर्म मे कमजोरी का आ जाना बिलकुल स्वाभाविक ही था। जब एक वरिष्ठ अग कमजोर हो चलता है, तो दूसरे अग भी अपनी हस्ती खो बैठते है।

जब भारतवर्ष ऐसी अवस्था मे से गुजर रहा था, तब आस-पास के तथा दूर-देशी राजाओ की गिद्ध-दृष्टि इधर पड़ने लगी। गिद्ध हमेशा मुर्दो के ऊपर ही झपटता है, न कि सजीव प्राणी के ऊपर। हमारे इस प्यारे भारतवर्ष के ऊपर सर्वप्रथम जिस गिद्ध की दृष्टि पड़ी, वह यूनान का बादशाह सिकन्दर था। कहाँ हमारे राजा रघु की धर्मनिष्ठ सतान, और कहा एक विधर्मी, अत्याचारी, लुटेरा, विदेशी राजा ? जिस समय राजा पोरस इनसे समरागण मे लोहा ले रहा था, यदि उस समय भारतवर्ष के सारे क्षत्रिय राजा उसकी सहायता के लिए दौड पडते, तो हमको पूर्ण विश्वास है कि हमारे भारतवर्ष की स्वतन्त्रता अक्षुण्ण बनी रहती।

सिकन्दर के बाद, उसके देखा-देखी, अन्य विदेशी लुटेरे भी आते रहे, जैसे हूण, सिथियन्स इत्यादि, लेकिन उस वक्त तक हमारी वर्ण-व्यवस्था इतनी कमजोर नही हुई थी, इसलिए हम उनको अपने मे पचाते चले गये।

मुसल्मानों ने जब हमारे ऊपर धावा बोला, उस समय हमारी वर्ण-व्यवस्था का ढाँचा लटखडाया हुआ था, और विभिन्न वर्ग अपने को एक-दूसरे का पूरक न समझ कर, एक-दूसरे का स्वामी समझ बैठा था, और प्रत्येक वर्ग अपने-आपको एक-दूसरे से स्वतन्त्र मान बैठा था। फलत चारों वर्णों की एकता भग हो गई, और प्रत्येक वर्ण आपस में लड़ने लगा।

उस समय ऐसी स्थिति हो चली थी कि अगर पैर पर कोई प्रहार करता, तो उसकी रक्षार्थ हाथ क्यो दौडे, और सिर पर प्रहार होने लगता, तो पैर और हाथ क्यो उसकी चिन्ता करें ? जब ऐसी हालत हो चले, तब शरीर की रक्षा का प्रश्न ही कहाँ उठता है ?

जब मोहम्मद गोरी और मोहम्मद गजनी जैसे अत्याचारियो ने हमारे देश पर धावा बोला, तो देश के जिस भाग पर उनका आक्रमण हुआ था, उसी के

राजा के ऊपर इन दुष्टो से लोहा लेने का भार आ पडा। अन्य राजा लोग यह न समझ पाये कि ये लुटेरे किसी खास राजा को परास्त करने के लिए नहीं आये थे, वल्कि सम्पूर्ण भारतवर्ष के ऊपर अपनी विजय का झडा फहराने आये थे। जव सोमनाथ के मन्दिर से ये लुटेरे हजारो ऊँटो के ऊपर रत्न-भण्डार लाद-लादकर ले चले, उस समय यदि दूसरे राजाओ की भी आँख खुल जाती कि उतने ही अनुपात में हमारा भारतवर्ष गरीव हो जायेगा, तो क्या मजाल थी इन लुटेरो की, कि हमारी तरफ ताक भी लेते ? मोहम्मद गजनी पृथ्वीराज चौहान के मुकाबले में नगण्य था, लेकिन जयचन्द के हृदय की विद्वेषाग्नि ने गजनी का पथ प्रशस्त कर दिया, और उसका आवाहन कर पृथ्वीराज को उसके हाथों में सौंप दिया। जयचन्द के मरने के वाद भी यदि जयचन्द की पीढी समाप्त हो गई होती, तब भी भारतवर्ष को राहत मिलती, लेकिन वदकिस्मती से जयचन्द पीढी-दर-पीढी होते चले गये, और आज भी हमारे देश मे जयचन्दो की वाढ-सी आयी हुई नजर आती है।

अब तो इन विदेशी लुटेरों ने रास्ता देख ही लिया था, सो एक के वाद दूसरा आता चला गया, और इन लोगो ने क्षात्र-धर्म के अन्दर काफी कमजोरी पैदा कर दी।

अब तक भारतवर्ष के शेष भागो के क्षत्रीय वशी राजा लोग तेजहीन हो चले थे, किन्तु क्षात्र-वर्ण का यह तेज राजस्थान-स्थित क्षत्रियो में मंद न हो पाया था, लेकिन ये भी निरकुश अवश्य हो चले थे। ब्राह्मण-वर्ग इनके अंकुश के स्थान से च्युत होकर पुरोहिताई के रूप मे इनका दासत्व स्वीकार कर चुका था, और अपने से सम्बन्धित राजा के रुख के अनुसार ही चलने लगा था। आज राजा इनका स्वामी था। इनका गुरुपन इनके अभिमान की तुष्टि तो अवश्य कर रहा था, लेकिन साथ-साथ इनके स्वाभिमान के ऊपर कुठाराघात भी कर रहा था। अभिमान और स्वाभिमान के बीच एक ऐसी सूक्ष्म-सी सीमा-रेखा है जिसको न देख पाने के कारण हम अभिमान को ही स्वाभिमान मान बैठते है। स्वाभिमानी अपनी आत्मा का पुजारी होता है, और उसकी रक्षार्थ बडे-से-वडा त्याग करने को भी सदा प्रस्तुत रहता हे, जवकि अभिमानी व्यक्ति अपने सासारिक वैभव के घमड में दूसरो को हेय दृष्टि से देखता है, और अपने अहकार पर जरा-सा भी व्याघात पाते ही प्रतिशोध लेने को उतारू हो जाता है। स्वाभिमान के प्रतीक राणा प्रताप और महात्मा गाँधी है, तो अभिमान के पुतले है राजा मानसिंह और आज के अधिकाश नेतागण।

तो ब्राह्मण-वर्ग अब तक अपना स्वाभिमान खो चुका था। जब मस्तिष्क काम करने से इकार कर देता है, तो सारे अग बेकाबू हो जाते है, जिसको हम पागलपन की सज्ञा देकर सतोष कर लेते है। इस समय हमारी वर्ण-व्यवस्था की यही हालत हो चली थी, और एक वर्ण की दूसरे वर्ण के साथ सहयोग व हमदर्दी की भावना नही रह गई थी। जाति-भेद ने यहाँ एक अजीव-सी शक्ल अख्तियार कर ली थी, और प्रत्येक जाति अपने-आपमे स्वाभिमान के झूठे अहकार का अनुभव कर रही थी।

ऐसी विषम स्थिति के समय दुर्देव की प्रेरणा से बावर का इस महान पवित्र भारत भूमि पर पदार्पण हुआ। राणा साँगा को अकेले ही इससे लोहा लेना पडा। फलस्वरूप, राणा की हार हुई। बावर की जीत।

बावर के बाद हुमायूँ। हुमायूँ के बाद अकवर ने भारतवर्ष के ऊपर अपना अखाडा जमा लिया। अकवर कूटनीति मे निपुण था। अँग्रेजी के इतिहास-लेखक इसको 'अकवर दि ग्रेट' कहकर सबोधित करते है। चाणक्य की कूटनीति का महामत्र कहाँ से इसके हाथ लग गया था, हम लिखने में असमर्थ है। इसके पहले जितने भी राज-लुटेरे आये थे, यह गुण उनमे से किसी मे भी परिलक्षित नही हुआ था। 'डाइन' के ढाई अक्षर के मत्र के समान ही सबल, अमोघ और अचूक यह मत्र था चार शब्दो का—साम, दाम, दण्ड, भेद। अकवर ने कूटनीति के इन अमोघ आयुधो के आधार पर अपने स्वभाव को ढाल लिया था। जब इसका साम्राज्य चारो तरफ फैल गया, तो उसकी नीव को मजबूत बनाने के लिए यह उस क्षात्र-शक्ति को पराभूत करना चाहता था जो जब चाहे इसके साम्राज्य की नीव को जड से हिलाकर इसे भस्मीभूत कर सकती थी। यह पानीपत की उस लडाई को भूल न पाया था जिसमें इसके दादा को राणा साँगा की क्षात्र-शक्ति ने अपने दो-दो हाथ दिखाये थे। वह शक्ति थी राजस्थान के हाडो की, राठौडो की, और राणाओ की। यह शक्ति विकेन्द्रित थी। अकवर को भय था कि अगर यह शक्ति कभी केन्द्रीभूत हो गयी, तो उसका पत्ता कटते देर न लगेगी। इसने पहले साम-रूपी अस्त्र का प्रयोग किया, और वह अस्त्र फेंका जयपुर राज्य के ऊपर। अकवर ने वहाँ के महाराजा मानसिंह की फूफी जोधाबाई को डोले में बैठाकर अपने पास मँगा लिया और उसको अपनी बेगम बना लिया। इस क्षत्राणी ने पहले-पहल जरूर आना-कानी की होगी, लेकिन विपरीत परिस्थितियो से अभिभूत होकर इसे अकवर के हाथो में समर्पण कर देना पडा। यहाँ अकवर ने एक अचूक चाल चली जो हिन्दुओ के दिल में घर कर गई, और यह

उनका विश्वासपात्र बन बैठा। इसने जोधाबाई को मुसलमान न बनाकर हिन्दू रमणी बनी रहने दिया। यह हिन्दू रमणी प्रात काल जमुनाजी मे स्नान करके अपने मन्दिर मे पूजा कर सके, इसके लिए अकबर ने अपने किले से जमुना तक एक रास्ता बनवा दिया, और किले मे एक मन्दिर भगवान कृष्ण का। जोधाबाई जब पूजा कर चुकती, तो यह पहला व्यक्ति होता जिसको चरणामृत और प्रसादी देकर वे धन्य होती। इस व्यवहार के माध्यम से इसने हिन्दुओ के हृदय को जीत लिया। मुल्ले इससे चिढ गये, क्योकि वे इस चाल की तह तक न पहुँच सके। वे कैसे जान सकते थे कि अकबर को तो प्रत्येक रात्रि में एक क्षत्राणी के साथ सहवास करना था, और क्षत्रियो की छाती पर मूँग दलने थे, और इस तरह उनकी कमर तोडनी थी। किसी जाति का जब स्वाभिमान नष्ट हो जाता है, तो वह जाति मुर्दा हो जाती है। अगर यह जोधाबाई को मुसलमान बना लेता, तो हिन्दुओ एव राजपूतो की नजर मे बात इतनी ही होकर रह जाती कि क्षत्रिय जाति की एक रमणी किसी भी कारण से मुसलमानिन बन गई, लेकिन इसको तो क्षत्रियो से अपना नाता जारी रखना था। मानसिह को अपनी फौज का सिपह-सालार बनाकर इसने अपने अभिमान मे चार चाँद लगा लिये थे। सलीम यानी जहाँगीर जब उसको मामा कहकर पुकारता, तो यह गौरवान्वित अनुभव करता, और गर्व से इसकी गर्दन और अकड जाती। उधर बुआ के नाते राजमहल में मानसिंह का भी पूरा दबदबा जम चुका था, और वह अकबर का एक अन्तरग सलाहकार बन बैठा। अब तो वह गर्व मे चूर था। उसको अब यह कैसे बर्दाश्त होता कि कोई भी राजपूत उसकी काली करतूत के ऊपर किसी प्रकार का छीटा डाल दे!

धीरे-धीरे सारे ही राजा साम, दाम, दण्ड और भेद के द्वारा अकबर की शरणागति में आ गये। खूँखार-से-खूँखार जंगली जानवर और भयंकर विषाक्त सर्प भी भय से भाग खडे होते है। फिर ये तो आखिर मनुष्य ही थे, जो अपनी वर्ण-व्यवस्था से च्युत होने के कारण और पारस्परिक डाह के कारण कमजोर भी हो चले थे।

अकबर के सरताज में अब केवल एक काणा हीरा उसके ताज की आभा को फीका किये हुए था—वह था वीर, धीर, यशस्वी, आर्य जाति का सच्चा प्रति-निधि राणा प्रताप! घर का भेदी लका ढावे! विभीषण ही तो रावण के सर्वनाश का कारण बना था। जयचन्द ने ही तो चौहान-शिरोमणि महाराजा पृथ्वीराज को एक मुसलमान के हाथों जजीर से जकडवा दिया था। उन्ही रत्नो में से एक रत्न थे हमारे ये महाराजा मानसिंह! यह भली-भाँति जानता

था कि महाराणा प्रताप ही एक ऐसा व्यक्ति है जो उसको हेय दृष्टि से देखता है। अपने हृदय की क्रोधाग्नि से वह इस सुरत्न को भस्मीभूत करना चाहता था। यह उससे जा भिडा। दोनों में भिडन्त हुई। राणा प्रताप ने अपनी वीरता से मुगल सेना के दाँत खट्टे कर दिये, लेकिन कहाँ उदयपुर का एक छोटा-सा राज और कहाँ अकबर के साम्राज्य की महान शक्ति। दोनों में बेजोड की टक्कर थी। परिणामस्वरूप, महाराणा को अठारह साल जगल की खाक छाननी पडी। उसके बच्चे जगली अन्न एवं यहाँ तक कि घास की रोटी के लिए भी तरसते रहे, फिर भी वह रण-बाँकुरा वीर क्षत्री, जिसकी धमनियो में विशुद्ध आर्य रक्त प्रवाहित हो रहा था, इनके सामने घुटने टेकने को तैयार नहीं हुआ।

मानसिंह राणा प्रताप को जीतने में असफल रहा, लेकिन अन्य राजा लोग प्रभा-हत हो चुके थे। उनको लडाइयाँ नही लडनी पडी, और उनके जीवन से सघर्ष जाता रहा। वे अकबर की छत्र-छाया मे सुख की नीद सोने के अभ्यस्त हो चले थे। देर तक नीद में सोते रहना तामस गुण का लक्षण है, और यह किसी को भी पतनोन्मुख कर देता है।

अपने महल में प्रतिवर्ष नौरोज के मेले का आयोजन भी अकबर की एक बडी कूटनीतिक चाल थी। इनसे उसकी कामुकता की तृप्ति तो होती ही थी, साथ-साथ यह क्षात्र-धर्म के स्वाभिमान पर भी एक बडा भारी कुठाराघात था। प्रात-स्मरणीय वह क्षत्राणी धन्य है जिसने इस दुष्ट की उस चाल को निष्फल कर दिया, और इसे वह कटु पाठ पढाया जिसे यह जीवनपर्यन्त नही भूल सका। वह क्षत्राणी बीकानेर की महारानी थी।

राजस्थान की क्षत्राणियाँ अपने सतीत्व की रक्षा के लिए अग्नि के अक में भी हँसते-हँसते कूद पडती थी। जब अलाउद्दीन खिलजी ने पद्मिनी को प्राप्त करने के लिए चित्तौडगढ पर धावा बोला था, तो गढ के अन्दर रहनेवाली सारी क्षत्राणियाँ अपने सतीत्व की रक्षार्थ जौहर का खेल खेल गई थी। यह भारतीय इतिहास की वह अनूठी घटना है जो ससार के इतिहास में और कही ढूँढे भी नहीं मिल सकती। सिर्फ भारत भूमि ही ऐसी देवियो का प्रजनन करने में समर्थ है, अन्य भूखण्ड नही।

अकबर ने दीने-इलाही धर्म चलाने की भी एक चाल चली थी। मुल्ले इसकी चाल को नही समझ सके, इसलिए इससे सहमत नही हुए। अगर उसकी यह चाल भी सफल हो जाती, तो भगवान जानें, आज हम किस नाम से पुकारे जाते।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी के कर्मचारी होने के अहकार ने इनको अपने चगुल मे अच्छी तरह से जकड लिया, और जनता एव अँग्रेजो के बीच में यह जाति एक लायसन आफिसर का काम करने लग गई।

इधर डॉक्टर, वकील, बैरिस्टर की खेती जोरो से होने लगी, और उनका कार्य-क्षेत्र अक्षुण्ण बना रहने के कारण बंगाली जनता, या कहें, बगाली दिमाग इधर बेताबी से झुक गया। व्यापार-धन्धे से धीरे-धीरे यह जाति उदासीन हो चली। जब दिमागी ताकत से जीवन में सफलता मिलने लग जाती है, तो वह दिमागी ताकत उस कार्य की तरफ हेय दृष्टि से देखने लगती है, जिसमें शारीरिक परिश्रम ज्यादा करना पडता हे।

इसके साथ-साथ अँग्रेजो ने कुटीर उद्योगो का भी सफाया कर दिया। वे जुलाहे, जो अपने अँगूठे के नाखून के द्वारा ढाकाई मलमल के मकडी के जाले के तन्तुओ से भी बारीक तन्तु पैदा करने मे समर्थ थे, उनके अँगूठे कटवाकर उन्हे निष्क्रिय कर दिया गया।

इस सम्बन्ध मे यहाँ एक उदाहरण देना अप्रासगिक नही होगा। एक दफा औरगजेब की लडकी उसके सामने आई, तो औरगजेब ने उससे कहा, 'तुमने इतनी निर्लज्जता क्यो अख्तियार कर ली है ?' लडकी ने उत्तर दिया, 'जहाँपनाह, मलमल की सात परत के अन्दर मेरा शरीर ढका हुआ है, उस पर भी मेरे अग-प्रत्यग झलकते नजर आते है, तो इसमें मेरा क्या कसूर है ?'

इस उदाहरण से हम सहज ही अन्दाज लगा सकते है, कि जिस जगह इतनी बारीक मलमल का निर्माण होता था, वहाँ साथ-साथ अन्य भी कितनी सुन्दर, आकर्षक और मूल्यवान चीजें नही बनाई जाती होगी।

आगे चलकर अँग्रेजो ने भूमि की स्थाई व्यवस्था करके अनेक बडे-बडे ताल्लुके-दारो को राजाओ के रूप में जन्म दिया। ये राजा लोग अँग्रेजी सत्ता के स्तम्भ बन गये। इनके द्वारा प्रजा को अपने चगुल में फँसाये रखने के लिए अँग्रेजो को सब तरह की सुविधा मिल गई।

जब इन्होने बगाल मे अच्छी तरह से अपने पैर जमा लिये और अपने प्रभुत्व से यहाँ के वासियो को मत्र-मुग्ध कर लिया, तब इन्होने उत्तर खण्ड की ओर पैर बढाये, और उत्तर प्रदेश के अनेक नवाब, पजाब के महाराजा रणजीतसिंह वगैरह भी धीरे-धीरे इनके शिकार हो गये, और इस तरह अन्त में इन्होने मुगल खान्दान के अन्तिम बादशाह बहादुरशाह 'जफर' को पकडकर बर्मा में पैक कर दिया, और फिर तो सारे भारतवर्ष को ही इन्होने अपने शिकजे में जकड लिया।

राजस्थान के राजा लोग भी इनकी चपेट से बच न पाये। ये तो पहले से ही

अकर्मण्य हो चले थे। अब तो अकर्मण्यता इनके दिल में घर कर गई। अँग्रेजो से इनकी जो सन्धियाँ हुईं, उनके परिणामस्वरूप ये भारतवर्ष में अँग्रेजी साम्राज्य के स्तम्भ बन गये, और अब इनको किसी भी तरह का कोई सघर्ष करने की आवश्यकता न रही, और ये निष्क्रिय हो चले। फलस्वरूप, इनकी प्रवृत्ति सासारिक सुखो के उपभोग तक ही सीमित हो गई। ये अपने आपे को भूल चले। स्वाभिमान इनके दिल से जाता रहा। अलबत्ता अभिमान ने इनका पिण्ड न छोडा। ये अपने स्तर से कितने च्युत हुए, यह यहाँ लिखने का स्थान नही। यह कार्य इतिहास-लेखक का है, न कि हमारा। स्वतत्रता प्राप्त होने के पश्चात् भारतवर्ष के सारे राजा पद-च्युत कर दिये गये। इनके राज्य केन्द्रीय सत्ता के अन्तर्गत मिला लिये गये, और राजस्थान को एक प्रान्त का रूप दे दिया गया।

लेकिन एक बात हम भली-भाँति जानते है कि आर्य जाति का विशुद्ध रक्त भारतवर्ष में यदि आज भी कहीं सुरक्षित है, तो हमारी दृष्टि राजस्थान की क्षत्राणियो की तरफ जाये बिना न रहेगी। दो-एक उदाहरण देकर हम अपने दृष्टिकोण की पुष्टि करेंगे।

एक दफे की बात है कि एक क्षत्रिय सरदार अपनी ससुराल गया हुआ था। इसके और इसकी साली के बीच हँसी-मजाक हो रहा था। यह अपनी साली के भावो को गलत समझ बैठा, और इसने अपनी साली की कलाई पकड ली। वह झटके से अपना हाथ छुडाकर अन्दर से एक नगी तलवार ले आई, और अपने बहनोई के ऊपर प्रहार करनेवाली ही थी, कि उसकी माँ ने उसका हाथ थाम लिया। माँ के समझाने पर उसने अपने बहनोई को तो छोड दिया, लेकिन उस तलवार से अपने उस हाथ को काट डाला, जिसको उसके बहनोई ने स्पर्श कर लिया था—यह कहते हुए कि इस अपवित्र हाथ को अब मेरी देह में रहने का अधिकार नही है !

जब जोधपुर के महाराजा यशवन्तसिंह की रानी को पता चला कि उसका पति काबुल की लडाई से पीठ दिखाकर भागा चला आ रहा है, तो उसने किले के फाटक बन्द करवा दिये, और किले में राजा का प्रवेश निषिद्ध घोषित करवा दिया। जब राजमाता को इस बात का पता चला, तो उन्होने अपनी पुत्र-वधू को बुलाकर कहा, 'मैं भी क्षत्राणी होने के नाते उतनी ही स्वाभिमानी हूँ, जितनी कि तुम। मेरे पुत्र में जो खामी है, उसका कारण मैं समझती हूँ। बेटी, बात यो है कि एक बार मैं पूजा में बैठी हुई थी, और यह एक छोटा-सा शिशु पालने में सो रहा था। इसके पास एक दासी बैठी हुई थी। इसकी आँख खुली, यह कुछ

कुलबुलाने लगा, तो मेरी पूजा मे विघ्न न पड जाये, इस विचार से उस दासी ने अपना स्तन इसको देकर शान्त कर दिया। उस जरा-सी भूल का ही यह दुष्परिणाम है। खैर, इसका इलाज मैं कर दूंगी।'

राजमाता ने एक कढाही और कौचा मँगवाकर अपने पार्श्व के स्थान में रखवा लिया, और दासियो से कह दिया कि जब राजा मेरे चरण स्पर्श करने के लिए आये, तब तुम लोग कढाही में कौचा जोर-जोर से चलाना, और उस समय तक चलाती चली जाना, जब तक कि मैं तुम्हे मना न कर दूँ।

राजा ने किले मे प्रवेश किया। नियमानुसार पहले यह अपनी माता के गृह में गया और इसने माता का चरण स्पर्श किया। कढाही मे कौचा जोर से चलना शुरू हो गया था। लोहे की टकराहट की कर्कश आवाज राजा को सहन न हो पाई। उसने कहा, 'माता, यह कैसी आवाज है? और क्यो है?' माता ने उत्तर दिया, 'बेटा, यह तो लोहे की आवाज है। क्या तुमको अब लोहे की आवाज से भी नफरत हो गई है? क्या तुम्हारी वीरता लोहे की आवाज भी सहन नही कर सकती?'

राजा को समझने में देर न लगी, और इस लोहे की आवाज के माध्यम से माता का उपदेश हृदयगम कर वह उलटे पैर लौट गया, यहाँ तक कि रानी के कक्ष तक भी नही गया, और इसके बाद सग्राम से विजयी होकर ही लौटा। तब रानी ने बडे सम्मानपूर्वक उसका स्वागत किया। यह थी उस जमाने मे क्षत्राणियो की विचार-धारा।

आज भी यदि यह जाति अपने स्वधर्म को पहचान जाये, और उसके भिन्न-भिन्न पहलुओ को बीज-रूप में दुबारा अपनी मानस-भूमि में बोने लग जाए, तो अतीत काल के क्षत्रियो का कालान्तर के बाद आज भी हम दर्शन करने में सफल हो सकते है। जैसे माली भूमि मे बीज डालने से पहले ऊसर-सी प्रतीत होने-वाली जमीन पर जमी हुई घास और जगली पौधो को उखाडकर उसे उर्वरा बना लेता है, उसी प्रकार यदि हमारे आज के क्षत्रिय भी अपने नैसर्गिक जाति-धर्म के गुणो को अपने अन्दर आत्मसात करके अपना जीवन-यापन शुरू कर दें, तो सफलता इनके चरण चूमे बिना न रहेगी। पहले का क्षत्रिय राजा आज की परिभाषा के अनुसार प्रजा का राजा नही होता था, यानी वह शोषक नही होता था, बल्कि वह होता था प्रजा का रक्षक और सेवक। रक्षक और सेवक को बडा प्रयत्नशील और सामर्थ्यवान होना पडता है। उस समय राज-सत्ता का असली स्वामी था ब्रह्म-तेज। उसीके अकुश के अन्तर्गत इन क्षत्रिय राजाओ द्वारा शासन-

सत्ता का कार्य सचालित होता था। इस क्षत्रिय जाति के गुणो का द्योतक एक अमोघ मत्र हम नीचे उद्धृत करते हैं, यदि उन गुणों की परिधि के अन्दर ये प्रयत्नशील होकर नये सिरे से अपना जीवन ढाल लें, तो आज भी ये सच्चे रक्षक बन सकते है। वह अमोघ मत्र गीता के अध्याय १८ का श्लोक ४३ है, जो इनके जीवन का बीज-मंत्र बनना चाहिए। अगर ऐसा हो जाए, तो आज भी इनके दरवाजे पर विजय-घोष हुए बिना नहीं रहेगा। गीता का वह मत्र इस प्रकार है

शौर्यम् तेजो धृतिर्दाक्ष्यम् युद्धे चाप्य पलायनम्
दानीमीश्वर भावश्च क्षात्रम् कर्म स्वभावजम्।

(शूरवीरता, तेज, धैर्य, अपने कार्य के सम्पादन में सतर्क चातुर्य, युद्ध से न भागने का स्वभाव, दान और शास्त्रानुसार निस्वार्थ भाव से सबके हितार्थ शासन द्वारा प्रजा का पुत्र-तुल्य पालन करने की भावना—ये सब क्षत्रिय के स्वभाविक कर्म अथवा गुण है।)

०

राजस्थान के वैश्य राजस्थान मे उतने ही पुराने है, जितने वहाँ के राजा लोग। ऋषियो द्वारा प्रणीत वर्णाश्रम एक वैज्ञानिक आधार पर अधिष्ठित था। मस्तिष्क और हाथ यदि शरीर के प्रधान एव बलिष्ठ अग हैं, तो उतने ही महत्व का हमारे शरीर का उदर भी है। उदर यदि अपनी क्रियाशीलता में जरा भी शिथिलता ले आये, तो शरीर शिथिल एव निस्तेज हुए बिना नही रहेगा। यदि पैरो की अवस्था में न्यूनता आ जाये, तो सारे शरीर को धराशायी होने में देर न लगेगी। इसी आधार पर श्रीकृष्ण भगवान गीता में कहते है कि सभी वर्ण अपने अन्दर परिपूर्ण है, और इनमें न कोई छोटा है न बडा। यह एक-दूसरे के पूरक है, और प्रत्येक वर्ण अपने स्वभावज गुणो के अनुसार यदि ईमानदारी से अपना कार्य करता चला जाए, तो सभी वर्णों को जीवन के प्रधान लक्ष्य—भगवान—की प्राप्ति हो जायेगी। इस नाते हम किसी को हेय दृष्टि से नही देख सकते। जिस वक्त दूसरे को हेय दृष्टि से देखने की यह भावना हमारे अन्दर घर कर लेती है, उस वक्त समाज की व्यवस्था को बिगडते देर नही लगती। राजस्थान के राजाओ को अपने राज्य के स्थापन में एवं उसको परिपुष्ट करने मे कितने परिश्रम, अध्यवसाय और साहस का प्रयास करना पडा होगा, यह तो आज के राजाओ के पूर्वज ही जानते है। इसी मापदण्ड के अनुसार, जिस जाति ने इस मरुभूमि में

वास करके धन उपार्जित किया होगा, उस जाति के अन्दर अध्यवसाय, अथक परिश्रम, अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए निरन्तर तत्परता, मनोयोग एव मनोबल की कितनी आवश्यकता पडी होगी, आज का अकर्मण्य निठल्ला वर्ग इसका अन्दाज लगा नही सकता। वह वर्ग इस वर्ग को कोस कर अथवा शोषक बोल कर भले ही अपनी तृप्ति कर ले किन्तु यदि वह इसके पथ का अनुगामी बन जाने का प्रयास करता, तो उसको भी उतना ही वैभवशाली बनने का सौभाग्य प्राप्त होता। अगर यह वैश्य-वर्ग कलकत्ता और बम्बई जाने के पहले भी समाज का सम्पन्न एवं परिपुष्ट अग न बन पाया होता, तो राजाओ के साम्राज्य को वहन करने का भार कौन उठाता ? राजा लोग तो व्यवसाय करते नहीं थे, उनको तो दो ही काम थे—बाहर से दुश्मन को न आने देना, और राज्य के अन्दर सुव्यवस्था को अपनी मर्यादा में बनाये रखना। लेकिन पैसा, या यो कहें कि धन-राशि, जीवन-यापन करने के लिए शेष तीनों ही वर्णो को चाहिए थी। महाराणा प्रताप के जमाने में, जबकि कलकत्ता और बम्बई का नामोनिशान नही था, वैश्य जाति कितनी उदार, कितनी धर्म-परायण, स्वामि-भक्त और सब तरह से सम्पन्न हो चली थी, इसका ज्वलन्त एव परिपुष्ट उदाहरण प्रात स्मरणीय भामाशाह हैं। शायद यह तो कोई भी माई का लाल कहने की हिम्मत नहीं करेगा कि भामाशाह ने अपने भाइयो का गला घोटकर उस खून लसी हुई धन-सम्पत्ति से अपने कोष के कक्ष भरे थे। जो पैसा कुकृत्य-कलापों के द्वारा सग्रहीत होता है, उस पैसे का सदुपयोग हो नही पाता। यह प्रकृति का अटल नियम है। अपवादो की बात अलग है, लेकिन अपवाद नियम तो नही बन सकते।

राणा प्रताप ने जब यह घोषणा कर दी कि मेरे सब खजाने खाली हो गये, सेना की रक्षार्थ अब मेरे पास पैसा नहीं है, और वे हताश होकर बैठ गये, तब महान प्रतापी महाराणा के पास जाकर यह पुण्य-श्लोक वैश्य-पुत्र यो बोलने लगा, 'हे महाराणा, यह आप कैसे कहते हैं कि आपके खजाने खाली हो चले है ? अभी आपके पास एक खजाना और है, जो इतना भरपूर है कि आप अपनी सेना का १२ साल तक नि सकोच पालन कर सकते हैं। उस खजाने का रक्षक मात्र यह आपका सेवक आपके समक्ष प्रस्तुत है।'

एक वैश्य के पास करीब ४०० वर्ष पहले इतना भरपूर खजाना था, तो क्या आप यह सोचते है कि सारे राजस्थान में उस समय वह एक ही धनाढ्य वैश्य था ? समुद्र में बडी-बडी उत्ताल तरगें क्या छोटी लहरो के अस्तित्व की द्योतक नही होती ? ये छोटी-छोटी लहरियाँ मिलकर ही उत्ताल तरगें बनती हैं।

भामाशाह की मौजूदगी हमको इस बात का परिचय देती है कि उस समय का वैश्य-वर्ग अपने-अपने राज्यो में काफी परिपुष्ट अङ्ग बन चुका था।

अब यहाँ प्रश्न यह उठता है कि रेगिस्तान मे रहनेवाले वैश्य-वर्ग के पास इतनी भारी सम्पत्ति की राशि आई कहाँ से ? इसका उत्तर यह है कि यह जाति शुरू से ही व्यवसायी थी। अन्य-अन्य प्रदेशो मे और विदेशो में जा-जाकर (विदेशो से हमारा मतलब है भारत के बाहर) यह जाति व्यवसाय के द्वारा वहाँ से धन सचय करके अपने राज्य के सुचारु सचालन के कार्य में लगाने के लिए प्राणपण से प्रयास करती थी। इसीलिए हमने इस जाति के उचित सम्मानार्थ इसे उदार, साहसी, अध्यवसायी आदि विशेषणो के द्वारा सम्बोधित किया है। लेकिन इनके धन से केवल राज-सत्ता के अधिकारी को ही सहायता पहुँचती रहती थी, सो नही है। ब्राह्मण-वर्ग का तो पठन-पाठन, वेदाध्ययन एव शास्त्रीय अध्ययन मे ही जीवन व्यतीत होता था। उनके भोजन की सामग्री आदि की व्यवस्था करनेवाला तो यही सेवक-वर्ग था। यह सेवा करता था ब्राह्मण और क्षत्रिय वर्ग की, और व्यवसायार्थ सहायता लेता था शूद्र-वर्ग से। यह वैश्य-वर्ग इस तथ्य से भली-भाँति परिचित था कि घोडे की मनपसन्द सवारी लेने के लिए घोडे को परिपुष्ट बनाकर रखना अनिवार्य है। इस न्याय से यह शूद्र-वर्ग का भी शोषक नही था। शोषक पनपते नही है, वे एक दिन नाश के कराल गाल मे समाये बिना नही रहते। चारो वर्णो मे आज जीवित अङ्ग यदि कोई बचा हुआ है, तो यही वैश्य-वग है। अन्य तीनो वर्ग समय की चपेट में आकर अपनी धुरी से बहुत दूर भाग निकले है, लेकिन यह कर्तव्य-निष्ठ वर्ग आज भी अपने कर्तव्य के प्रति पूर्णतया जागरूक है। यह वैश्य-वर्ग चाहे किसी भी प्रान्त का हो, इसमें सब जगह एक ही विचार-धारा प्रवाहित होती रहती है—वह यह कि कठोर परिश्रम करके देश को समुन्नत बनाये रखो।

जिस समय ईस्ट इण्डिया कम्पनी बंगाल के वैश्य-वर्ग को अपने कराल मुख के अन्दर हडपती चली जा रही थी, और यहाँ से कच्चा माल अपने देश ले जाकर, उससे बनी हुई चीजो को वापस यही लाकर, और उनको ऊँचे दामो में बेचकर, यहाँ की अगाध धन-सम्पत्ति को ढोये चली जा रही थी, तो इसी राजस्थान के वैश्य-वर्ग ने आकर उस विनाशकारी लीला पर रोक-थाम लगाई। व्यवसाय-कुशल, कुशाग्र बुद्धि, परिश्रम के धनी, सत्य व्यवहार-रत, परहित-सलग्न इस जाति ने अपने पैर जमाये, और उस विनाशकारी प्रवाह में एक जबर्दस्त बाँध का काम किया। जब अँग्रेज लोग यहाँ की धन-राशि को दानवी ढंग के अत्या-

चारो द्वारा जहाजो में ढो-ढोकर अपने देश ले जा रहे थे, उस समय यदि उनके बराबर की जोडी रणागण मे नही उतरती, तो आज गगनचुम्बी महलो से जडित इस कलकत्ते का क्या रूप रहा होता, यह मनुष्य की कल्पना के बाहर की चीज है। देश के एक इतने परिपुष्ट अङ्ग की अवहेलना करके यदि किसी अन्य वर्ग को सतोप मिलता हो, और उसे लाभ पहुँचता हो, तो हम उसके सतोप में कदापि बाधक बनना पसन्द न करेंगे। लेकिन वह वर्ग इस बात को न भूले कि पेट खाली होने से दूसरे अङ्ग शिथिल हुए बिना नही रहते। अपने पेट पर लात मारना बुद्धिमत्ता नही है। यदि राजस्थान का वैश्य-वर्ग ठीक समय पर बगाल में नहीं आता, तो इस प्रान्त का भी वही हाल होकर रहता, जो आज हम गोवा का देखते है। अगर गोवा के अन्दर भी वैश्य-वर्ग पहुँच गया होता, तो गोवा भी आज उतना ही समृद्ध और सम्पन्न दृष्टिगोचर होता, जितना कि बम्बई और कलकत्ता। आज बडे-बडे बॅरिस्टर, वकील, डॉक्टर एव इंजीनियर इसी वर्ग द्वारा उपार्जित सम्पत्ति में अपनी-अपनी योग्यतानुसार हिस्सा बँटाकर पनप रहे है।

एक दिन एक बगाली आफिसर कार्यवश मेरी कोलियरी पर आया हुआ था। मध्याह्न हो चला था। सौजन्यता के नाते मैं उनको साथ लेकर भोजन करने बैठा। भोजन के पश्चात् उन्होने मुझसे एक प्रश्न किया। प्रश्न देखने मे सीधा था लेकिन उसकी तह में कटुता थी। उनका प्रश्न था, 'मि० गोयनका, मनी मिंटिंग की क्या विधा (टेकनीक) है, अगर बता दो, तो मैं आपका बडा उपकार मानूँगा।'

मैंने विनम्रतापूर्वक उत्तर दिया, 'हम कोई इंजीनियर या टैकनीशियन तो है नही, कि अपनी सफलता के रहस्य को बताने से कमजोर या असफल हो जायेंगे। पैसे कमाने की हमारी विधि तो सर्वविदित है। वह विधि है—अथक परिश्रम। इसके अलावा दूसरी कोई बात है नही। आप तो हम लोगो के लिए कहते ही आये है कि हम लोटा-कम्बल लेकर आये थे तो वह आदमी एक अनजान देश मे आकर इतना सुसम्पन्न कैसे हो गया? इसका सीधा-सा उत्तर यही है—अथक परिश्रम। आपके सामने, आपके प्रान्त मे, आपके लिए, आपके मिनिस्टर ने सेन्टर के ऊपर प्रभाव डालकर एक स्टील फैक्टरी बैठाई। फैक्टरी के बैठाने मे करोडो-करोडो रुपये लगे। उस अपरिमेय राशि का कितना भाग आप ले सके—जरा बताइये तो? भूमि आपकी, रुपया आपका, दिमाग आपका, फिर भी आप उसका लाभ नही उठा सके। ५० प्रतिशत विदेशो से मशीनरी खरीदने में लग गया होगा। फैक्टरी के बैठाने में, मकानात बनाने में, सडको के निर्माण में जो

शेष राशि लगी उसका बडा भाग पजाबी-वर्ग ले गया, क्योकि उस पजाबी-वर्ग के अन्दर अथक परिश्रम करने की शक्ति थी। आप अपने शरीर से परिश्रम लेने में डरते है। यदि उस पंजाबी-वर्ग को गाली देकर ठण्डी साँस लेने मे आपको सतोष होता है, तो होने दें।

'आप जरा बडाबाजार में जाकर वहाँ के मकानात की ईंटो से पूछो, कि तुमको इस जगह इस रूप में लानेवाला कौन था ? तो वे बेचारी मूक ईंटें मुखरित होकर अवश्य यही कहेंगी कि हमारा लानेवाला अथक परिश्रमी था, और वह सवेरे के ६ बजे से लेकर रात के २ बजे तक निरन्तर काम करता रहता था।··· जब कि महाशय, आपके पूर्वज उस समय सितार और सारगी और पायल की झकार के अन्दर आँखो में सुरूर भरे हुए झूमते रहते थे। आप ही कहिये, इसमें हमारा क्या दोष है ? परिश्रम करके जीने का प्रत्येक प्राणी मात्र को अधिकार है। यह हमारी जाति का सहज स्वभावज गुण है। आपमें केवल मानसिक तेजी है, लेकिन हम मानसिक और शारीरिक शक्तियो का समन्वय करते है। मैं आपसे पूछता हूँ, क्या बगाल में वैश्य-वर्ग नही था, और क्या आज भी नही है ? और जहाँ कही भी यह वैश्य-वर्ग है, सब जगह यह उसी पथ का अनुगामी है, जिस पथ के कि हम है।

'इस सम्बन्ध में मैं आपको अपना एक अनुभव सुनाता हूँ। मैं एक दफा एक घाँटी की दुकान पर कपडे खरीद रहा था। मुझे जो व्यक्ति कपडा दिखा रहा था, उसको मैं कर्मचारी समझे हुए था। इतने में मेरा लडका भी वहाँ आ पहुँचा। इन दोनो का पहले से परिचय था। वर्तालाप के ढग से मुझे तनिक भी देर न लगी यह पहचानने में, कि यह मालिक का लडका है, जबकि इसके और इसके कर्मचारियो के परिधान में कोई भी फर्क नही था। अगर इसके कर्मचारी खडे-खडे व्यापारियो को कपडा दे रहे थे, तो यह भी पैरो पर ही खडा हुआ कपडा विक्री में सलग्न था। व्यापारी-वर्ग की दो परिपाटी नही हुआ करती। इसके कर्मचारी और इसमें इतना ही फर्क था कि लाखो की कीमत का कपडा इसका था, लाखो की लागत की इमारत इसकी थी, लाखो की लागत के रहने के मकान इसके थे, और यह भी अपने कर्मचारियो को उतना ही देता था जितना कि और-और व्यापारी अपने कर्मचारियो को देते है। हमारे यहाँ कार्यकर्ताओ मे ज्यादातर बगाली होते है, आप अपने यहाँ शर्त लगाने पर भी एक मारवाडी कर्मचारी नही दिखा सकते। इस वार्तालाप का तथ्य इतना ही है कि जो कोई भी वर्ग मानसिक और शारीरिक शक्तियो का समन्वय करके चलता है, वह सम्पन्न हुए बिना नही रहता। आपके यहाँ एक उच्चकोटि का वैरिस्टर एक-एक पेशी

का ढाई-ढाई तीन-तीन हजार रुपये रोज का ले लेता है, आपके यहाँ का अनुभवी डॉक्टर ६४ रुपये फीस के विना वात नही करता, लेकिन हम कभी भी उनको अनुदार, शोषक, वेरहम, हृदयहीन आदि शब्दों मे सम्बोधित नही करते। हम उनके गुणो की प्रशसा करते है, और उनके मनोयोग की विकसित शक्ति के ऊपर मुग्ध होकर फूले नही समाते।

'हमने कभी इस वात से इकार नही किया कि हिन्दू सभ्यता का समुन्नत रूप भारतवर्ष में यदि कही देखने को मिलता है, तो वह प्रदेश बंगाल है। यहाँ की भाषा कितनी समुन्नत, कितनी मीठी, शिष्टता एव अपनत्व से कितनी भरी हुई है। पचास वर्ष पहले, अपने प्रथम बार कलकत्ता आगमन पर, जब मैंने इस महानगर की सडको पर चलते-फिरते समय यहाँ की महिलाओ का दर्शन किया, तो मेरे हृदय मे उनके प्रति भक्ति का सचार होता, और मैं सोचा करता कि क्या यह प्रदेश देवियो का निवास-स्थान है ? उनकी मुखाकृति पर एक ऐसी आभा खेलती रहती थी, जिसके दर्शन मात्र से मन में उनके प्रति श्रद्धा का सचार होने लगता। राजस्थान में अपने विद्यार्थी-जीवन में जव हम यहाँ के स्वनामधन्य राजा राम-मोहन राय, विद्यासागर, गुरुदास वनर्जी, आशुतोष मुखर्जी, रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द, अरविन्द घोष और महाकवि रवीन्द्रनाथ टैगोर के बारे में पढते, तो हमारा हृदय इनके ऊपर गर्व से भर उठता। जव हमको स्कूल में वन्दे मातरम् का गीत पढाया जाता, और हम यह पक्ति पढते कि हे माता, तैंतीस करोड तेरे मस्तिष्क हैं, और करोडो-करोडो तेरे हाथ विकराल खग लिये हुए है, तो भारतवर्ष की एकता का यह सारभूत मत्र मनोभाव के किस उच्च स्तर पर हमको ले जाता, आज मैं उस भावना को व्यक्त करने में स्वय को असमर्थ पाता हूँ। जब वगाल का शिक्षित-वर्ग हमारे स्कूलो और कॉलेजो को अपने उदार गुणों से सुशोभित करता था, तो हम फूले न समाते थे। हमारे समय में अजमेर में कॉलेज के एक प्रोफेसर थे वावू विनोदीलाल मुखर्जी। उनको अजमेर का शिक्षित-वर्ग ऋषि बोलकर सबोधित करता था, और वे थे भी ऋषि ही। जब वे हमारे स्कूल के हेडमास्टर हुए, तब मुझे उनके सानिध्य में मैट्रिक तक शिक्षा प्राप्त करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। आज वह महान् आत्मा इस धरातल से लुप्त है, लेकिन मेरे हृदयाकाश में वह आज भी उसी भाँति अकित है, जिस भाँति मैंने उनको कभी साकार रूप में देखा था। वस्तुत प्रान्तीयता के भूत की सृष्टि बंगाल में विलकुल आधुनिक युग की देन है। जब हम प्रथम बार इस वंग देश में आये थे, तो इसने हमारा सहर्ष स्वागत किया था। फलस्वरूप हमने भी इस भूमि को अपना ही स्थान समझा, हम यही बस गये, और हमारी उपार्जित पूँजी यही के

उद्योग-धधों को वृद्धि मे लगते रहो। हम अपनी उपार्जित पूँजी को राजस्थान मे नहीं ले गये। इसी कारण आज भी राजस्थान इतना पिछड़ा हुआ, गरीब और उद्योग-धघो से रहित है। हमारे अन्दर प्रान्तीयता की भावना आती ही कहाँ से ? हम तो सम्पूर्ण भारतवर्ष को ही अपनी भूमि समझे हुए थे। भारतवर्ष का ऐसा कौन-सा कोना है, जहाँ हम नही पहुँचे, और हमने उद्योग-धघो के द्वारा उसे समुन्नत नही किया, और उसको हमने अपनी ही भूमि नहीं माना ?'

यह बंगाली महाशय मेरे अभिन्न मित्र बन गये, और प्राय ही सध्याकाल में अपना समय बिताने के लिए या तो स्वय मेरे पास चले आते, या किसी कार्य के बहाने मुझे अपने पास बुला लेते। आगे चलकर, ये अपने कार्य-कलापो के सिलसिले में समय-समय पर मेरी सम्मति लेने में भी न हिचकते। वार्तालाप के दौरान एक दिन ये पूछ बैठे, 'आप अथक परिश्रम का इतना गुण गाते है, आज कोई अच्छी मिसाल देकर इस विषय का भली-भाँति प्रतिपादन करें।'

मैंने उत्तर दिया, 'मैं आपकी बात का तात्पर्य भली प्रकार समझ गया। शायद आप अवश्य ही आपस में बात करते होंगे, कि फलाँ आदमी कल तक तो ठेले पर फेरी करता था, और आज दुकान में गद्दी लगाये और तोद फुलाये, गगनचुम्बी अट्टालिकायें बना रहा है। लेकिन महाशय, आपस में आपने यह विचार-विमर्ष कदापि न किया होगा, कि जरा चलकर इसकी जीवनचर्या की छोटी-सी, धीमी-सी, हल्की-सी झाँकी तो ले लें। फेरी करनेवाला अमूमन बाजार खुलते-खुलते भोर में सात बजे घर से निकल जाता है, इसलिए निश्चय ही वह पाँच-छह बजे उठा होगा। दिन भर अथक परिश्रम करके सध्या की काली वेला में वह अपनी कुटिया में पहुँचकर, चूल्हा जलाकर, दाल-रोटी बनाता है। यदि वह अपनी दिन-भर की कमाई को सफेदपोशी और सेन्टेड ऑयल और खुशनुमा सेन्ट के ऊपर खर्च कर देता, और थोड़े-से बचे हुए रुपयो को मिठाई या सिनेमा में उडा देता, तो धीरे-धीरे उसका ठेला भारी कैसे हो पाता ? जिस आदत को आप कंजूसी शब्द से संबोधित करते है, वही वृत्ति तो आगे चलकर उसके व्यापक व्यवसाय-क्षेत्र की आधार-शिला बन जाती है। इस वृत्ति के दो रूप है। एक निगेटिव, दूसरा पोजीटिव। निगेटिव वृत्ति को अपनानेवाला 'यह चाहिए, वह चाहिए' की धुन में लगा रहता है, और पोजीटिव पहलू को अपनाने-वाला एक ही धुन में मस्त रहता है—'मुझे कुछ न चाहिए, सिर्फ रोटी और नमक चाहिए।' पहली वृत्ति मनुष्य को पस्त बनाये रखती है, और उसकी उन्नति में बडी बाधक होती है, जबकि पोजीटिव वृत्ति मनुष्य की उन्नति में उसे

अलौकिक शक्ति प्रदान करती है। इस पोजीटिव वृत्ति के अन्दर छिपा हुआ राज यह है कि हलकी वस्तुओ मे आकर्षण कम होता है, गुरु वस्तुओ में अधिक। उदाहरणार्थ, सिर्फ एक पैसा पैसे को नही कमा सकता, एक रुपया चन्द पैसे कमा सकता है, दस रुपये एक-दो रुपये तक कमा सकते है, सौ रुपये की पूँजी दस-बीस रुपये कमाने मे सामर्थ्यवान हो सकती है, हजार रुपयो मे सौ रुपयो से अधिक कमाने की शक्ति निहित रहती है, लाख रुपयों मे हजारो रुपये कमाने की शक्ति आ जाती है, करोड रुपयो की लागत के व्यापार व उद्योग-धन्धों से लाखो-करोडो रुपये कमाये जा सकते है। पूँजीवाद का यही रहस्य है। जो मनुष्य बचत के द्वारा अपनी छोटी पूँजी को भारी नही कर पाता, वह पूँजीपति होने का अधिकारी नही बन सकता। दो-चार किताबो का पढा-लिखा भले ही थोडा-बहुत लिखने-पढने का काम कर ले, लेकिन गूढ किताबो को समझने में वह सदा असमर्थ रहेगा। लेकिन अगर उसके पढने का अभ्यास बढता जायेगा, तो एक दिन वह विद्वान होकर ही रहेगा। पूँजी और ज्ञान के अर्जन का यही राज है।

'बिना त्याग के कोई व्यक्ति व समाज बलिष्ठ नही हो सकता। शरीर को ही ले लीजिये। बिना त्याग के क्या वह जीवित रह सकता है ? लेकिन त्याग वही कर सकता है, जो सग्रह कर पाता है। अपरिग्रह वृत्ति सिद्ध हो पाती है परिग्रह के बाद ही। जो व्यक्ति परिग्रह नही कर सकता, वह अपरिग्रह का आनन्द कैसे लूट सकता है ? वेदो ने भी हमारे उक्त विचारो की ही पुष्टि की है। वे कहते है, 'वैश्य की उत्पत्ति भगवान के उदर से है।' उदर का कार्य-सचालन नितान्त अप्रत्यक्ष रूप से होता है। इस कारण अन्य अंगो को इससे ईर्ष्या होती है—पैर कहते है, यदि हम जाकर खाद्य-सामग्री जुटाने मे अपना हाथ न बँटाते···हाथ बोलते है, यदि हम सुस्वादु भोजन तैयार न करते··मुख बोलने लगता है, इसको भली-भाँति चबाकर, हे उदर, यदि मैं तुमको भोजन न पहुँचाता, तो तुम कहाँ के रहते—बताओ ? इन अवयवो को पता ही नही कि वह बिचारा उदर ही है जो इन स्थूल पदार्थों में से रस खीचकर सारे अवयवो की रक्षार्थ उनके पास पहुँचा देता है, और बची-खुची छूँछ बाहर फेंक देता है। ऐसे उदर से यदि सारे अवयव लड मरें, तो क्या ये अपनी कजा को नही बुला रहे ? यदि किसान या सारे-का-सारा जन-समुदाय सावन के बादलो को कोसने बैठ जाए, और प्रबल प्रभजन से उनको उडा देने की कामना करने लग जाए, तो फलस्वरूप क्या द्रुतगामिनी मृत्यु को उनके सिर पर ताण्डव करने में कोई रोक सकेगा ? आखिर ये बादल आये कहाँ से ? सूर्य की तप्त किरणो के माध्यम से ही तो। देखने में तो ये किरणें शोषक लगती है, लेकिन वस्तुत. सावन के बादलो की जन्म-दात्री

यही तो है। ये किरणें जहाँ कही पडती हैं—चाहे खारे समुद्र पर, चाहे नदी के गँदले पानी पर, चाहे दलदली भूमि पर—इनका उद्देश्य एक ही होता है कि पानी को विशुद्ध रूप में सोखकर उसे बादल का रूप दे दें, और यथा-समय यथा-स्थान जन-कल्याण के हेतु बरसा दें। इन किरणों को चाहे शोषक कहें, चाहे प्राणदा। यह मनुष्य के दृष्टिकोण पर निर्भर करेगा।'

उक्त मित्र एक दिन मुझसे कहने लगे, 'यो तो हम लोग दुनिया-जहान की बातें करते रहते है, लेकिन आज कम्यूनिज्म और सोशलिज्म के बारे मे आपका दृष्टिकोण जानने की बडी इच्छा हो रही है।'

मैंने उत्तर दिया, 'यह प्रश्न कठिन और गभीर है। साधारणत लोग इसकी तह तक नही पहुँच पाते। इसका असली तात्पर्य है—एक 'ईगलिटेरियन'—यानी समाज के सारे व्यक्ति समान स्तर पर जीवन-यापन कर सकें ऐसे—समाज का निर्माण। ये चीजें कहने में तो सुगम है, लेकिन इनको कार्यान्वित करने में कहाँ तक सफलता मिलेगी, यह भविष्य की बात है। जहाँ-जहाँ इस विचारधारा ने अपना आधिपत्य जमाया, वह बाहरवालो को तो चकित करने में समर्थ रही, लेकिन वहाँ के मनुष्यो की अन्दरूनी स्थिति बडी दयनीय और सोचनीय है। वहाँ भी एक बलिष्ठ अग दूसरे कमजोर अग को अभिभूत किये हुए है। इसके अलावा, ऐसी बात भी नही है कि हमारे लिए साम्यवाद कोई नई बात हो। हमारे ऋषियो ने इस विषय पर गहराई से विचार किया था, और एक ही मत्र के द्वारा इसकी अकाट्य रूपरेखा बतला दी थी। वह है ईशोपनिषद का पहला मत्र जिसको महात्मा गाँधी ने आर्य जाति का सारभूत कहा है। यह मत्र कहता है कि कोई भी वस्तु ऐसी नही है जो ईश से रहित हो, न कोई ऐसा पदार्थ है जो उसका दिया हुआ न हो। इसलिए प्रत्येक मनुष्य को चाहिए कि उसके दिये हुए को भोगे, लेकिन दूसरे के हिस्से की तरफ गिद्ध-दृष्टि न डाले। लेकिन इस सिद्धान्त को जीवन में उतार लेना सहज काम नही है। हम दूसरो को कहते हुए पाते है—यह करो, वह करो, लेकिन देखने में यही आता है कि स्वयं उपदेशक अपने उपदेश से बहुत दूर रहता है। पर उपदेश कुशल बहु तेरे। चिराग अपने प्रकाश के द्वारा चारो तरफ के अधकार को तो मिटा देता है, लेकिन उसके तले अधकार बना रहता है। जिस मतव्य में हिंसा की भावना भरी हो, वह मतव्य हमारे अनुकूल नही पड सकता। कारण, हमारा धर्म सत्य और अहिंसा पर अधिष्ठित रहने का उपदेश देता है, और यह भावना हमारे हृदय में न्यूनाधिक घर किये हुए है। जिस सुख और शान्ति से हम जीवित रहते चले आये है, वह

सुख और शान्ति अन्य देशो को उपलब्ध नहीं है। उनकी भौतिक उन्नति की चमचमाहट चाहे हमारी आँखो मे चकाचौध पैदा कर दे, लेकिन वे देश जीवन के तात्विक सुख से बहुत दूर है।

'जैसे सृष्टि के अन्दर नानाप्रकार के रंग-विरगे पशु-पक्षी, कीट-पतग दृष्टि-गोचर होते है, उसी प्रकार मनुष्य भी नानाप्रकार के भावो से सयुक्त नानाप्रकार की आकृति का होता है। किसी की आकृति बडी सौम्य, बडी मीठी और बडी आकर्पक होती है, तो किसी की रौद्र भाव लिए हिंसक वृत्ति की द्योतक होती है। इसी प्रकार निम्न-वर्ग, मध्य-वर्ग व उच्च-वर्ग एक ही सद् भावना से अथवा एक ही क्रूर भावना से अनुप्रेरित नही होते। साधारणत मनुष्य मे इन भावनाओ का मिश्रीकरण ही दृष्टिगोचर होता है। यही बात व्यापारी-वर्ग पर लागू होती है। विश्व भर मे व्यापारो-वर्ग प्राय दो वर्गो में बँटा हुआ पाया जाता है। एक तो वह जो अपने लिए ही जीता है, इनका जीवन खाओ, पीओ और मौज करो तक सीमित रहता है, और केवल शर्मा-हुजूरीवश ये अपनी पूँजी का थोडा-बहुत अश धर्मार्थ में लगाते रहते है। दूसरा वर्ग वह है जो अपनो पूँजी का एक अच्छा-खासा अंश परहितार्थ व्यय करने मे सुख का अनुभव करता है। ज्यो-ज्यो जीवन की परिस्थिति बदलती जाती है, त्यो-त्यों जीवन-यापन का माध्यम भी बदलता जाता है। प्रकृति का यह अनिवार्य नियम है। उदाहरणार्थ, प्राइमरी स्कूल और कॉलेज की इमारतें समान नही हो सकती। विश्वविद्यालय का कार्य-सचालन साधारण स्कूल के मकान में साधारण अध्यापको द्वारा सचालित नही हो सकता। माध्यम को देखकर हमे चौकना नही चाहिए। हमको तो यह देखना है कि उस माध्यम के द्वारा काम कितना होता है। जहाँ बडी-बडी नदियो से बडे-बडे शहरो के लिए पानी लाया जाता हे, वहाँ छोटे व्यास के पाइप काम नही कर सकते। वहाँ तो चार फुट व्यास के पाइप ही काम देते है। ये देखने मे महाकाय होते है, और इन पाइपो को बडा मजबूत बनाना होता है। कमजोर पाइप पानो के प्रवाह के सामने टिक नही सकते। इसलिए माध्यम को दृढ बनना ही पडेगा। उस माध्यम को कोसना अथवा यो कहना कि यह माध्यम हमारी कितनी पूँजी खा गया, कुठित बुद्धि का ही परिचय देता है। यदि आप किसी को उदार देखना चाहते है, तो आपको भी उदार बनना होगा। अनुदार और उदार का समन्वय नही हो सकता।

'राजस्थान के वैश्य-वर्ग की सदा से ही यह विशेपता रही है कि वह अपने साथ-साथ अपने सम्पूर्ण समाज के कल्याण का भी पूरा ध्यान रखता रहा है, और अपनी उपार्जित पूँजी का एक अच्छा-खासा अग जन-हितार्थ खर्च करने मे

आधुनिक युग के भामाशाह
स्व० श्री जुगलकिशोर बिड़ला

भिडाये समरागण मे उतरने से भी यह जाति नही हिचकी थी। स्वनामधन्य राजा टोडरमल इसी जाति के एक सपूत थे। अग्रवाल जाति के अन्दर प्रचलित मुडिया लिपि के जन्मदाता यही राजा टोडरमल थे। यह अकबर के जमाने में रेवेन्यू मिनिस्टर थे। लेण्ड डिस्ट्रीब्यूशन की जिस पद्धति का इन्होने आविष्कार किया था, वह आज तक मान्य है।

इसी जाति की एक प्रशाखा गोयनका वश के नाम से विख्यात है। इस वश मे उच्च कोटि के व्यापारी, डॉक्टर, इंजीनियर एवं ब्रह्मनिष्ठ व्यक्तियो ने जन्म लेकर इस जाति का गौरव बढाया है, और इस तरह समाज और देश के सर्वांगीण विकास मे अपना महत्वपूर्ण योग दिया है। सर हरीराम गोयनका, सर बद्रीदास गोयनका, श्री ईश्वरीप्रसाद गोयनका, ब्रह्मनिष्ठ स्व० श्री जयदयाल गोयनका (गीताप्रेस, गोरखपुर के सचालक) आदि महान् व्यक्ति इसी जाति के रत्न है।

मेरे पूज्य अग्रज रायसाहब डॉ० मदनलालजी गोयनका ने भी इसी कुल में जन्म लिया था।

वंश-परिचय

भारत के अग्रवाल वैश्यो मे 'गोयनका' वश एक प्रतिष्ठित वश है, जिसकी शाखा-प्रशाखाएँ सारी शेखावाटी मे फैली हुई है। गोयनका वश गोविन्ददासजी के नाम को लेकर प्रचलित हुआ। शेखावाटी की भाषा में गोयनका को 'गूँदका' या 'गोइन्दका' कहते है। इसी आधार पर किसी-किसी ने अपने को 'गोविन्दका' कहना शुरू किया। अँग्रेजी के विशेष प्रभाव के कारण यही 'गोविन्दका' शब्द 'गोयनका' में परिणत हो गया।

हमारे पूर्वज गोविन्ददासजी का जन्म-स्थान फतेहपुर (शेखावाटी) था। इनकी दो शादियाँ हुईं। पहली पत्नी से नौ तथा दूसरी से सात पुत्र हुए।

दूसरी शादी के बारे में एक किंवदन्ती प्रचलित है, कि पहली पत्नी के देहावसान के बाद ये बाहरवाली बैठक में ही रहने लगे थे। खाना, पीना तथा सोना भी वही करते थे। एक बार किसी पुत्र-वधू ने नौकर के सामने आपको कुछ कटु शब्द कह दिये, तो मर्माहत होकर आप दूसरी शादी कर लाए।

आपके सोलह लडको की सन्तानें फैली और सारी शेखावाटी में छा गईं। इन्ही सोलह शाखाओ मे से एक प्रशाखा के धनी रामदत्तजी चुरु आकर बस गये। चुरु के गोयनका इन्ही की वंश-परम्परा मे है।

मेरे अग्रज डॉ० मदनलालजी, गोविन्ददासजी की दसवी पीढी में थे। आपके पिता का नाम बिहारीलालजी तथा माता का नाम रुक्मिणी देवी था। आपके पिता सुन्दर, वलिष्ठ तथा नीतिज्ञ थे। उनके सदाचार के बारे में यदि यह कहा जाय कि उन्होने अपने सम्पूर्ण जीवन मे कभी असत्य भाषण नही किया, तो अतिशयोक्ति नही होगी। अर्थाभाव होने पर भी आप समाज में प्रतिष्ठित थे, सत्यवादी होने के माथ-साथ स्वाभिमानी थे, वज्र की तरह दृढ होकर भी सहृदय थे।

आपकी सहृदयता का एक उदाहरण देखिए एक वार की वात है कि उनकी एक पुत्र-वधू ने, जो अभी-अभी गौना होकर आई थी, खाना बनाया। पूडियाँ कुछ कडी हो गई। जब भोजन करने लगे तो पूछा, 'ये पूडियाँ किसने वनाई है?' माताजी बोली, 'नई बहू ने।' सुनते ही वे रसोई की वडी तारीफ करने लगे कि बहू तो बहुत अच्छा खाना वना लेती है। हमारी उक्त भाभी इस घटना को कभी नही भूली। वे समय-समय पर इसकी मुक्त कठ से चर्चा करने मे भी कभी न अघाती, और हम सुन-सुनकर आनन्दित होते।

इनके नौ पुत्र थे, जिनके नाम क्रमश इस प्रकार है—काशीरामजी, उनके बाद डॉ० मदनलालजी, फिर क्रमानुसार देवकीनन्दनजी, मोहनलालजी, अशर्फी-लालजी, अनन्तरामजी, गौरीशकरजी, श्यामलालजी तथा सब के बाद इन पक्तियो का लेखक निरजनलाल।

काशीरामजी तीस वर्ष की अल्पायु मे ही काल-कवलित हो गये। इनके दो पुत्र थे, जिनमें बडे पुत्र लक्ष्मीचन्द्र को भाई मदनलालजी ने गोद ले लिया। देवकीनन्दनजी एवं मोहमलालजी अविवाहित ही रहे, तथा तीस वर्ष की अल्पायु मे ही उन दोनो का भी देहान्त हो गया। अशर्फीलालजी के तीन और गौरी-शकरजी के दो सन्तानें हुईं, जो आज बहुत सुखी व सम्पन्न है। अनन्तरामजी के एक ही सन्तान हुई, जो आज उन्नत अवस्था मे है। श्यामलालजी के तीन पुत्र हुए, जो आज प्रसन्न और उन्नतिशील है।

कोई पुत्र न रहने के कारण, लेखक ने अपनी वडी लडकी के बडे लडके राजेन्द्रकुमार को गोद ले लिया।

वाल्यावस्था में लेखक

मात्र ९ वर्ष की आयु मे भोली-भाली सूरतवाला निरंजनलाल

विद्यार्थी-जीवन

०

सन् १८७३ ई० में भाई मदनलालजी का जन्म सिकन्दराराऊ (जि० अलीगढ) में हुआ था। हमारा आदि-स्थान तो राजस्थान के अन्तर्गत चूरू, रियासत वीकानेर (अव जिला वीकानेर) था, लेकिन हमारे पितामह अपनी दो सन्तानो को लेकर चूरू से सिकन्दराराऊ जाकर वस गये थे। कारण यह था कि हमारे पितामह के चचेरे भाई चूरू छोडकर पहले से ही यहाँ आकर वस गये थे, तथा उन्होने यहाँ बडी जागीर हासिल कर ली थी, और नील का काम भी वडे पैमाने पर चालू कर दिया था। सो उन लोगो ने हमारे पितामह को भी अपने पास वुला लिया। चूरू छोडते समय हमारे पिता दस वर्ष के तथा ताऊ तेरह वर्ष के थे।

उन दिनो सिकन्दराराऊ एक छोटा-सा उन्नत कस्वा था। अनाज तथा कपास की वहाँ वडी मडी थी। वह वडे-बडे रईसो का वास-स्थान था, और वहाँ के रईस अधिकतर वारहसैनी वैश्य थे। गोयनका परिवार की गिनती भी रईसो में होने लगी थी।

वहाँ पर कई नैष्ठिक एव शास्त्र-निष्णात ब्राह्मण-परिवार भी वास करते थे। मन्दिरो में रामायण एवं भागवत के पारायण तथा प्रवचन वरावर ही होते रहते

थे, जिनमे सभी वडी श्रद्धा से सम्मिलित होते थे। अन्त करण में पवित्र भावनाओं के सचार के लिए यह एक अच्छा साधन था।

उस समय फारसी की प्रबलता के कारण हिन्दी का प्रचार नही के वरावर था, इसलिए मन्दिरो के कथा-प्रवचन शास्त्रो के ज्ञान के प्रसार में बहुत महत्त्वपूर्ण काम कर रहे थे। इसके द्वारा अशिक्षित स्त्रियो को भी रामायण तथा भागवत का सामान्य ज्ञान हो जाता था।

सिकन्दराराऊ में पाठशालायें और मकतब भी थे, जिनमे क्रमश महाजनी और फारसी पढाई जाती थी। ये सस्थाएँ व्यक्तिगत स्तर पर सचालित पडितो व मौलवियो की थी। छठी कक्षा तक का एक सरकारी स्कूल था, जो आगे चलकर आठवी कक्षा तक हो गया।

इसी स्कूल मे प्रारम्भिक शिक्षा ग्रहण कर, भाई मदनलालजी ने १६ वें वर्ष में मिडिल पास किया।

शैशवकाल मे भाई मदनलालजी के चेचक निकली थी, जिससे उनके चेहरे पर चेचक के दाग रह गये थे, लेकिन फिर भी उनकी मुखाकृति सुन्दर लगती थी। पिता की आर्थिक स्थिति बहुत अच्छी नही थी, किन्तु स्वभावत स्वावलम्बी, अध्यवसायी, तीक्ष्ण बुद्धि तथा प्रतिभाशाली होने के कारण ये निरन्तर पढते रहे। ये अक्सर कहा करते थे, 'हमने वारह साल की उम्र में ही शेख सादी की 'गुलिस्ताँ-वोस्ताँ' पढ ली थी।' सचमुच फारसी पर इनका सहज अधिकार था, और उसे ये मातृभाषा की तरह बोल लेते थे।

रईसो के लडको में तथा मित्र-मडली में इनका वडा मान था। इनके साथ रहने में वे अपने को गौरवान्वित महसूस करते थे। जव कभी ये अपनी मित्र-मडली को लेकर घर आते, हमारी माता सव बच्चो को ताजी पूडी-साग बनाकर खिलाती। बच्चे इतने नि सकोच भाव से खाते कि ऐसा प्रतीत होता, मानो उनकी अपनी माँ खिला रही हो।

कभी-कभी इनकी मित्र-मडली अचानक आ धमकती, और एक स्वर से कहने लगती, 'अम्मा, आज पूडी-साग नही खायेंगे। कोई मीठी चीज खिलाओ।'

कहने भर की देर थी, झट् मीठी और नमकीन पकौडियाँ वनती, हलवा बनता, और अचार के साथ सटासट खाना शुरू हो जाता। उसके बाद तो पूडी-साग की भी माँग हो ही जाती—स्नेहमयी तथा वात्सल्यमयी माँ से।

ठीक इसी प्रकार जब भाई मदनलालजी अपने मित्रो के घर जाते, तो उन्हें भी वहाँ सभी का वात्सल्य प्राप्त होता।

हम सभी छोटे भाई इनको व इनके सभी मित्रो को 'भाईसाहब' कहते थे।

वे सब भी हमको अनुज सदृश ही स्नेह करते थे। वे स्वर्णिम दिन आज भी मेरे स्मृति-पट पर अंकित है।

हम सभी छोटे भाई इनसे बहुत डरते थे। कभी-कभी कोई शैतानी करता मिल जाता, तो उसकी मरम्मत भी हो जाती। यदि मार पडने की शिकायत पिताजी तक पहुँचती, तो वे उल्टे शिकायती को ही धमका देते, 'तुमने कुछ शैतानी की होगी, तभी उसने मारा है, नही तो क्या उसके कोई हाथ दुखते हैं मारे बिना? वह तो यही चाहता है कि तुम भी उसी के समान पढ-लिखकर बुद्धिमान बनो। जिस परिश्रम से वह पढता है, उसी परिश्रम से तुम भी पढो, तो वह कुछ नही कहेगा। याद रखो, हम तो उसे कुछ कहनेवाले हैं नहीं। तुम जानो और वह जाने।'

हमारी ताई छोटी उम्र में ही विधवा हो गई थीं। वे भाई मदनलालजी को ही अपना लडका समझकर लाड-प्यार करती थीं। उन्ही के आग्रह से इनकी शादी १३-१४ साल की उम्र में ही कर दी गई। यह शादी झुंझुनू में हुई थी। गौना होने के बाद हमारी भाभी फिर कभी अपने पीहर नही गईं, क्योंकि उन दिनो यातायात के साधन इतने सुलभ नही थे

मिडिल पास करने के बाद भाई मदनलालजी की इच्छा डॉक्टरी पढने की हुई। उन दिनो बहुधा मुसलमान व कायस्थ ही डॉक्टरी पढा करते थे। वैश्य जाति के लोग इस पेशे को अच्छी दृष्टि से नही देखते थे। जब इनका प्रस्ताव पिताजी के सामने आया, तो उन्होंने साफ इन्कार कर दिया, 'हमारे घराने का लडका मुर्दा चीरेगा, यह नही हो सकता। यदि वैसे ही आगे पढ़ना चाहे, तो कलकत्ता या आगरा जाकर पढ सकता है।'

लेकिन इनके हृदय में डॉक्टर बनने की लगन जो लगी थी, वह किसी और तरह से कैसे शांत होती! इसलिए रात में माँ, सबसे बडे भाई तथा स्वयं इनका एक सम्मेलन हुआ, जिसमें निश्चय हुआ कि ये डॉक्टरी ही पढेंगे, और उसका इन्तजाम कर दिया जायेगा।

उन्ही दिनो आगरा मेडिकल कॉलेज के प्रथम सत्र का आरम्भ होनेवाला था। समय बहुत कम रह गया था। इसलिए एक रात को माँ से ५००) रु० लेकर ये और इनके अग्रज स्टेशन पहुँचे और आगरे का टिकट कटाकर रवाना हो गये।

सुबह जब पिताजी उठे, और काफी देर तक दोनों पुत्र नजर नही आये, तब उन्होने हमारी माँ से पूछताछ की, लेकिन उन्होने भी बात को 'हाँ-ना' में ही टाल दिया। पिताजी दुकान चले गये। मडी में इनकी अनाज तथा कपास की आढत की दुकान थी। वहाँ भी दोनों पुत्रो को नही पाया, तो कुछ चिन्तित

हुए। मध्याह्न में घर आये, तो चिन्तित स्वर में कहा कि बच्चे तो दुकान पर भी नहीं दिखाई दिये। लेकिन जब उन्होंने देखा कि हमारी माँ के चेहरे पर तो चिन्ता की एक रेखा तक नही उभरी, तो कहने लगे, 'क्या बात है ? लडके कहाँ गये ? बडी चिन्ता हो रही है। मालूम हो, तो बताती क्यूँ नहीं ?'

हमारी माँ के मुख पर हल्की-सी मुस्कराहट खेल गई, और अब उन्होंने साफ-साफ बता ही दिया, 'लडके आगरा चले गये है। मदन को स्कूल में भरती जो कराना था।'

पिताजी बोले, 'यह भी भला कोई बात है, कि मुझे इतनी देर परेशानी में रखा, और बताया तक नही ?'

माताजी बोली, 'बताती क्या ? आपने तो साफ इन्कार कर के लडके का दिल तोड दिया था। इस काम को सीखने की जब उसमें इतनी लगन है, तो निश्चय ही सफलता उसके चरण चूमेगी।'

पिताजी प्रसन्नता से बोले, 'क्यो न चरण चूमेगी। आखिर है तो तुम्हारी ही कोख का।'

बडे भाई इनको दाखिल करा के तीसरे दिन लौट आये। छ मास की फीस जमा करवा दी, और सारी किताबें भी खरीद कर दे आये, ताकि पिताजी फिर मना नही कर सकें।

उन दिनो डॉक्टरी की किताबें उर्दू और अँग्रेजी दोनों में होनी थी, और चूँकि पढाई का माध्यम उर्दू था, इसलिए डॉक्टरी की प्रारभिक शिक्षा उर्दू माध्यम से ही दी जाती थी। पढाई चार सत्रो मे विभाजित थी।

जब इनका दूसरा सत्र चल रहा था, उन दिनो हमारे यहाँ के रईस वासुदेव सहायजी अपनी स्त्री का इलाज कराने आगरा आये। भाई मदनलालजी ने अपनी देख-भाल में उनकी चिकित्सा करवाई।

वासुदेव सहायजी इनकी सेवाओ से बहुत प्रसन्न हुए, तथा उन्होने इनको आश्वासन दिया कि यदि ये एण्ट्रेन्स की परीक्षा पास कर लें, तो वे इन्हे एल० एम० एस० की पढाई के लिये लाहौर भेज देंगे। उस समय का एल० एम० एस० आज के एम० बी० बी० एस० के बराबर हुआ करता था।

यह आश्वासन पाकर ये फूले न समाये, और चटपट एण्ट्रेन्स की पढाई स्वयं आरम्भ कर दी। परीक्षा के सिर्फ चार महीने रह गये थे। जिस बोर्डिंग में ये रहते थे, उसी में एक कायस्थ युवक बी० ए० मे पढता था। उसका वैकल्पिक विषय फारसी था, जिसमें वह कमजोर था। इसलिए आपस में यह निश्चय हुआ कि ये तो उसे फारसी पढायेंगे, और वह इन्हें अँग्रेजी।

मजाक में इनके सहपाठी इनको 'मौलवी साहव' कहकर पुकारा करते थे। कुछ दिनो वाद इनके 'एनाटोमी' के प्रोफेसर को पता चला कि मदनलाल मेडिकल के पहले एण्ट्रेन्स की परीक्षा देने जा रहा है, तथा पास होने पर लाहौर चला जायेगा। प्रोफेसर साहव ने ऐसे अच्छे लडके का स्कूल से चले जाना ठीक न समझा, और इन्हें बुलाकर कहा, 'मैंने सुना है कि तुम अपना ध्यान दूसरी तरफ लगाते हो, और तुमने मौलवीपना अख्तियार कर लिया है। ऐसा करने से तुम अपने एनाटोमी के विषय में गिर जाओगे, और तुम्हारी और मेरी वदनामी होगी। अगर तुमने फारसी-वारसी पढाना वन्द नही किया, तो मैं तुमको फेल कर दूंगा।'

इन्होंने निसकोच सविनय उत्तर दिया, 'मेरे प्रश्नोत्तरो को देखकर आप शायद एक अंक भी कम नही कर सकेंगे। अगर मैं एण्ट्रेन्स पास कर गया, और आपका आशीर्वाद रहा, तो मेरा भविष्य सुधर जायेगा।'

मनोयोगपूर्वक पढकर इन्होने परीक्षा दी। प्रोफेसर इनके प्रश्नोत्तरो को देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुआ, क्योंकि वे शत-प्रतिशत अको के लायक थे, लेकिन अपने पूर्व-कथनानुसार उन्होंने एक अक काट लिया। इस प्रकार १०० में ९९ अक इनको मिले। एण्ट्रेन्स में ये द्वितीय श्रेणी से उत्तीर्ण हुए। इसीसे अनुमान लगाया जा सकता है कि ये कितने मेधावी छात्र थे। लेकिन आखिरकार ये लाहौर न जा सके। शायद आर्थिक वाधा ही कारण वनी हो।

भाईसाहव कभी-कभी अपनी मित्र-मडली में अपने इन प्रोफेसर साहव का वडी श्रद्धा और गौरव के साथ जिक्र किया करते थे। इन प्रोफेसर साहव की ख्याति दूर-दूर तक फैली हुई थी। ये मेधावी तो थे ही, दयालु भी इतने थे कि सुवह-शाम अपने घर पर विना फीस लिये गरीव मरीजो को देखते थे। अपनी मेज की दराज में रुपये रखते, और नुस्खा देते वक्त एक-दो रुपये पुडिया में वाँधकर नुस्खे के साथ दे देते, और कहते, 'दवा वाजार से ले लेना। पुडिया की दवा खत्म हो जाये, तो फिर आ जाना।'

ये आदमी नही—फरिश्ता थे।

प्रोफेसर साहव कपडो के वडे शौकीन थे। नई पोशाक को कुछ ही दिन पहनकर गरीवों को दे देते।

ये सर्जन भी बहुत ऊँचे दर्जे के थे। एक वार एक ठाकुर घोडे पर जा रहे थे। किसी कारण से घोडा भडका, और ठाकुर साहव नीचे आ गिरे। पेट पर गहरी चोट आई, जिससे आँतें वाहर निकल आयी। आगरा हास्पिटल लाये गये। उक्त डॉक्टर साहव ने इनको टेवल पर लिटाया और ऑपरेशन शुरू कर

दिया। लेकिन आँतें बैठ नहीं पा रही थी। उस समय आज के से साधन तो थे नही।

विचार-विमर्श हुआ कि कौन-सा उपाय किया जाय, ताकि इनकी आँतें अन्दर चली जायें और तुरन्त टाँके लगा दिये जायें। डॉक्टर साहब को एक बात सूझी। उन्होने अपने शिष्यों से कहा कि उनमें से एक ठाकुर साहब के घर जाकर सारा हाल इनकी पत्नी से कहे। यदि वे आकर इनके सामने खड़ी हो जायें, तथा मर्यादा के भीतर उनसे आपत्तिजनक व्यवहार किया जाये, तो ठाकुर साहब को क्रोध आयेगा ही। क्रोध आने पर आँतें अन्दर चली जायेंगी, और काम बन जायेगा।

ठाकुर साहब की पत्नी इस योजना से सहमत हो गईं। जब वे अस्पताल आयीं, तो डॉक्टर साहब ने उनसे कहा, 'देखो बेटी, मजबूर होकर ही तुमको बुलाना पडा है। तुम इन लडको की माँ के समान हो। हम केवल दिखावटी तौर पर तुम्हारे साथ जरा अनुचित व्यवहार करेंगे, ताकि ठाकुर साहब को जोर का क्रोध आ जाये। आशा है, ठाकुर साहब की भलाई के लिए तुम्हें इसमें आपत्ति नही होगी।'

वे राजी हो गई, और ठाकुर साहब की टेबल के पास आकर खडी हो गई। एक लडके ने उनकी ओर आँख मारी। अन्य लडको ने भी कुछ अश्लील हाव-भावों का प्रदर्शन किया। बस, ठाकुर साहब को क्रोध चढने लगा। इधर डॉक्टर साहब ने मौका देखकर सावधानी से आँतें भीतर की और टाँके लगा दिये। इसके बाद ठाकुर साहब की उपस्थिति मे ही डॉक्टर साहब ने कहा, 'बेटी, तुमने अपने पति की जान बचाली। ये सब छात्र तो तुम्हारे लडके जैसे हैं।'

ठाकुर साहब सुनकर सोच में पड गये कि यह क्या माजरा है ? तब डॉक्टर साहब ने उनसे कहा, 'ठाकुर साहब, आप अब आराम कीजिये। कल आपको सारी बात बतायेंगे।'

दूसरे दिन डॉक्टर साहब ने ठाकुर साहब से कहा, 'ठाकुर साहब, ईश्वर को धन्यवाद दीजिये, और अपनी साध्वी पत्नी को भी, कि आपकी जान बच गई। अगर वे इतनी हिम्मत न करती, तो आपकी जान बचनी मुश्किल थी।'

भाईसाहब इसी तरह की एक और घटना का जिक्र किया करते थे, जिससे डॉक्टर साहब की सूझ-बूझ का प्रमाण मिलता है। उत्तर प्रदेश के तत्कालीन लाट साहब को लडकी के माथे में हरदम दर्द रहता था। कभी-कभी तो दर्द इतना बढ जाता कि वह पागल-सी हो जाती। रात-दिन नीद का नाम नही। बहुत

तरह का इलाज कराया गया, पर आराम न मिला।

आखिर इनकी भी बारी आई। इन्होने भली-भाँति परीक्षा की, और सारी 'केस हिस्ट्री' सुनी। फिर कहा, 'भगवान चाहेगा, तो तुरन्त आराम हो जायेगा।'

इन्होने कैंची उठायी और लडकी के नाक के बाल काटने शुरू कर दिये। नाक का एक बाल बढता-बढता दिमाग तक पहुँच गया था। उसको खीचकर निकाल दिया। बाल का निकलना था कि लडकी को गहरी नींद आ गयी। दूसरे दिन जब उठी, तो बडी प्रसन्न थी। लाट साहब की प्रसन्नता का भी ठिकाना नही था।

सुना है, इन डॉक्टर साहब के सम्मान में इनकी एक प्रस्तर-मूर्ति अस्पताल में स्थापित की गयी थी।

यह वह जमाना था जब अँग्रेजो का ही नही, उनकी पोशाक तक का कितना आतक था, इसका प्रमाण निम्नलिखित उदाहरण से मिलता है। एक दिन भाई मदनलालजी करीब आधी रात के समय आगरे से घर पहुँचे। इन्होने दरवाजा खटखटाया, तो बडी भाभी ने दरवाजा खोला। ये पतलून, ओवरकोट तथा अँग्रेजी जूता डाटे हुए थे। भाभी इन्हें देखते ही डरकर वापस भीतर भागी और चिल्लाई, 'न जाने कौन अजनबी घर में घुसा आ रहा है।' उनकी चिल्लाहट सुनकर सब जग गये। इतने मे ही भाई मदनलालजी की हँसती हुई आवाज सुनाई दी, 'अरे भाभी, डरो मत। कोई और नही है, मैं हूँ—मदन।' फिर तो हँसी और ठहाको से पूरा घर गूँज उठा। इनके आने से सारे घर मे खुशी की लहर-सी दौड गयी। उम्र में मात्र दो-तीन वर्ष का अन्तर होने के बावजूद, इनके अग्रज इनसे बहुत स्नेह करते थे। घर की आर्थिक अवस्था विशेष अनुकूल न होने पर भी वे इनके रहन-सहन और परिधान पर खर्च करने में हिचकते नही थे, ताकि इनका मन किसी भी तरह कुठित न हो, और ये पूरे मन से अपनी पढाई कर सकें।

भाई मदनलालजी ने बीस वर्ष की अल्पायु में ही डॉक्टरी की अतिम परीक्षा पास कर ली। उस समय तक डॉक्टरी का पेशा प्रतिष्ठित हो चला था। राजस्थान मे डॉक्टरो की बडी माँग थी। उत्तीर्ण होने के बाद ये अविलम्ब सरकारी नौकरी मे ले लिये गये, तथा इनकी इच्छानुसार इन्हें राजस्थान भेज दिया गया। सर्वप्रथम अजमेर के अस्पताल में इनकी नियुक्ति हुई। हर महीने जो भी रुपये बचते, उन्हें ये अपने पिताजी के पास भेज देते। अजमेर पहुँचकर

इनके मन में खसखसी दाढी रहने की इच्छा हुई, सो इन्होंने रख ही ली। दाढी में भी इनका व्यक्तित्व काफी अच्छा लगता था।

एक वार उसी खसखसी दाढी में ये छुट्टी लेकर घर आये। रात में तो देर होने के कारण चुपचाप सो गये। सुवह उठकर हाथ-मुँह धोया, और पिताजी को घर में न पाकर, चरण-स्पर्श करने दुकान पहुँचे। ये उस समय अपनी शेरवानीवाली पोशाक में थे।

पिताजी के चरण-स्पर्श किये, लेकिन उन्होने न तो चरण-स्पर्श स्वीकार किया, और न पीठ थपथपाई। ये समझ गये कि पिताजी मेरी वेश-भूषा से अप्रसन्न है। उल्टे पाँव घर दौडे आये।

इन्होंने उसी समय नाई वुलाकर दाढी साफ कराई, और कुर्ता, धोती व टोपी पहनकर फिर दुकान पहुँचे। ज्योंही पिताजी के चरण-स्पर्श किये, उन्होने प्रसन्न होकर पीठ थपथपाई। बोले, 'अव तू वैश्य-पुत्र-सा लगता है। तूने यह मुसलमानी लिवास कब से पहनना शुरू कर दिया? अपना जाति-अभिमान कभी न खोना, वेटा। अपने सस्कारो को मिटा देना अपने को मिटा देना है। सरकारी नौकरी करो, लेकिन अपने देश और अपनी जाति को कदापि न भूलो। और याद रखना, तुम्हारे द्वारा कभी किसी पर भूल से भी अत्याचार न होने पाए।'

पिताजी का आशीर्वाद और उनका उपदेश सुनकर ये घर लौट आये, और माँ से लगे सारा वृत्तान्त सुनाने। सवको वडी हँसी आई इस घटना पर। सब भाई भी मुँह फेरकर हँस रहे थे। वहुएँ घूँघट में हँस रही थी। माताजी भी मुस्करा रही थी। सारा वातावरण मधुर हँसी से मुखरित हो गया।

पिताजी वडे आदर्शवादी थे और पुत्रो को भी वैसा ही बनाना चाहते थे। उनका जीवन तो पुत्रो के लिए एक आदर्श उदाहरण था ही, इ सके अलावा कभी-कभी वे स्वय भी भाईसाहव को अपने पास वैठा लेते, और शिक्षा एव उपदेश दिया करते। कहते, 'बेटा, अगर तू दो-तीन बातो का ध्यान रखेगा, तो बडा प्रतिष्ठावान बनेगा। तेरा नाम तो होगा ही, तुझे पैसे की भी कभी कमी न रहेगी। पीडितो और दु खितो का सदा सहायक बने रहना। इस बात का सदा ख्याल रखना कि गरीबो का एक भी पैसा तेरे घर में न आ पाए। गलत उपायो द्वारा कभी पैसा मत कमाना, क्योकि खराब कर्मो द्वारा अर्जित पैसा कभी टिकता नही, बल्कि वह अपने साथ सारे घर को भी ले डूबता है। उच्च-पदस्थ होने पर अधिकाश व्यक्ति अपना आपा भूल बैठते है। बहुत सावधान रहना, ताकि तुम्हे अभिमान छू न जाए। मुझे पूरी आशा है कि तू मेरा एक सुयोग्य पुत्र

ससम्नी दाढी में

२२ वर्षीय युवक डॉ० मदनलाल गोयनका

साबित होगा। तुझसे मुझे बहुत आशा है। एक बात और, अपने धर्म व सस्कृति को कभी न भूलना।'

पिताजी के इन सदुपदेशो का भाईसाहब पर बहुत गहरा प्रभाव पडा। सच तो यह है कि उनके आदर्श चरित्र-निर्माण में पिताजी का बहुत बडा हाथ था।

भाईसाहब स्वभाव से ही मिलनसार थे। फारसी का ज्ञान इनकी मिलनसारी का प्रधान कारण था। ये हाकिमो और बडे-बडे अफसरो मे उठते-बैठते थे। प्राय रोज ही शाम को घटो छनती। कभी उन लोगो के यहाँ जरूरत पडती, तो बिना फीस के ही चले जाते। जिस जगह भी ये जाते, थोडे ही समय में प्रिय हो जाते।

डॉक्टरजी अजमेर में

०

अजमेर में डॉ० मदनलालजी की नियुक्ति विक्टोरिया अस्पताल में हुई थी। इस समय इनकी उम्र लगभग २१-२२ वर्ष रही होगी। प्रतिभाशाली व्यक्तित्व, मीठी वाणी, कर्त्तव्य के प्रति निष्ठा आदि विशेषताओं के कारण ये शीघ्र ही ख्याति-प्राप्त हो गये। फलस्वरूप, उच्चस्तरीय समाज मे इनकी माँग अधिकाधिक होने लगी। सभा-सोसाइटी तो आगरा से ही इनके जीवन में आ गई थी। कभी-कभी भाषण भी दिया करते थे। आगरा में रहते-रहते इन पर आर्य-समाज का भी काफी प्रभाव पड चुका था। अजमेर मे आए, तो आर्य-समाज में आना-जाना तो अनिवार्य था ही, अत मित्र-वर्ग का दायरा भी काफी बडा हो गया। आर्य-समाज के प्रधान पंडित वशीधरजी वकील इनके प्रमुख मित्र वन गये। पद्मचन्दजी अग्रवाल (म्युनिसिपल कमिश्नर) भी इनके घनिष्ठ मित्र वन गये।

डॉक्टर साहव वडे गम्भीर और विचारशील स्वभाव के थे। एक बार की बात है, इनके अनुज अशर्फीलालजी पढने के लिए इनके पास अजमेर चले आये। भाईसाहव के पास खाना बनाने के लिए एक रसोइया था। उसने कुछ शरारत की। घी तो घर में खूब आता था, लेकिन इन लोगो को रोटी हमेशा रूखी-सी ही मिलती। अशर्फीलालजी समझ गये कि सारा घी रसोइया खुद सरकाता

है। उन्होने इस बात की शिकायत भाईसाहब से कर दो। उस समय तो वे रसोइये से कुछ न बोले, किन्तु दूसरे दिन जब अस्पताल से घर आये, तो जूते पहने ही रसोई-घर में घुस गये।

रसोइया बोला, 'अरे ··रे! यह क्या किया आपने? जूते पहने हो रसोई मे आ गये? हाय राम!'

भाईसाहब बोले, 'ओह, मुझे तो खयाल ही न रहा। अब तो यही उपाय है कि दूसरा खाना बने। खैर, कोई बात नही।'

इतना कहकर उन्होने अशर्फीलालजी को बुलाकर कहा, 'सारी रोटियाँ गाय को दे आओ।' ज्योही महाराज के सामने से उन्होने रोटियाँ उठाई, त्योही नीचे दो मोटी-मोटी रोटी घी से लथपथ निकली। इस घटना से महाराज तो बुरी तरह शर्मिदा हो गया। उसके मुख से बोली तक न निकली। डॉ० मदनलालजी रसोइये से सिर्फ इतना ही कहकर चले आये, 'रसोई हमेशा एक समान बननी चाहिए। इस बच्चे को यदि खाने को तकलीफ हुई, तो यह अपनी भाभी से जाकर शिकायत कर देगा कि, 'भाईसाहब मेरा खयाल ही नही रखते थे। मुझे रसोइये के भरोसे आधा पेट रहना पडता था।'

अजमेर में भाईसाहब 'रिजर्व ड्यूटी' पर थे, तथा प्रशिक्षण (ट्रेनिग) पा रहे थे। उन्ही दिनो देहातो में हैजा फैल जाने के कारण इनको उस ड्यूटी पर तैनात किया गया। ये निर्भय वहाँ चले गये। कही घरवालो को पता चल जाता, तो नौकरी ही छोडनी पडती, क्योकि पिताजी यह कदापि सहन न करते। इन्होने बडी तत्परता के साथ कार्य किया। हजारो की जान बची, तथा बीमारी का शमन हो गया।

भाईसाहब अक्सर कहा करते थे, 'खुदा की इबादत की, तो क्या, शास्त्र कठस्थ हो गये, तो भी क्या, अगर खुदा के बदो की खिदमत न हो सकी, तो सब बेकार है।'

उस समय अजमेर के सिविल सर्जन डॉ० क्राफ्ट थे, जो एक दिन मुआयने पर आये, और इनका काम देखकर इतने अधिक प्रसन्न हुए, कि उन्होने इनका तबादला देवलिया कर दिया।

देवलिया-निवास के रोचक प्रसंग

०

भाईसाहब देवलिया चले आये। यहाँ आकर डिस्पेंसरी का चार्ज लिया, और काम आरम्भ कर दिया। थोडे ही दिनो में शोहरत फैल गयी। मरीज काफी सख्या में आने लगे। डिस्पेंसरी का नाम होने लगा। जब कभी क्राफ्ट महोदय निरीक्षण पर आते, इनकी कर्तव्य-निष्ठा और सफाई को देखकर वडे प्रसन्न होते।

एक बार भाई अशर्फीलालजी मुझे गोद मे लिए डिस्पेंसरी में खडे थे। मैं तब ५-७ मास का ही था। इतने में डॉ० क्राफ्ट आ पहुँचे। उन्हे देखकर भाईसाहब ने अशर्फीलालजी से मुझे ले जाने का सकेत किया, तो डॉ० क्राफ्ट ने पूछा, 'यह कौन है ?'

भाईसाहब के यह वताने पर कि मैं उनका सवसे छोटा भाई हूँ, उन्होने मुझे गोद में ले लिया। मैंने उनकी गोद में पेशाव कर दिया। भाईसाहब थोडा सहमे, लेकिन डॉ० क्राफ्ट तो खुश होते हुए ही बोले, 'कुछ नही *मदनलाल*, वच्चे तो कुछ समझते नही। हम अभी ड्रेस वदल लेते है। मैं हमेशा एक अतिरिक्त ड्रेस अपने पास रखता हूँ। हम लोग डाक्टर हैं न • न जाने कब कैसी जरूरत पड जाये।'

देवलिया में भाईसाहब को जब कभी अवकाश मिलता, वे अशर्फीलालजी को पढ़ाया करते थे, लेकिन जो घर में पढ़ाई का न तो कोई नियम था, और न कोई बन्धन ही। इसलिए उनका अध्ययन सुचारु रूप से न हो पाता था।

जब कभी अशर्फीलालजी को पाठ याद न रहता, भैया क्रोधित हो उठते और एक-दो थप्पड़ भी लगा देते, किन्तु भाभी को यह बात सहन न होती। वे विरोध करने लगतीं, 'आप तो इन्हें दस दिन की खुराक एक ही दिन में देना चाहते हैं। एक दिन में कोई दस दिन का खाना खा सकता है क्या? नाहक आप इस बच्चे पर क्रोध करते हैं।'

भाभी ने भाईसाहब से अशर्फीलालजी को अजमेर बोर्डिंग में रखकर पढ़ाने के लिए कहा, तो उन्होंने अपनी आर्थिक लाचारी प्रकट की। लेकिन भाभी को बच्चों पर हाथ उठाना पसन्द न था। उन्होंने साफ-साफ कह दिया, 'इन्हें पढ़ाना हो, तो इसके लिए उचित साधन जुटाओ। घर में मार-पीट कर इन्हें नहीं पढ़ाया जा सकता।'

हमारे भाईसाहब भाभी को भी पढ़ाने की निरन्तर चेष्टा करते थे। बेचारी पढ़ने की कोशिश भी करतीं। सबक याद न होता, तो झुँझलाकर कहतीं, 'अजी, हमसे यह काम न होगा। माँजी तो पढ़ी-लिखी नहीं हैं, फिर आप कैसे हो गये इतने पढ़े-लिखे? हम लोगों का काम और है, आप लोगों का और। हम अपने काम में दक्ष हैं, तो आप अपने काम में। मुझे कौन-सी नौकरी करनी है? ईश्वर करे, हमको तो आपकी कमाई पर नाज बना रहे। यह क्या कम गर्व की बात है!'

भाईसाहब हँसकर कहते, 'ऐसी बात नहीं है। देखो, स्त्री पुरुष की पूरक होती है, इसलिये तुम भी पढ़ो और विद्वान् बन जाओ।'

भाभी कहती, 'याद रखिये, पुरुष भी स्त्री का पूरक होता है, और मेरा पूरक स्वयं पूर्ण है, तब फिर मुझमें अधूरापन कहाँ रहा?'

और दोनों हँसते-हँसते आनन्द-विभोर हो जाते। भाईसाहब हँसते-हँसते ही फिर कहते, 'तुम समझती नहीं। अगर स्त्रियाँ पढ़ी-लिखी होंगी, तो वे रामायण, महाभारत, गीता एवं सत्यार्थ-प्रकाश जैसी धार्मिक पुस्तकों का पारायण कर सकेंगी। आत्म-संस्कारों के परिष्कार के अतिरिक्त शिक्षित स्त्रियाँ अपने बच्चों को अच्छी शिक्षा देकर एक नवीन, स्वस्थ एवं सुन्दर संतति का निर्माण करने में समर्थ हो सकेंगी। इस प्रकार स्त्री-शिक्षा अत्यावश्यक है।'

भाभी कहती, 'इस बात से मुझे इन्कार नहीं। शिक्षा का मैं विरोध नहीं करती, लेकिन यदि पढ़ाई-लिखाई बचपन से ही न कराई जाये, तो आगे चलकर

पढने में विशेष कठिनाई होती है। अगर आप ही इस उम्र में पढना शुरू करते, तो क्या इतने आलिम-फाजिल हो जाते? पुरुष-वर्ग तो सदियों से पढता चला आया है, जब कि पहले स्त्रियो को शिक्षा देने का चलन नही था। अब आप जैसे आधुनिक शिक्षित लोगो के कारण समाज की आँखें खुल गई हैं, और उसने अनुभव किया है कि स्त्री-समाज को भी शिक्षा दी जानी चाहिए। दूसरा अग अधूरा क्यो बना रहे। धीरे-धीरे यह भी हो ही जायेगा।'

फिर भी भाईसाहब ने थोडा-बहुत पढना-लिखना तो भाभी को अततोगत्वा सिखा ही दिया।

आर्य-समाजी होते हुए भी भाईसाहब सनातनी पडितों से बहुत प्रेम रखते थे। एक-दो पडित तो बराबर ही इनके पास बने रहते थे। पिताजी को भी पडितो की सगति का बडा चाव था। यह उसी का असर रहा होगा। सस्कार तो बचपन में ही पडते है। ज्योतिष से भी इनको बहुत प्रेम था। आगे चलकर इन्हे ज्योतिष का थोडा-बहुत ज्ञान भी हो गया था।

ज्येष्ठ भ्राता की बीमारी

०

कलकत्ता में हमारे पिताजी का ननिहाल था। पिताजी की मामी उस समय जीवित थी। उनके दो पुत्र थे। उन दिनो ननद व भानजो को बहुत सम्मान दिया जाता था। यहाँ तक कि यदि घर में कोई बीमार पड जाता, तो भानजो की मनौती मानी जाती। हमारी मामी भी हम लोगो को देवता-सदृश मानती तथा साल-भर में मनौतियो के जो भी रुपये-कपडे इकट्ठे होते, उन्हें हमारे पास भेज देती। किसी को बुखार हो जाता, तो मनौती, किसी को खाँसी होती, तो मनौती। वह भी एक समय था भारत में।

जब हमारे दादा-दादी जीवित थे, तब तो इनके देने की नदी-सी बहती रहती थी। इनके दोनो बेटो का दिल भी दरिया था। इन दोनो में बडे का नाम हजारीमलजी तथा छोटे का रामचन्द्रजी था। हजारीमलजी हमारे पिताजी से बडे थे, और रामचन्द्रजी छोटे। इसलिए रिश्ते के मुताबिक हम लोग हजारीमलजी को ताऊजी कहते थे। वे सपरिवार कलकत्ता में मल्लिक स्ट्रीट में रहते थे। अच्छे पैसे वाले थे। इनका कपडे का थोक-व्यापार था।

उन दिनों हमारे सबसे ज्येष्ठ भ्राता कलकत्ता में भगवानदासजी बागला के मुनीम थे। हम सब उनको 'भइया' कहकर सम्बोधित करते थे। वहाँ उन्हें

तेरी भगताई में धूल पड गयी । मदन को मदन की ही धोती पहनने को कह दिया ?…और वह भी हमारे घर मे ?'

रामचन्द्रजी वोल उठे, 'भाईजी, ये मारी धोतियाँ तो हमारे ही घर की हैं। इसकी तो सिर्फ एक ही धोती है, जो इमने पहले दिन बदली थी ।'

हजारीमलजी बोले, 'इसीलिए तो मैं कहता हूँ कि तेरी बुद्धि छोटी है । जिस धोती को मदन ने एक बार पहन लिया, वह धोती उसकी हुई, या हमारी ?'

इतने मे मुनीम भी आ गया । फिर तो वे मुनीमजी पर बरस ही पडे। कहने लगे, 'धोती निकालकर क्यो नही रखी ? मुझे शक है कि तुम दोनों की इसमें साँठ-गाँठ है, जिसके फलस्वरूप धोती नहीं निकाली गयी । ध्यान रखना, जब तक मदन यहाँ रहे, रोज नया जोडा निकालकर देते जाना । पहले ही दिन तुम्हें यह समझा दिया था, फिर मेरी बात का उल्लंघन कैसे हुआ ? ये बातें मुझे बरदाश्त नही । बडे भाग्य से भानजे लोग घर आते हैं ।'

इन्ही दिनो पितृ-पक्ष पड गया । ताऊजी के पिता का श्राद्ध आया । उन्होंने भाईसाहब से कहा, 'आज बडा श्राद्ध है । तुम ठीक बारह बजे आ जाना । देरी न करना । तुम्हारे आने पर ब्राह्मण-भोजन होगा ।'

भाईसाहब ने इस निमत्रण की कुछ विशेषता नही समझी, और समझते भी तो कैसे, क्योकि हमारे बहिन ही नही हुई, फिर भानजा कहाँ से आता ? कोई बुआ भी न थी, न बड बुआ ही थी । इसलिए ठीक समय पर पहुँचने की चेष्टा करते हुए भी वे कुछ देरी से पहुँचे । इधर ब्राह्मण सब आ चुके थे, तर्पण हो चुका था, और भोजन की तैयारियाँ भी हो चुकी थी । ब्राह्मण लोग खाने के लिए छटपटा रहे थे, लेकिन जब तक भाईसाहब वहाँ नही पहुँचे, तब तक उनको भोजन नही परोसा गया । ताऊजी ने साफ-साफ कह दिया, 'पडितजी, मैं मदन को तो आप लोगो के साथ ही बैठाऊँगा । पित्रेश्वर उसके खाने से विशेष प्रसन्न होगे ।' आखिर भाईसाहब के पहुँचने पर ही सबको भोजन कराया गया ।

तब और अब मे बहुत बडा फर्क आ गया है । आज समाज मे पैसो को ही प्रधानता दी जाती है, जब कि उस समय एक-दूसरे के प्रति प्रेम-भाव के सम्बन्ध की ही प्रधानता थी । एक भाई धनाढ्य होता, और दूसरा गरीब, तो दोनो के मिलन मे उस समय धन व्यवधान न बन पाता था ।

आज यदि आर्थिक दृष्टि से एक कमजोर भाई अपने सगे किन्तु समर्थ भाई के यहाँ चला जाता है, तो उसे अपने स्वागत में तिरस्कार की गंध का अनुभव हुए

बिना नही रहता। बाल-बच्चो और स्त्रियो में तो यह दुर्भावना स्पष्ट रूप से झलकने लगती है। अपने पैसे के नशे में उनको भला किसकी परवाह !

लेकिन उन दिनो जब कभी किसी व्याह-शादी में या अन्य किसी अवसर पर हमारे माता-पिता को कलकत्ता आना पडता, तो इनके घर मे चारो ओर उल्लास छा जाता। हजारीमलजी हमारे पिताजी को साथ लिये बिना कभी भोजन ही नही करते थे। वे इस बात का बडा ध्यान रखते कि कही हम लोगो के मन में यह विचार न आये, कि हम अपने से अधिक उच्च-स्तरवाले लोगो के घर रह रहे है।

जब कभी शादी-विवाह या किसी अन्य विशेप अवसर पर मेरी माताजी इनके यहाँ आती, तो मेरे पिता की मामीजी मेरी माँ से कहती, 'देख बेटा, तू तो मेरी ननद की जगह है। किसी तरह का सकोच न करना। जो तेरी पसद की चीज हो, माँग लिया करो।'

जब मेरी माता की विदाई के दिन नजदीक आते, तो वे अपने बक्से खोल देती, और कहती, 'तेरी पसन्द की जो चीजें हो, सो ले ले, और जो मँगाना हो, सो मँगा ले। अपने घर जाकर तो तू मँगाने से रही। कभी फर्माइश भेजती ही नही। मैं ही अपने मन से कुछ भेज दूँ, तो ठीक है, लेकिन यह भी तो पता नही लग पाता कि मेरी भेजी चीजें तुझे पसन्द भी आती हैं, या नही ?'

मेरी माँ कहती, 'यहाँ से योही इतना सामान जाता रहता है, कि साल भर खर्च करके भी बच ही रहता है। मामीजी, मैं आपसे ही नही माँगूँगी, तो किससे माँगूँगी ?'

मामीजी कहती, 'तू माँगती तो है, लेकिन लडकर नही लेती। तेरे माँगने में इतनी ही कसर रह जाती है।'

माँ कहती, 'लडना तो तब पडे, जब आप देने मे कसर रखें। और वैसे तो मामीजी, लालच का कोई अन्त ही नही।'

मामीजी कहती, 'बीनणी, तू है सकोची ! लेकिन खैर, कोई बात नही।'

सारी बात का निचोड यह कि मामीजी हमारी माताजी को इतना अधिक आदर-मान देती कि उनके मन में यह बात आ ही न सके, कि वे पैसेवाले है, और हमारा स्तर उनसे न्यून है। एक वह भी जमाना था भारतवर्ष में, जब स्त्री एवं पुरुप वर्ग प्राय साक्षर तक न थे। आज का व्यक्ति समान स्तर पर ही मिलना-जुलना पसन्द करता है। असमान स्तर उसे काटने-सा दौडता है। नाक-भौ सिकुडे बिना नही रहती।

तब और अब

०

पुराने जमाने में एक व्यक्ति उन्नति करता, तो उसके पडोसी भी प्रसन्न होते। वे सोचते कि हममें से ही एक ने उन्नति की है।

लेकिन आज यह मनोवृत्ति बदल गई है। यह मनोवृत्ति इतनी क्यो बदली, इसका कारण है। आज मनुष्य के पास पैसा आने से वह अहकारी और अनाचारी हो चलता है। और परिणामत उसके हृदय से सहनशीलता, क्षमा, उदारता, दया, करुणा, नम्रता आदि गुण विलुप्त हो जाते है।

इसी कारण आज समाज में इतनी विशृङ्खलता एव उच्छृङ्खलता का साम्राज्य होता चला जा रहा है। पहले के लोगो को धन के ये दोष इतना नही घर दबाते थ। अत उन दिनो व्यक्ति समाज मे सुख, शान्ति और आनन्द से रह सकता था। आज प्रेम की जगह हिंसा ने ले ली है। हिंसा के विभिन्न रूप है—कठोरता, असहिष्णुता, क्रूरता, दम्भता एव लोलुपता। जब व्यक्ति के हृदय पर इन दोषो का साम्राज्य जम जाता है, तो फिर समाज का छिन्न-भिन्न होना अनिवार्य ही है।

हमने देखा है कि पहले के जमाने में किसी गरीब के घर मौत हो जाती, या विवाह-शादी होती, तो शहर के सम्पन्न सेठ-साहूकार उसके घर जाते, और समयोचित व्यवस्था का विचार करते। एक कहता, 'फिक्र की कोई बात नही, हमारे

यहाँ से तो दूध-दही आ ही जायेगा।' दूसरा कहता, 'कच्चे सामान का इन्तजाम भी हो जायेगा।' कोई कुछ, तो कोई कुछ—सभी अपने सामर्थ्यानुसार अपने-अपने ऊपर भार ले लेते। उस गरीब को पता भी नही चलता कि उसे क्या करना है, और कैसे करना है।

उन दिनो के सम्पन्न व्यक्ति कस्तूरी और मकरध्वज (जो साधारणत अलभ्य वस्तुएं हैं) को मात्रा के रूप मे बाँटा करते, और गाँव के किसी भी भाई को वह मात्रायें (जो कि दवा के रूप में होती थीं) माँगने मे अथवा लेने में हिचक न होती। यह सहृदयता का अच्छा नमूना था।

करीब ७०-७५ साल पूर्व के सिकन्दराराऊ की बात है। वहाँ के रईस वासुदेव सहायजी अपनी टमटम में जब बाजार होकर निकलते, तो सारे दुकानदार खड़े होकर उनका अभिवादन करते, और उनसे अपने सुख-दु ख की बात कहते। कार्यवश किसी का ध्यान दूसरी तरफ बँटा रहता, तो उनकी दुकान के पास टमटम खड़ी हो जाती। लालाजी कहते, 'क्यो भैया, क्या हो रहा है? अच्छे तो हो न?'

वह दुकानदार सकपकाकर उठ खड़ा होता, और क्षमा-याचना-सी करने लगता। वे कहते, 'अरे भैया, कोई बात नही। तुम्हारा ध्यान दूसरी तरफ था। मैं तो तुम लोगो से मिलने-जुलने इसलिए आ जाता हूँ कि तुम लोगों के दु ख-दर्द की बातें मालूम हो जायँ, और मैं तुम लोगो की तकलीफ में कुछ काम आ सकूँ। अगर कोई झंझट हो, तो मुझे बता देना मैं कलक्टर से कहकर सब ठीक करा दूँगा।'

इतना कहकर लालाजी आगे बढ़ जाते, और बाजार तथा मंडी का चक्कर लगाकर घर लौट जाते। इनको प्रत्येक दुकानदार का नाम याद रहता था, और ये सबको नाम लेकर ही पुकारते थे। इनकी वाणी प्रेम से सनी रहती। महीने में इनके एक-दो चक्कर लग ही जाते। प्रत्येक को इनके ऊपर बड़ा गर्व और भरोसा रहता था।

आज इस प्रकार के पुरुष ढूँढे भी नही मिलते। आज तो कोई कितना भी सम्पन्न व्यक्ति बाजार से होकर निकले, दुकानदार परवाह नही करते, और अपने काम में लगे रहते है। ठीक भी है, शीत काल के सफेद बादलो की तरफ, मनुष्य की तो बात ही क्या, पशु-पक्षी भी ताकने का कष्ट नही करते। मान-सम्मान तो सावन के बादलो का ही होता है।

मारवाड के धनी-मानी सेठ बिछायत का सामान जैसे दरियाँ, गद्दे, मसनद, चान्दनी, गलीचे वगैरह एव रसोई के बर्तन आदि काफ़ी तादाद में रखते थे,

तथा शहर मे जिस किसी को जव कभी जरूरत होती, उसको यह सव सामान मुक्त भाव से दे दिया जाता। यह सारा सामान जन-सेवा के लिये ही रखा जाता था। ये सेठ लोग घोडे, ऊँट, वैलगाडी, रथ आदि भी रखते। इन पर काफी खर्चा भी वैठता, लेकिन ये भी व्याह-शादी के अवसर पर दूसरे लोगो के ही काम आते।

उस जमाने के इन सम्पन्न लोगो को हमेशा यह खयाल रहता था कि उनके गरीब भाई कहाँ से इतना सामान इकट्ठा कर सकेंगे। हमारे पास प्रभु की जो देन है, उसके द्वारा अगर जन-साधारण की कुछ भी सेवा हो जाये, तो उससे ज्यादा मूल्यवान वस्तु और हो ही क्या सकती है ? यह भावना उन व्यक्तियो की थी, जो आधुनिक शिक्षा की परिभाषा के न्याय से शिक्षित तक नही कहे जा सकते। वे पले थे भारतीय सस्कृति और भारतीय परम्परा के अमृत-तुल्य दुग्ध से। आज ऐसे व्यक्तियो का नितान्त अभाव हो गया है।

आज का एक मनुष्य तो दूसरे की उन्नति से खिन्न ही नही होता, वल्कि ईर्ष्या और द्वेष की आग में झुलसता रहता है, और इस तरह एक-दूसरे के वीच की खाई दिन-प्रति-दिन बढती ही चली जाती है। आज अनुन्नत के प्रति उन्नत मनुष्य की भावना प्रेम एव सहानुभूति की न होकर, तिरस्कार की होती जा रही है। फिर तो क्रिया-प्रतिक्रिया का चक्र चालू हो ही जाता है। यही कारण है कि आज समाज दिन-प्रति-दिन अधोगति की ओर चला जा रहा है।

क्या कहें, आज यह दूपित भावना सहोदर भाइयो मे भी घर-सी कर गई है। किसी कारणवश, या यो कहें, कुछ सहायतार्थ ही सही, एक गरीब भाई अपने सम्पन्न भाई के पास आ निकले, तो यह सम्पन्न भाई अपने यश-गान के लिए दूसरो की भले ही सहर्ष सहायता कर दे, और करता भी है, लेकिन अपने सहोदर भाई को मदद देते वक्त इसका माथा ठनके विना नही रहता, क्योकि उमसे यह यश-गान की आशा तो कर नही सकता। अगर यह सम्पन्न भाई अपने गरीब भाई के स्वाभिमान की रक्षा करते हुए उसे सहायता पहुँचा दे, तो फलत आपस में सानिध्य तो घनिप्ठ हो जायेगा, लेकिन उसके कण्ठ से अपने यश-गान की गाथा सुनने को शायद न मिले। अपना यश-गान सुनने का लोभी भाई उसको तिरस्कार की नजर से ही देखकर टरका देना चाहता है, और यह कहने में जरा-सा झिझकता तक नही कि यह तो हरदम छाती छोलता ही रहता है। निठल्ले को कहाँ तक खिलाया जाए ? लेकिन अगर इस सम्पन्न भाई से पूछा जाय कि, 'अजी, आपने आज तक सचमुच में उसकी कितनी सहायता की है ?' तो वोलती वन्द। इसके अलावा, क्या यह भी सच नहीं है कि खुद यह सम्पन्न भाई अपने

से अधिक सम्पन्न व्यक्ति की कदमपोशी करने में सदा तत्पर रहता है ?

पुराने जमाने में विवाह-शादी के अवसर पर भोज होता, तो बिरादरी के सभी भाई आमन्त्रित होते। पच बैठे-बैठे देखते रहते कि कौन आया, और कौन नहीं आया। कोई भाई नही आता, तो फौरन घर के ही आदमी उसके घर दौडाये जाते, और जैसे-तैसे उसको लाया जाता। जब तक सब भाई जीम न लेते, तब तक पंच लोग भोज पर नही बैठते थे। उनका दायित्व बहुत गम्भीर एवं गुरु था। फलस्वरूप, छोटा भी बडे का बडा मान करता। उसका कृतज्ञ बना रहता। बिरादरी में एकता की लडी मजबूत बनी रहती। लेकिन आज यह बात काफूर हो गई है। फलत ईर्ष्या एव द्वेष का नग्न ताडव चारो तरफ दृष्टिगोचर हो रहा है।

हम आशा करते है कि प्राचीन एव अर्वाचीन काल का यह चित्रण कुछ लम्बा होने के बावजूद असंगत नही समझा जायेगा।

दुःख की घड़ी

•

भाईसाहब १५ दिन की छुट्टी पर आये थे, और यहाँ उन्हे एक महीने से अधिक लग चुका था, इसलिए उनकी बुलाहट हुई। लेकिन उनके लिए तो प्रधान प्रश्न भइया के स्वास्थ्य का था, इसलिए उन्होने साफ लिख दिया, 'मेरा भाई बीमार है। इलाज कराने में मुझे समय लगेगा। अगर सरकार छुट्टी बढाने को तैयार नही है, तो मेरा इस्तीफा मंजूर हो।' लेकिन इनकी छुट्टी स्वीकृत हो गई, और ये भइया को लेकर सिकन्दराराऊ चले आये। फिर वहाँ से अकेले ही तुरन्त देवलिया ड्यूटी पर चले गये।

थोडे दिनो के बाद वे फिर भइया को देखने के लिए आये, और कुछ लाभ न होते देख वे काफी चिन्तित हुए। उन दिनो टी० बी० का इलाज निकला ही नही था। सिर्फ वैद्य लोग इलाज करते थे, लेकिन कोई विशेष फायदा नही हो पाता था। सिर्फ समय पार करना होता था। डॉक्टर साहब की धारणा तो पहले से ही बन चुकी थी कि इलाज बैठेगा नही।

तीज का दिन था। माँ ने भाभी से कहा कि ऊपर जाकर नहा ले, तथा चोटी कर ले। भाभी ऊपर चली गईं। जब काफी देर हो गई और भाभी नहीं लौटी, तो माँ ने अशर्फीलालजी को ऊपर देखने के लिए भेजा।

उन्होने जाकर देखा कि भाभी खाट पर लेटी है। पूछने पर उन्होने कहा, 'जब से मैं यहाँ आई हूँ भइया, तुम तो मेरे पास आते ही नही हो।'

अशर्फीलालजी ने उत्तर दिया, 'भाभी, पहले तो तुम मुझे पैसे दिया करती थी। अब तो तुम कुछ देती ही नही, तो हम क्यो आयें ?'

तब भाभी ने कहा, 'मेरी जाकिट मे रुपये रखे है, ले लो। लेकिन रुपये खराब न करना। और देखो, मेरा जी बडे जोर से घबडा रहा है। तुम शीघ्र अपने भाईसाहब को बुलाओ।'

अशर्फीलालजी ने भाईसाहब को आवाज दी कि भाभी उन्हे बुला रही है। लेकिन संकोचवश भाईसाहब उठे नही, क्योकि माँ वही बैठी हुई थी। उनके आग्रह करने पर ही वे ऊपर आये। भाभी तब तक बेहोश हो चुकी थी। यह देखकर वे चिल्लाये। माँ दौडी-दौडी ऊपर आई। डॉक्टर वैद्य आये। लेकिन कुछ ही घटे के अन्दर-अन्दर भाभी सदा के लिए सो गयी। बडे भइया नीचे बीमार पडे हुए थे ही। उन्हें गहरा सदमा लगा, और भाईसाहब के दु ख का तो कहना ही क्या—उनके जीवन मे तो यह पहला सकट आया था।

हमारी भाभी अपने देवरो को पुत्रवत् प्यार करती थी, और भाईसाहब की सेवा में भी तत्परता से लगी रहती थी। माँ को जब कभी हमारी भाभी की स्मृति हो आती, नेत्रो में जल भर आता, और वे मुक्त कठ से उनकी प्रशसा करती रहती। आज के इस उन्नतिशील शिक्षित युग में भी ऐसी पुण्यश्लोका स्त्रियाँ ढूँढे भी दृष्टिगोचर नही होती। वह सचमुच बडा ही स्वर्णिम युग रहा होगा···अशिक्षिता, फिर भी आचार-विचार-व्यवहार इतना मधुर, इतना उच्च-स्तरीय कि आज भी श्रद्धा से मस्तक झुक जाता है।

देवलिया मे जमीन-पैमाईश का दफ्तर था। उसमे बाबू शिवचन्दजी काम करते थे। उनसे भाईसाहब का अच्छा परिचय था। एक दिन भाईसाहब को विशेष अन्यमनस्क देखकर वे समझाने लगे, 'इतने उदास न रहा करो। होनी तो होकर ही रहती है। अब आगे के लिए विचार करना चाहिए।'

भाईसाहब के चुप रहने से उन्हे साहस मिला, वे आगे बोले, 'मेरे छोटे भाई तनसुखराम की एक साली क्वाँरी है। वे जोधपुर मे रहते है। माता-पिता सज्जन है। हाथ तंग है। कोशिश करने पर काम हो सकता है।'

भाईसाहब जीवन की कटुता को मधुरता में बदलना ही बुद्धिमानी समझते थे। इसलिए उन्होने इस बात का समर्थन करते हुए कहा, 'लेकिन इस विषय मे पिताजी की आज्ञा बिना कुछ न हो सकेगा। यदि उनकी आज्ञा हो जायेगी, तो मैं उसे शिरोधार्य करूँगा।'

उन दिनो लडके द्वारा लडकी के देखने का रिवाज नही था। कोई सम्बन्धी, नाई या ब्राह्मण ही लडकी देखने जाता और उसकी राय ही मान्य रहती। लेकिन बाबू शिवचन्दजी ने डॉक्टर साहब से कहा, 'तुम पहले लडकी देख लो। यदि पसन्द आ जाये, तो पिताजी से कह देना।' ऐसा ही हुआ। भाईसाहब ने लडकी देख ली। लडकी इन्हे पसन्द आ गई, लेकिन पिताजी को स्वयं यह बात लिखने में इन्हे सकोच हुआ।

जब ये भइया को देखने के लिए फिर घर आये, तो माँ से इनकी बातें हुई। उन्होने आज्ञा दे दी। पिताजी की आज्ञा तो उसमें निहित थी ही। लेकिन इधर भइया की हालत दिन-प्रति-दिन बिगडती जा रही थी। इलाज बैठ नही रहा था, यद्यपि उस समय के नामी वैद्य तिवारीजी का इलाज चल रहा था। इलाज बडा कीमती पड रहा था। रुपया बेरहमी से खींचा जा रहा था। लेकिन दूसरा उपाय भी क्या था? अपने पिता की प्रथम सतान, घर का स्तम्भ, सब का आधार, आज मृत्यु-शैया पर अपने अन्तिम दिन गिन रहा था। भइया की ऐसी हालत देखकर भाईसाहब का हृदय विदीर्ण होना ही था। निर्णय हुआ कि सगाई तो कर ली जाये, किन्तु शादी पीछे होगी। सगाई कर ली गई, और ये वापस देवलिया चले गये।

थोडे ही दिनो बाद विधि ने भइया को हमसे छीन लिया। जैसे ही भाई-साहब को समाचार मिला, वे बिलखते हुए घर पहुँचे। सारा घर शोक-सागर मे डूबा हुआ था। ऐसे दृश्य से तो वज्र भी पिघलकर पानी हो जाता है। उस करुण दृश्य का चित्रण शब्दो से परे है।

जिस समय भइया धरती पर उतारे गये, उस समय पिताजी की क्या हालत हुई होगी, यह तो मैं लिख ही नही सकता। भाई अशर्फीलालजी ने इन्हें ऊपर जाते हुए देख लिया था। उन्होने इनका पीछा किया। ऊपर जाकर उन्होने देखा कि ये कुछ ढूँढ रहे है। उस चीज के मिलने पर ये उसे खोलने लगे। पुडिया मे काले-काले दाने देखकर अशर्फीलालजी को शक हुआ, और उन्होने जाकर इनका हाथ पकड लिया।

शोक-सतप्त पिताजी पागल की भाँति प्रलाप करते हुए कहने लगे, 'अशर्फी-लाल, तू मेरे कार्य में बाधक न बन। मैं कायर हो चला हूँ। मुझसे यह दुःख सहन न होगा।'

भाई अशर्फीलालजी ने माँ को आवाज दी। माँ के साथ हम सब भाई भी दौड पडे। अफीम फेंक दी गई। उन्हें नीचे लाया गया। फिर तो सारा घर ही करुण क्रन्दन कर उठा। परिवार के दुःख का तो कहना ही क्या, सारा शहर रो

रहा था। माता-पिता के होते एक नवजवान पुत्र की इतनी करुण मौत उस शहर में यह पहली थी।

सारे शहर के मुँह पर एक ही बात थी, 'हाय, विधि की कैसी विडम्बना है! उसने माता-पिता से एक ऐसे नौजवान पुत्र को छीन लिया, जो दो छोटे-छोटे बच्चों का बाप, तथा २५-२६ वर्ष की स्त्री का सुहाग था!' लेकिन क्रूर विधि के सामने हाथ मलने के सिवाय और किया ही क्या जा सकता था?

वैद्य तिवारीजी ने भी बहुत धोखा दिया। बेरहमी से घर का पैसा-पैसा खींच लिया। आखिरी दम तक हमें दिलासा देते रहे और अपना उल्लू सीधा करते रहे। माता-पिता के लिए पुत्र से बढ़कर और वस्तु हो ही क्या सकती थी? भइया कहते, 'पिताजी, घबड़ाइये मत। मुझे अच्छा होने दें। मैं आपको चाँदी के तख्त पर बैठा दूँगा।'

पिताजी कहते, 'बेटा, मेरे जीवन में तुमसे बढ़कर प्यारी वस्तु और हो ही क्या सकती है? तू तो मेरा जीवनाधार है। सोने-चाँदी के तख्त में क्या आनन्द है? वह तो जड़ वस्तु है। यह तो आन्तरिक आनन्द ही है, जिसका आभास उनमें मिलने से ही वे भी आनन्द देनेवाले दीखते हैं। खैर, तू फिक्र न कर। तेरा इलाज तो मैं अपने को बेचकर भी कराऊँगा।'

और हुआ भी लगभग ऐसा ही। उनके बिकने में कुछ कसर न रह गई थी। सारे जेवरात बिक गये। घर गिरवी रख दिया गया। दुकान बन्द हो गई। खाने तक को पैसा न रहा।

पिताजी इतने बलिष्ठ थे कि दो मन की बोरी को सहज ही उठा लेते थे। लेकिन भइया के जाने के बाद दूसरे ही दिन से इतने अशक्त हो गये कि हाथ में लाठी थाम ली। अफीम खानी आरम्भ कर दी। इस समय इनकी आयु सिर्फ ४८ वर्ष की थी।

एक दिन इन्होंने भाईसाहब को बुलाकर कहा, 'देख मदन, तेरा व्यवहार इस विधवा भाभी के साथ वैसा ही होना चाहिए, जैसा मेरा अपनी भाभी के साथ रहा था। तूने तो सब देखा ही है। यह विधवा और दोनों बच्चे अब तेरे ही आश्रित हैं। बस, इससे अधिक मैं और कुछ न कहूँगा।'

भाईसाहब ने कहा, 'पिताजी, आप धीरज रखें। आपकी इच्छानुसार ही सब कार्य होंगे। आपकी मर्जी के बिना एक पत्ता भी नहीं हिल सकेगा।'

हमारे पिता ने अपनी भाभी को माता के समान मान दिया था। घर में भी हमारी ताईजी का ही शासन था, माता-पिता का नहीं। पिताजी हमेशा उनकी आज्ञानुसार ही चलते थे। हमारे पिताजी का अपनी भाभी के साथ एक

आदर्श व्यवहार था, और इसी बल पर ये भाईसाहब से इतना कह सके थे कि, 'मेरे जैसा ही व्यवहार करना।'

हम पहले बता चुके है कि ताईजी के कोई सतान नही थी। हम सब भाइयो का लालन-पालन उन्होने ही किया था। कभी-कभी माँ तग आकर किसी बच्चे को डॉट देती, तो आफत आ जाती। ताईजी माँ से कहती, 'तुम कौन होती हो मेरे बच्चो को डाँटनेवाली ?'

माँ कहती, 'जिठानीजी, मैं तो आपके बच्चो को कभी कुछ कहती ही नहीं, लेकिन कभी-कभी ये मुझे इतना तंग कर डालते है कि डाँटना ही पडता है। आप ही क्यो नही अपने बच्चो को मना कर देती हैं कि ये मुझे तंग न किया करें।'

माँ की बात सुनकर सब हँस देते। ऐसी थी उस जमाने की सभ्यता!

भाईसाहब फिर देवलिया चले गये। ७-८ मास के बाद विवाह का प्रश्न उठा। भाईसाहब के श्वसुर ने पिताजी को चिट्ठी लिखी। जब चिट्ठी पहुँची तो घर मे बातचीत होने लगी। सबके दिल में एक ही शका थी कि हमारी विधवा भाभी क्या सोचेंगी ? जब उनके कानो में यह बात पडी, तो वे बोली, 'जी, विवाह तो कर ही लेना चाहिये। यह दु ख तो कोई एक दिन का है नही। विवाह कहाँ तक टाला जा सकता है ?'

भाभी ने जोर दिया, तो पिताजी ने मजूरी दे दी। विवाह का दिन निश्चित हो गया। मैं इस शादी के समय ४ साल का था। हम लोग शादी करने जोधपुर गये थे। इस समय तक भाईसाहब का तबादला देवलिया से जसवतपुरा (रियासत जोधपुर) हो चुका था। शादी होने के बाद नई भाभी तो अपने पीहर विदा हो गई और हम लोग वापिस आ गये। भाईसाहब जसवन्तपुरा चले गये। वहाँ वे तीन साल रहे। फिर उनका तबादला जोधपुर जेल के अस्पताल में हो गया।

उतरते। डॉक्टर उन लोगो की नब्ज और टिकट देख-देखकर उन्हे वापस डिब्बे में चले जाने की इजाजत देता चला जा रहा था। अगर किसी के बुखार का शक होता तो सिपाही उसे उतार लेते, और थोडे दिन क्वारिनटायन में रखकर फिर छोड देते, ताकि जोधपुर मे प्लेग का प्रकोप न होने पाए।

जब हमारी बारी आई, तो भाई अशर्फीलालजी बोले, 'हम नही उतरेंगे।'

सिपाहियो से हुज्जत होने लगी। इतने में डॉक्टर साहब आ धमके। बहस होने लगी। इनको जोम था डॉक्टर के भाई होने का, और डॉक्टर को जोम था सरकारी हुक्म का। बात बढते देखकर माँ बोली, 'अशर्फी, लडता क्यों है ? मदन का नाम क्यो नही ले देता ?'

डॉक्टर के कान मे मदन शब्द का पडना था कि उसने अशर्फीलालजी से पूछा, 'कौन मदनलाल ?'

जैसे ही उसे बताया गया कि डॉ० मदनलाल, कि वह तो पानी-पानी हो गया। यह मालूम होने पर कि ये उनकी माताजी है, वह माँ के पैरो मे गिर पडा और कहने लगा, 'अम्मा, इस बालक को इतनी जल्दी कैसे भूल गई ? मैं तो आपका वही गूँदीलाल हूँ, जिसको आपने सालो खिलाया था। भाईसाहब सुनेंगे, तो कहेगे कि इस लडके ने तो मेरा मुँह काला कर दिया।'

ये डॉक्टर गूँदीलाल विद्यार्थी-जीवन में हमारे भाईसाहब के आगरा मेडिकल कॉलेज के सहपाठी, और सिकन्दराराऊ के स्टेशनमास्टर के भाई थे। ये उत्तर प्रदेश के रहनेवाले थे। जब इनके भाई को पता लगा कि सिकन्दराराऊ का एक लडका आगरा कॉलेज मे भर्ती हुआ है, तो इन्हे भी प्रेरणा हुई कि क्यो न ये भी अपने भाई को मेडिकल कॉलेज मे भरती करा दें ? इन्होने हमारे भाईसाहब से सम्पर्क स्थापित किया और हमारे भाईसाहब गूँदीलालजी को अपने साथ आगरा ले आए। वहाँ उन्हें भरती करा दिया। भाईसाहब शायद उनसे एक दो कक्षा ऊपर थे।

गूँदीलालजी भर्ती तो हो गये, लेकिन वहाँ के वातावरण से इन्हे भय लगता, और ये भाग जाते। हमारे भाईसाहब इन्हे फिर समझाकर ले आते। इनको पढाई-लिखाई में भी पर्याप्त सहायता देते। भाईसाहब उस समय १७-१८ वर्ष के ही रहे होगे, लेकिन इतनी कम उम्र में ही उनके हृदय की उदारता पनप चली थी। फिर धीरे-धीरे गूँदीलालजी का मन लगने लगा। ये भी मदनलालजी को भाईसाहब ही कहकर सम्बोधित करते। हमारे घर पर भी आते। हमारी माँ को अम्मा कहकर पुकारते। इस प्रकार घनिष्ठता बढ गई थी।

कुचामन रोड से एक घटा बाद गाडी चली, और जब तक गाडी नहीं चली,

तब तक गूँदीलाल खड़े-खड़े हमसे बातचीत करते रहे। सायकाल ट्रेन जोधपुर पहुँची। स्टेशन पर भाई गौरीशंकरजी तथा लक्ष्मीचन्द्र हमें लेने आये थे। मैं ट्रेन से उतरकर ट्रेन की ओर ही मुँह किये खड़ा था कि लक्ष्मीचन्द्र ने मुझे पीछे से पकड़ लिया। फिर तो बड़े प्रेम से हम सब मिले और ताँगे से घर पहुँचे।

पुरानी औरतों को छुआछूत का बड़ा ख्याल रहता था। घर पहुँचने पर माँ सीधे भाईसाहब के कमरे में न जाकर, बैठक के कमरे में ही बैठ गईं और हाथ-पैर धोने लगीं। उधर भाईसाहब अधीर हो रहे थे· ·माँ से मिलने को। वे आवाज-पर-आवाज दिये जा रहे थे। माँ ने उसी कमरे से उन्हें धीरज बँधाया और कहा, 'अब तो मैं आ ही गई हूँ, बेटा। दिन-रात तेरे पास ही रहूँगी।'

दो-चार मिनट बाद माँ ने भाईसाहब के कमरे में प्रवेश किया। फिर क्या था, उन्हें देखते ही भाईसाहब फूट-फूटकर रोने लगे। माँ ने इनको अपनी गोद में ले लिया। तसल्ली देती रहीं। डॉ० क्राफ्ट ने पहले ही सचेत कर दिया था कि इनको माँ से हठात् न मिलने दिया जाये। माँ घर मे आ जाएं और इनको पता लग जाए कि माँ आ गई हैं, उसके थोड़ी देर बाद ही माँ-बेटे का मिलन होना चाहिए, ताकि अकस्मात् दिल पर किसी तरह का धक्का न लगे।

थोड़ी देर बाद दोनों शान्त हुए। फिर बात-चीत होती रही। एक घंटे बाद भाईसाहब ने माँ का छोड़ा।

दूसरे दिन क्राफ्ट साहब आये और उनको देखकर कहने लगे, 'अरे, तुम तो आज बहुत प्रसन्न-चित्त दिखाई पड़ते हो।'

भाईसाहब ने उत्तर दिया, 'श्रीमान, मेरी प्यारी माँ जो आ गई हैं।'

भाईसाहब २०-२५ दिन में पूर्ण रूप से स्वस्थ हो गये, और काम पर जाने लगे। पिताजी को तो पहले ही दिन राजी-खुशी का तार दे दिया गया था।

उत्तर प्रदेश में ज्यादा दिन रहने के कारण हम सब अपनी संस्कृति से कुछ दूर चले गये। एक दिन भाईसाहब ने हम लोगों को बुलाया और कहने लगे, 'देखो, अशर्फीलाल को तुम सब जने छोटे भाईसाहब कहकर पुकारा करो, और छोटा बड़े को जीकारा देकर ही बुलाये। पहले-पहल कुछ अटपटा-सा लगेगा, किन्तु बाद में तुम्हीं सब इस बात को बहुत पसन्द करोगे। अपनी भाभी को भी तुम लोगों को प्रणाम करना चाहिए। भाभी माता के बराबर होती है। हम अपनी तरफ से नहीं कहते, रामायण में भी यही लिखा है।'

उस दिन से आज तक हमारे घर में यही परिपाटी चली आ रही है। जब हम बड़े हुए, तो हमने स्वयं अनुभव किया कि उनकी सीख कितनी कीमती थी।

घर का खर्च हमारी माँ ही चलाती। हमारे भाई या भाभी का उसमें कोई दखल न था। जब तक भाईसाहब जेल के अस्पताल में रहे, तब तक कैदियो के स्वर्णिम दिन बने रहे। ये जेल के कैदियो की विशेष देख-भाल करते रहते। जेलर एक बगाली महोदय थे। वे कैदियो को जो खाना देते, उससे भाईसाहब सहमत न थे। दोनो में खटकी और जोरो से खटकी। एक दिन भाई-साहब ने क्राफ्ट साहब को खाने का मुआयना करा ही दिया। साहब का पारा चढ गया और उन्होने कारवाई करने की ठान ली।

इधर जेलर चाह रहा था कि भाईसाहब को भी लालच देकर अपने अनुकूल कर ले, लेकिन वह नही जानता था कि भाईसाहब किस धातु के बने है। अपनी मूर्खता के वशीभूत होकर एक दिन उसने भाईसाहब से कहा, 'डॉक्टर साहब, आप मेरे इतने खिलाफ क्यो रहते है ? आप भी अपना हिस्सा ले लिया करें, मुझे तो इन्कार है नही।'

सुनकर भाईसाहब अन्दर से तो तमतमा गये, लेकिन नर्मी से ही बोले, 'देखिये दारोगा साहब, रुपये की मुझे भी सख्त जरूरत है। मेरा बडा कुटुम्ब है, खर्च बहुत है, पिताजी को भी रुपये भेजने पडते है, लेकिन हराम का पैसा खाने से तो मैं भूखो मर जाना बेहतर समझता हूँ। मैं सपने में भी नही सोच सकता कि कैदियो के मुह का ग्रास छीनकर मैं खा जाऊँ। ये लोग असहाय है। इनका पेट काटकर रुपये बनाना मेरे लिए असह्य है। आपकी जो मर्जी हो सो करें, लेकिन इनको दाल-रोटी तो अच्छी देनी ही होगी।'

दारोगा अपने लोभ का सवरण न कर सका। फलस्वरूप झगडा छिड गया तथा आरोप-प्रत्यारोप होने लगे।

यहाँ पर मैं एक बात बीच में और बताना चाहता हूँ। उस जेल मे एक कैदी था। नाम था मानसिंह। सुनते है, वे एक कत्ल के मुकदमे मे फँसा दिये गये थे। यह भी सुना जाता था कि वे एक सिद्ध पुरुष थे। देखने में भी ऐसा ही लगता था। वे एकान्त में ही रहना पसन्द करते थे। उन्हे जेल में जो काम दिया जाता, उसे बडी खुशी और मन से पूरा करते थे। भाईसाहब उनकी ओर आकृष्ट हो चले थे। उनका काफी ध्यान रखते तथा किसी-न-किसी रूप में उनकी सेवा करते रहते। वैसे तो भाईसाहब के मन में सबके लिए ही सेवा-भावना थी। जो भी कैदी बीमार पडता, ये उसकी अच्छी देख-भाल रखते तथा उसे दूध भी दिलवाते, और वह भी काफी मात्रा में। इनको देखते ही कैदियो की मुखाकृति खिल उठती थी।

एक दिन भाईसाहब इन्ही योगी (मानसिंह) के पास जाकर चुपचाप खडे हो

गये। उन्होंने बडबडाते हुए कहा, 'जाओ, जाओ, पाप का घडा भर गया!' इतना कहकर वे चुप हो गये। भाईसाहब चले तो आये, लेकिन कुछ समझ न पाये।

एक दिन डॉ० क्राफ्ट अचानक स्टेट मिनिस्टर सुखदेवप्रसादजी को लेकर जेल आ पहुँचे। जब रसोईघर में गये, तो रोटियाँ अच्छे आटे की बन रही थी। दारोगा बडा खुश था। डॉ० क्राफ्ट का मुँह फक् हो गया। उन्होंने भाईसाहब की तरफ देखकर इशारा किया कि यह क्या बात है? भाईसाहब ने रसोइये से पूछा, 'सुबह से इतनी ही रोटियाँ बन पाई है, जब कि खाने का समय भी हो चला है? खैर, कोई बात नही। तुम कैदियो को दाल-रोटी देना शुरू करो।'

फिर भाईसाहब ने भडारी को बुलाया और उससे उस दिन का इश्यू रजिस्टर मँगाया।

अब तो खलबली मच गई, क्योंकि सैकडो-हजारो कैदियो की जेल में तो मनो आटे की रोटियाँ बनती थी, और वहाँ पर सामने थी थोडी-सी रोटियाँ और थोडा-सा सना हुआ आटा। तभी भाईसाहब की नजर कोने के एक ढेर पर गई, जिस पर धूल पडी हुई थी। मिट्टी अलग की गई, तो ढेर-सारी रोटियाँ निकली। रोटियाँ अधपकी, धूल भरी और बदबूदार थी। दारोगा का चेहरा फक् हो गया। मिनिस्टर साहब की भी त्योरियाँ चढ गई। फिर तो उस दारोगा की पतग ही कट गई वहाँ से।

भाई अशर्फीलालजी ने जोधपुर के रेलवे दफ्तर में नौकरी कर ली। मुझे छोड सब भाई स्कूल में भरती करा दिये गये। हम लोगो के लिए मलमल के कुर्तो की जगह कमीजें बनीं। अँग्रेजी ढग के बाल रखे गये ··यानी हम लोगो की रूपरेखा ही बदल दी गई। भाईसाहब के आग्रह से पिताजी भी देश से आ गये। हम लोगो के बदले हुए ढग को देखकर वे कुछ नाराज हुए। बोले, 'मदन, तू इन्हें अभी से शौकीन बना देगा, तो ये बिगड नही जायेंगे क्या? हमें अपना सादा चलन नही छोडना चाहिए।'

भाईसाहब ने कहा, 'ये बच्चे स्कूल जाते है। अपने साथियों को अच्छे कपडो मे पाकर इनके मन में भी तो आता होगा कि हम भी अच्छे कपडे पहनें। बच्चे स्वाभिमानी तो होते ही हैं। इनके स्वाभिमान को ठेस नही पहुँचनी चाहिये। पिताजी, आप इनकी चिन्ता करते ही क्यो है? मेरी इन पर पूरी निगाह है।'

मैं तब तक स्कूल में भर्ती क्यो नही कराया गया, कह नही सकता। लाड-प्यार ही कारण हो सकता है, क्योंकि मैं ही अपनी माँ की सबसे छोटी सन्तान था। मेरा भोलापन भी शायद कारण रहा हो।

चार-पाँच मास रहकर पिताजी वापस देश चले गये। वहाँ बरसात के बाद मलेरिया बडे जोरों से फैला। पिताजी भी इसकी चपेट में आ गये और बीमार पड गये। जब उनकी बीमारी का तार मिला, तो सब घबडा गये। भाईसाहब तो सीधे उक्त योगी मानसिंह के पास पहुँचे। हाथ में तार लिये हुए चुपचाप उसके सामने खडे हो गए। उसने आँखें बन्द किये हुए ही कहा, 'जा, जा, ठीक है, सब ठीक है।'

इनको धीरज बँध गया। ये घर आये, तो माँ बोली, 'मदन, तेरे जाने की जरूरत नही है। मैं अशर्फीलाल को लेकर चली जाती हूँ। तू चिन्ता न कर। पागल, आधी बीमारी तो मैं जाते ही हर लूँगी। हकीम का इलाज करायेंगे और उन्हें आराम हो जायेगा।'

भाईसाहब ने चलते वक्त माँ को कुनैन की पाँच-सात पुडियाँ दे दीं।'

तीसरे दिन हम लोग सिकन्दराराऊ पहुँचे। पिताजी की हालत बेशक खराब हो गई थी। अशर्फीलालजी हकीम को दवा लेने के बहाने चले गये और एक कुल्हड में शर्बत ले आये। उसमें कुनैन मिलाकर पिताजी को पिला दिया। पीने के बाद उनका मुँह कडवा हो गया। वे गुस्से से तमतमा गये और बोले, 'तूने तो मुझे खारा जहर पिला दिया है · मेरा सिर चक्कर खाने लगा है।'

भाई अशर्फीलालजी बोले, 'पिताजी, घबडाइये मत। मैं जरा-सा दूध ले आता हूँ। उसको पीने से चैन पड जायेगा।'

पिताजी ने दूध पीना स्वीकार कर लिया। दूध पीते ही उन्हे काफी चैन मिला। दो बार और दूध पिलाया। उन्हें हुक्का पीने की आदत थी, सो वह भी पिलाया गया।

उसके बाद दो दस्त हुए और उनकी तबियत काफी ठीक हो गई। तब उन्होने हँसते हुए कहा, 'हकीमो की दवा तो कडवी होती नही। यह दवा मदन ने भेजी दीखती है।'

भाईजी ने सच बात बता दी, तो पिताजी बोले, 'पहले क्यो नही बताया ?'

भाईजी ने उत्तर दिया, 'पहले बताने से आप दवा ले लेते क्या ?'

फिर तो दो दिन तक पिताजी कुनैन लेते रहे और पूर्ण स्वस्थ हो गये। तब अशर्फीलालजी हमारी सबसे बडी भाभी को लेकर जोधपुर चले गये।

माँ के जोधपुर से सिकन्दराराऊ आने से पहले ही भाई अशर्फीलालजी को प्रथम पुत्री हो चुकी थी। हमारे यहाँ यह प्रथम लड़की आई थी, इसलिए सभी को बडा उल्लास था। उसका स्वागत बडी उमंग के साथ हुआ। हमारी माँ भी अत्यधिक सन हुई प्रथी। वे बोली, 'देख मदन, मेरे घर की देहली अभी तक

क्वाँरी थी। भगवान ने कृपापूर्वक लडकी दी है। अब देहली पूज सकेंगे।'

बेटे ने उत्तर दिया, 'माँ, इसका विवाह उमग के साथ करेंगे। तेरी आज्ञानुसार ही सारे काम होगे। शादी-ब्याह में सुवासिनी की कमी बडी खटकती थी। प्रभु ने वह भी पूरी कर दी।'

हमारी यह भतीजी घर में सभी को बहुत प्रिय थी। विचारी को चाचा, ताऊ, और ताई की गोद से फुरसत ही नही मिलती थी। भूख लगने पर ही वह थोडी देर के लिए माँ की गोद में जाती थी। हम सब उसे अपनी सगी बहन बराबर ही मानते थे। उसका भी हम लोगो के बिना मन नही लगता था।

यह तो बता ही चुके हैं कि उन दिनो भाई अशर्फीलालजी सिर्फ १५) रु० मासिक पाते थे, लेकिन हमारे घर में किसी को खयाल ही नही आता था कि कौन कितना कमाता है, और कौन नही कमाता। हमारे यहाँ व्यक्ति का मापदण्ड पैसा नही था, वरन् आत्मीय सम्बन्ध था। हम सब भाई भाईसाहब से ज्यादा अशर्फीलालजी से डरते थे। जब शाम को वे पाँच बजे आफिस से आते, तो हम सब पहरा लगाने लगते कि कही भाईजी आ तो नही रहे है। जैसे ही उनके आने की खबर मिलती, कि सब चुपचाप पढने को बैठ जाते।

हमारी भाभी और माँ हँसतीं, तो हम नाराज होकर कहते, 'हमें पिटवाना है क्या?' इस पर वे चुप हो जातीं, और हम लोग पढने में इस कदर लीन हो जाते मानों कितनी ही देर से पढ रहे हों। इनको हम छोटे भाईसाहब ही कहकर पुकारते थे। भाईसाहब तो सिर्फ डॉक्टर साहब को कहते थे। भाईसाहब अधिकतर घर पर नही रहते थे। घर पर तो बस दोपहर को खाने-पीने के समय तथा रात्रि को ही रहते। सुबह से बारह बजे तक तो अस्पताल में रहते तथा तीसरे पहर किसी विजिट पर या मित्र-मडली में चले जाते। इनकी मित्र-मंडली में ज्यादातर उत्तर प्रदेश के उच्चपदस्थ अफसर थे। लेकिन इन्हें ऊँच-नीच का कोई खयाल न था। व्यवहार सबके साथ बडा ही अच्छा था। इसीलिए सबके प्रिय थे।

एक दिन छोटे भाईसाहब किसी बात पर गौरीशकरजी पर गुस्सा हो गये। क्रोध कुछ विशेष आ गया और पीटना शुरू कर दिया। सयोगवश चोट कुछ ऐसी लग गई कि गौरीशकरजी के हाथ की हड्डी टूट गई। अस्पताल से भाईसाहब बुलाये गये। उन्होंने आकर पट्टी बाँध दी। छोटे भाईसाहब डर गये कि न जाने भाईसाहब क्या कहेंगे, लेकिन उन्होंने एक शब्द भी न कहा। उन्हें इस बात का बडा खयाल रहता था कि बच्चों के दिल में बडो के लिये पूरा अदबमान होना चाहिए। इसीलिए उन्होने अशर्फीलालजी से कुछ न कहा। नही तो शायद बच्चे फिर उनसे डरना ही छोड देते।

हम लोग भाईसाहब से डरते थे, इसलिए नही कि वे खूँख्वार थे या हरदम मारते-पीटते रहते थे, बल्कि उनके चेहरे पर ही इतना रुआब था कि उनके सामने जाने की हमारी हिम्मत नही होती थी। मुझे तो यह भी याद नही आता कि कोई ऐसा मौका आया हो, जब कि वे खडे हो और हम बैठे रहे हों। उन्होंने हमारा कोई लाड न लडाया हो, ऐसी बात भी नही थी। इसका खुलासा करते हुए उन्होने बाद में एक दफा कहा भी था कि, 'अगर मैंने तुम लोगो का ज्यादा लाड लडाया होता, तो तुम लोग बिगड जाते। मैं नही चाहता था कि कभी तो लाड लडाऊँ, और कभी दुतकारूँ। मेरे इस व्यवहार ने तुम लोगो को मर्यादा मे रखा और आज तुम लोग लायक बन गये।'

उन्होने जीवन भर में मुझे सिर्फ एक बार ही एक थप्पड मारा था जब मैं ९-१० साल का था। मैंने एक स्वाग देखने की जिद्द पकड ली थी और भाई-साहब को यह बात पसद न थी। अन्य भाइयो को भी शायद एकाध बार ही मार पडी थी। आखिर मार खाने की नौबत आती ही कैसे, जब कि वैसे ही डर के मारे हमारे पसीना छूटता था। आतक जमा रहता। आज मुझे ऐसा खयाल होता है कि यह आतक नही था। आतक मे निर्दयता होती है। लेकिन यहाँ तो भ्रातृ-हृदय लहरा रहा था। यह अकुश था, जिसके अभाव में कोई भी मनुष्य गलत रास्ते पर चल सकता है। आज जाति का अकुश जाता रहा है, इसीलिए हम जाति-भ्रष्ट हो गये है। विद्यार्थियो पर से अध्यापको का अकुश जाता रहा है, इसीलिए आज स्कूलो और कॉलेजो मे क्या-क्या घटनाएँ घटती है, यह हम लोग अच्छी तरह जानते ही हैं।

एक आदर्श भाभी

जिन्होंने माँ की तरह लेखक के बचपन को सँवारा-सजाया

भाभी कहती, 'क्या हुआ ? यह कैसे कहा तुमने ?'

हम कहते, 'माँ हमको डाँट रही थी।'

भाभी कहती, 'अजी, पानी पीओ न। अम्माजी तो यो ही कहती रहती हैं।'

माँ भाभी से कहती, 'बेटा, तैंने देखा नही ! तेरे ससुरजी अपनी भाभी से कितने डरते थे। क्या मजाल कि उनके सामने अपने लडको से बोल भी लें। जो भाभी कहती, वही होता। भाभी की मरजी के बिना एक पत्ता भी नही हिल पाता। यह आदर्श तो इनको भी सीखना ही चाहिए। घर की मर्यादा मिटाई नही जा सकती।'

पिताजी की निष्ठा

०

पिताजी को कुनैन देने से आराम हो गया और अशर्फीलालजी वापस जोधपुर चले गये। इस समय पिताजी के पास थे मेरे चौथे भाई मोहनलालजी, छठे भाई अनन्तरामजी, मैं, और माताजी। मंडी में हमारी गल्ले की दुकान थी। आढत का काम भी होता था। मंडी चारो तरफ से दुकानो से घिरी हुई थी। इसमें तीन बडे-बडे फाटक लगे हुए थे। इस मडी के दुकानदारो में पिताजी का बडा मान था। मैं भी उन लोगो का पूरा स्नेह पाता। मैं पाठशाला जाता और छुट्टी होते ही मडी की ओर दौड जाता। फिर भोजन के समय पिताजी के साथ ही घर आता।

मेरे पिताजी ब्राह्मणो के प्रति बडे श्रद्धालु थे। हमारी गली के एक नुक्कड पर पं० वासुदेवजी का मकान था। पिताजी प्रतिदिन नियम से वहाँ कुछ देर ठहर कर पंडितजी से बातें करते। दोनों मे मित्र-भाव था। वे नियमित रूप से मन्दिर जाकर शिवजी का पूजन भी करते थे।

पिताजी की बोली जरा बुलन्द थी। गली में आवाज पहुँचते ही सब घरो के दरवाजे बन्द। घरो में स्त्रियाँ इतने मध्यम स्वर में बोलती कि कही लालाजी के कान में उनकी आवाज न पड जाये। यह था उस समय की मान-मर्यादा का वातावरण।

मेरे पिताजी पगडी पहनते थे। गल्ले की दुकान होने पर भी पिताजी साफ-सुथरे रहते थे। हमारे घर के सभी सदस्य सफाई-पसन्द थे। क्या स्त्री, क्या पुरुप और क्या बच्चे—सभी सफाई का खयाल रखते थे।

हम लोग अपने पिताजी को चाचा कहकर पुकारते थे। इसका कारण शायद यह था कि हमारे ज्येष्ठ भ्राताओ का जन्म हमारे दादाजी एव ताऊजी के जीवन-काल में ही हुआ था, अत उनके सम्मानार्थ हम लोगो से पिताजी को चाचा कहलाना ही ज्यादा उचित समझा गया था। आगे चलकर मेरी लडकियाँ भी मुझे तथा मेरी स्त्री को चाचा और चाची कहकर ही सम्बोधित करतीं। लेकिन जब वे निरन्तर हमारे पास रहने लग गई, तो एक दिन उन्होंने सलाह की, कि भविप्य में वे मुझे बाबूजी कहेंगी और अपनी माता को माँ। दोनो में द्वन्द्व होता रहा कि बाँध को पहले कौन तोडे? हम लोग हँस रहे थे कि इतने में छोटी बच्ची बोल उठी, 'बाबूजी! माँ!!' मैंने हँसकर कहा, 'हाँ बेटा, क्या बात है?' वह बोली, 'अब से हम सब आपको बाबूजी ही कहेंगी।' मैंने उत्तर दिया, 'जैसी तुम्हारी मर्जी।'

मेरे दादा-दादी का देहावसान एक ही दिन हुआ था। वह दिन था आसोज बदी नवमी का। पहले दादी की मृत्यु हुई। उनको ले गये। दादाजी भी बीमार थे। उन्हें दादी की मृत्यु का वृतात बताया नही गया। भाई अशर्फीलालजी खेलते-खेलते उनके पास चले गये। दादाजी पूछने लगे, 'स्त्रियाँ गाना क्यो गा रही है?'

वे बोले, 'वे तो रो रही है। दादीजी आज मर गई और उनको ले भी गये।'

दादाजी ने कहा, 'है! अच्छा, तू अपनी ताई को बुला।'

ताईजी आई। दादाजी ने कहा, 'जल्दी जमीन को साफ करो। मुझे नीचे उतार दो। तुलसी-पत्र तथा गगा-जल मुँह में दो।'

ज्यो ही उनको धरती पर उतारकर मुँह में गंगा-जल छोडा, त्यो ही जीवात्मा ने भी शरीर को छोड दिया। आदमी दौडाये गये। दादीजी का अग्नि-सस्कार होने ही जा रहा था कि उसे रोक दिया गया। पिताजी और ज्येष्ठ भ्राता आदि वापस घर आये और दादाजी को भी ले गये। एक ही चिता पर दोनो का अग्नि-संस्कार किया गया।

श्राद्ध-पक्ष की नवमी का दिन आया। यही हमारे दादा-दादी की मृत्यु-तिथि थी। पिताजी ने अपने श्रद्धेय पडित-वर्ग को निमत्रित किया। रसोई बनी।

पंडित लोग आये। पिताजी उनके चरण प्रक्षालन करते गये। पंडित लोग आसन ग्रहण करने लगे। इसके उपरान्त तर्पण-क्रिया हुई। पंडितों ने तर्पण कराया।

मैं गौर से देख रहा था। बच्चों के मानस-पटल पर सब बातें तस्वीर की भाँति अंकित हो जाती हैं। जब वह बड़ा हो जाता है, तब वही बातें समन्वित होकर स्पष्ट रूप से सामने आ जाती हैं। बच्चों के चरित्र-निर्माण में संस्कारों का महत्वपूर्ण स्थान होता है। शुरू में तो ये संस्कार निगेटिव (ऋण) रूप में रहते हैं, और आगे चलकर पोजीटिव (धन) रूप धारण कर लेते हैं। फिर ये संस्कार ही स्वभाव बन जाते हैं।

तर्पण के बाद पंडित-भोज हुआ। पंडित लोग भोजन करने लगे। पिताजी बड़ी श्रद्धा से परिवेषण कर रहे थे। भोजन माताजी ने बनाया था। पिताजी ने पूछा, 'भोजन कैसा बना है ?'

पंडित लोग भोजन की प्रशंसा करने लगे। पिताजी ने फिर आग्रह से पूछा, 'कोई कसर तो नहीं रही ?'

उनमें से एक बोल उठे, 'हलवा बहुत अच्छा बना है, लेकिन कुछ गुड़ ज्यादा पड़ गया दीखता है।'

पिताजी चुप हो गये। भोजन कराने के पश्चात् पंडितों तथा मिसरानी आदि को दक्षिणा देकर विदा किया।

उन लोगों के जाने के बाद पिताजी भोजन करने बैठे। भोजन करते हुए बोले, 'भोजन में कुछ खोट रह गई। ऐसा प्रतीत होता है कि यह साल अच्छा न रहेगा। खैर, प्रभु की इच्छा।'

पिताजी कुछ खिन्न-मन हो गये।

माताजी बोलीं, 'इतना विचार नहीं करना चाहिए। पाक तो रसायन है। कभी चाशनी बैठी, कभी न बैठी। इसमें ऐसी खास बात क्या है ?'

बात आई-गई हो गई। मार्गशीर्ष के महीने में माता, पिता तथा हम तीनों भाई एक ही कमरे में सो रहे थे। रात में चोर आये और बाहर पड़े बर्तन-भांडे लेकर चम्पत हो गये। दूसरे दिन सुबह उठे तो देखा, मैदान साफ था।

पिताजी का देहावसान

०

सिकन्दराराऊ मे बागला लोगो का भी एक परिवार था। वे हमारे सम्बन्धी थे। उनके घर में लडकी की शादी होनेवाली थी। कानपुर जाकर विवाह करना था। लडकी के पिता श्री तेजपाल बागला ने पिताजी को भी साथ चलने पर जोर दिया। दबाव ज्यादा पडा। पिताजी कानपुर चले गये। वहाँ प्लेग फैल रहा था। खैर, शादी हो गई। करीब १५ दिन बाद पिताजी घर लौट आये।

पिताजी सबेरे पहुँचे थे। उनके आने के पूर्व ही मैं पाठशाला चला गया था। दोपहर में पाठशाला से घर आया, तो पिताजी को घर पर न पाकर मैं दुकान चला गया। दुकान पर भी जब न मिले तो वापस घर आया। उस समय पिताजी हाथ-पैर धोकर धोती बदल रहे थे। वे मुझे गोद में न ले सके। उनकी तबियत खराब हो चली थी। उन्होने भोजन भी नही किया। खाट पर जाकर लेट गये। थोडी देर में उनको काफी बुखार हो गया। दूसरे दिन सन्निपात में आ गये। बेहोशी में बोले, 'देखो, कितना सुन्दर रथ आया है! झालर-घंटे लगे हुए है। कितनी मधुर ध्वनि है इन घंटिकाओ की! रथ मुझे लेने आया है।'

कुछ पूछने पर चुप हो जाते, या जो बोल रहे होते, वही बोलते रहते। तीसरे दिन गो-दान हो गया, और उसी अर्द्ध-रात्रि को पिताजी ने शरीर त्याग दिया।

सुबह होने पर सब जगह खबर फैल गई। लोग आये और उनको ले गये।

मैं देखता रह गया। यह क्या हो गया ? मैं कुछ भी नहीं समझ सका। मैं उस समय आठ-नौ वर्ष का था। दूसरे दिन मैं घूमता-फिरता मंडी पहुँचा। हमारी दुकान तो बन्द रहनी ही थी। मैं एक जगह बैठ गया। क्या-क्या सोचता रहा— कह नहीं सकता। उस समय मुझ में भोलापन बहुत ज्यादा था। इतने में एक दुकानदार ने, जो कि हमारी ही जाति का था और पिताजी से घनिष्ठता रखता था, आकर मुझे एक दोना भुने हुए चनों का दे दिया। मैंने उसमें से खाया या नहीं, याद नही। लेकिन मुझे यह दोना अपमानजनित-सा लगा। स्वाभिमान को ठेस लगी। मैं घर आ गया। किसी से कुछ कहा नहीं।

हमारे तृतीय भ्राता देवकीनन्दनजी तीसरे या चौथे दिन मोतीहारी से आये। मोतीहारी में उन्होंने कपडे की दुकान कर रखी थी। उन्होंने अपनी दुकान अच्छी जमा ली थी। जब ये घर पहुँचे, तो मैं दरवाजे पर ही खडा था। मैं इनसे लिपटकर रोने लगा और बोला, 'भइया, चाचा मर गये। मैं मंडी गया था, तो अन्ना ने मुझे चने दे दिये।' अपमान की भाप इस समय निकली।

भाईसाहब के आने की अभी तक कोई खबर नही थी। न कोई तार, न चिट्ठी। शहर में बडी चर्चा होने लगी। स्त्रियाँ कहती, 'देखो, कैसा समय आया है! बडे बहू-बेटे ही नहीं आये। ये छोटे-छोटे बालक क्या करेंगे ?'

इस तरह की बातें सुनकर माँ बडी संकुचित होती। किसी का मुँह तो बन्द किया नही जा सकता।

पाँचवें रोज इक्का खुडका और गली के मुँह पर आ खडा हुआ। भाभी उतरी, और रोती हुई घर में चली गई। अब तो बडी जोर की चिल्लाहट मची। मैं घर के दरवाजे पर खडा था। भाईसाहब से चिपट गया और लगा फूट-फूटकर रोने।

रोते-रोते ही बोला, 'चाचा···मर गये।'

भाईसाहब ने मुझे गोद में ले लिया और चूमकर बोले, 'किसने कह दिया तुमसे कि तेरे चाचा मर गये ? चाचा तो मेरे मरे है, तेरे नही।'

भाईसाहब अन्दर गये। माता के धोक दी। अब तक जो औरतें तरह-तरह की बातें बना रही थी, भाईसाहब का व्यवहार देखकर सब-की-सब सहम गईं। सारे घर में जान आ गई। हम सब भाइयो ने आकर इनके धोक दी। माँ घूँघट में से ही बोली, 'मदन, इतनी देर क्यों लगा दी ?'

भाईसाहब ने उत्तर दिया, 'माँ, बिना बन्दोबस्त किये आता कैसे ? मैं तो घर की स्थिति जानता ही हूँ।'

शहर में बात फैल गई कि बडा बेटा आ गया है। लोग आपस में बात

करने लगे, 'देखो, क्या करता है ?' कोई कहता, 'अजी, जाने दो ! सरकारी आदमी हैं और इस पर भी आर्य-समाजी ! यह क्या करके निहाल करेगा ?' कई कहने लगे, 'नही, ऐसी बात नही है । बडा लायक है । इसकी बराबरी कौन कर सकता है ? सामर्थ्यवान है । अपनी सामर्थ्यानुसार करेगा ही ।' इस तरह लोग अपना-अपना राग अलापने लगे ।

रात्रि के समय हमारे जाति-भाई सोनीरामजी गोयनका आये । भाईसाहब से कहने लगे, 'भाई, तुम्हारे आने में देरी हो गई ! लोगो ने तो शहर को ही सिर पर उठा रखा था ।' खैर, कोई बात नही । अब तुम आ ही गये हो । सब ठीक हो जायेगा । मेरी तो राय है कि समय खराब है, छोटे-छोटे बच्चे है । सोच-समझकर सब काम करना चाहिए । कैसे-कैसे क्या-क्या करने का विचार है ? चाचीजी से भी सलाह-मशविरा कर लेना चाहिए ।'

भाईसाहब ने बडी विनम्रता से उत्तर दिया, 'मैं किससे सलाह-मशविरा करूँ ? ये सब तो छोटे है । माता से भी क्या पूछना है ? मैंने तो यही सोचा है कि जिस तरह मेरे पिता ने अपने पिता का कारज किया था, उसी पद्धति से मैं भी करूँ ।'

दूसरे दिन भाईसाहब ने श्राद्ध-कार्य को अपने हाथ मे ले लिया । लोग चकित रह गये । यह क्या ? आर्यसमाजी होकर भी अपने लोगो की तरह ही सारे कार्य कर रहा है !

श्राद्ध-कार्य सुचारू रूप से सम्पन्न हुआ । द्वादशा हुआ और तेरहवी हुई । ब्राह्मण-भोज हुआ । बिरादरी हुई । ब्राह्मणो ने डटकर खाया । दक्षिणा देकर उनको विदा किया । शहर में वाह-वाही हुई ।

भाईसाहब ने न तो देवकीनन्दनजी से ही कहा कि क्या लाये हो, और न मोहनलालजी से ही पूछा कि दुकान में कुछ रकम है या नही ? अपने पास से ही सब खर्च किया । माताजी से पूछने की तो बात ही क्या थी ।

इधर कुछ दिनो से हमारी माताजी एव हमारी एक भावज के बीच (जो दूर के रिश्ते में थी) काना-फूसी हो रही थी । उक्त भाभी ने माँ से कहा, 'पीतसजी (चचिया सास), समझ-बूझकर काम करना । अभी तुम्हें बच्चो को लेकर इन लोगो के साथ जोधपुर नही जाना चाहिए । मदनलालजी सरकारी आदमी है । इनका क्या विश्वास ? न जाने कब आँख फेर लें ! मैं तो यह ठीक नही समझती कि तुम सब को लेकर इनके साथ चली जाओ ।'

मेरी माता कुछ शकित हो गई । स्त्री-जाति दूसरों की बातो में जल्दी ही आ

जाती है। मेरी भाभी ने इन बातो को सुन लिया और भाईसाहब को बता दिया।

चौदहवें दिन भाईसाहब बोले, 'दुकान उठा देनी चाहिए। किसी का लेना-देना हो तो साफ कर देना चाहिए। मुझे कभी भी बर्दाश्त न होगा कि मेरे पिता के नाम पर किसी तरह का आक्षेप आये।'

भाई देवकीनन्दनजी ने भी समर्थन किया। देवकीनन्दनजी के साथ भाई मोहनलालजी का जाना निश्चित हुआ। बाकी सारा परिवार भाईसाहब के साथ। माताजी के सामने जब यह प्रस्ताव आया, तो वे कहने लगी कि बरसी हुए विना वे घर नही छोड सकती। भाईसाहब कुछ न बोले।

इधर प्लेग का प्रकोप फैलना शुरू हो गया था। छिटपुट केस होने लगे। लोग भाईसाहब को इलाज के लिए बुला ले जाते और ये विना फीस लिए ही जाते। माँ ने पूछा, 'मदन, तू घर पर नही रहता। कहाँ चला जाता है?'

भाईसाहब ने उत्तर दिया, 'मरीजो को देखने चला जाता हूँ, माँ।'

माँ बोली, 'यह नही हो सकता। तू बाल-बच्चो को लेकर यहाँ से चल दे। मैं बाद मे आ जाऊँगी।'

भाईसाहब बोले, 'माँ, जाने की ऐसी जल्दी ही क्या है? यहाँ भी तो लोगो की सेवा हो जाती है।'

माँ ने कहा, 'तू प्लेग के मरीजो को देखने मत जाया कर।'

भाईसाहब बोले, 'माँ, यह कैसे हो सकता है कि लोग मुझे बुलाने आयें और मैं जाने से इन्कार कर दूँ? मैं इसी भूमि की जलवायु में पला हूँ। ऋण अदा करना मनुष्य का धर्म है न? यह तो तू मानेगी ही।'

माँ घबडाकर बोली, 'आखिर तू चाहता क्या है? अपने मन की बात को बताये विना मुझे मालूम कैसे हो?'

भाईसाहब ने कहा, 'माँ, मैं साफ-साफ कह दूँ कि विना तेरे को लिए मैं यहाँ से सरकूँगा नही, चाहे जितने दिन रहना पडे। यदि मुझे कोई आधी रात को भी बुलायेगा, तो मैं जाये विना नही रहूँगा।'

माँ का दिल दहल गया, कहने लगी, 'अच्छी बात है, चलने का इन्तजाम कर। जो सामान साथ चल सकता हो, वह साथ ले लो। भारी सामान सोनीरामजी के यहाँ रख दो। घर खाली कर दो। घर को ताला लगाकर चले चलेंगे। दुकान उठा दो।'

फिर क्या था, फौरन तैयारी हो गयी। हम सभी चल पडे भाईसाहब के

साथ—जोधपुर को। भाई देवकीनन्दनजी और मोहनलालजी मोतीहारी चले गये।

यहाँ इतना उल्लेख कर देना आवश्यक है कि हमारे भाईसाहब को इस समय पचास रुपये माहवारी मिलते थे। फीस द्वारा भी थोडी-बहुत आमदनी हो जाती थी। हमारी भाभी की उम्र उस समय सिर्फ १७-१८ साल की थी। पहले ही लिख आये है—हमारे भाई का यह दूसरा विवाह था। इस उम्र में स्त्रियों को खाने-पीने की तथा आराम से रहने की स्वाभाविक लालसा रहती है। पराधीनता कोई भी व्यक्ति पसन्द नही करता। स्वतत्रता सबको प्रिय है। मनुष्य का स्वभाव ही ऐसा है। फिर स्त्री का देवरो से, सास से, जेठुतो से कोई निजी खूनी सम्बन्ध तो होता नहीं। यह सम्बन्ध जुडते है पति के नाते।

बडी गृहस्थी के पाश में पडने से खाने-पीने की स्वतत्रता तो काफूर हो ही जाती है, उसके अतिरिक्त रात-दिन काम में भी पिलना पडता है। यह रात-दिन का करमकूट किसको पसन्द आये ? फिर चौबीसो घटे सास का अंकुश। सास की त्रास। इन भावनाओ का किसी भी स्त्री के हृदय में आ जाना अस्वाभाविक नही है, और इन भावनाओ के वशीभूत अगर वह दूसरे की गृहस्थी की आफत टालना चाहे तो इसमें हम कोई गलत बात नही देखते। टल जाने का मौका भी अगर उपस्थित हो, तो फिर कहने की बात ही क्या है। लेकिन इस आदर्श नारी के हृदय को इस प्रकार की कुत्सित भावनायें छू भी नही गई थीं।

भाईसाहब के लिए भी इस आफत से बचने का अच्छा अवसर था। लोक-निन्दा के भी डर की संभावना नही थी। जब माँ जाना नही चाहती, तथा बरसी के पहले घर छोडना शास्त्र-विधि से वर्जित है, तो फिर किया ही क्या जाये ? सबसे अच्छा रास्ता था कि हमलोग माँ के साथ यहाँ पर ही रहें, और भाईसाहब माहवारी खर्च के रुपये भेज दिया करें। हमलोगो का माँ के आश्रित लालन-पालन होता रहता और इन दोनो की भी चैन से कटती रहती। लेकिन पुरुष-सिंह को और उसकी सिहनी को तुच्छ स्वार्थ की ये कुत्सित भावनायें छू भी कैसे सकती थी ? वह भी तो अपने आदर्श पिता का आदर्श पुत्र था। माता का भी कही भार होता है ? एक कोख में लोटते हुए भाई एक ही शरीर के तो अवयव होते है। कही अवयव भी शरीर से अलग रह सकते है ? अगर सयोगवश कोई अवयव कमजोर पड जाये, तो शरीर उतना ही कमजोर हो जायेगा। वह कमजोर अवयव हृदय का शूल बन जायेगा। इस निरन्तर के शूल से बचने के लिये मनुष्य अपने इन अवयवो को स्वस्थ रखने में सदा-सर्वदा सचेष्ट रहता है।

शरीर को अपने अवयवो की सुरक्षा करने मे अहकार नही महसूस होता। हो भी कैसे ? वह तो अपने को ही स्वस्थ बना रहा है। इसी में उसको सुख है। आनन्द है। स्वस्थ अवयवो के बिना वह जिन्दा रह ही कैसे सकता है ? सभवत यही उदार भावनायें खेल रही होगी इस महात्मा के कोमल हृदय-पटल पर। और भाभी तो अपने पति-देव की सहगामिनी थी। सह-धर्मिणी थी। विपरीत भावना भला उनके हृदय में कैसे प्रवेश पा सकती थी ?

ऐसी दिव्य आत्माओ की स्मृति हृदय को बडा ही पवित्र बनाती है। कमजोर आत्माओ को बल प्रदान करती है। आनेवाली सतान की पथ-प्रदर्शक बनती है।

हाँ तो, जोधपुर के रास्ते मे हम लोग कहाँ उतरे, कहाँ चढे, क्या खाया-पीया, कुछ स्मरण नही। सायंकाल जोधपुर पहुँचे। सब लोग हमे लेने स्टेशन आये थे। मेरे अन्य भाई, जो जोधपुर ही रह गये थे, अब माताजी से चिपटकर रो पडे।

माँ सब भाइयो को धीरज बँधाती हुई बोली, 'तुम लोग क्यो रोते हो ? तुम लोगो के माँ-बाप तो तुम्हारे सामने खडे है। अगर बाप मरा है, तो इसका मरा है। दु ख है, तकलीफ है, तो इसको है। तुम्हारी यह भाभी, भाभी नही है—माता है। मुझसे ज्यादा आदर की अधिकारिणी है। यही जिद् करके हम सबको यहाँ बटोर लाई है। धन्य है इसके माँ-बाप !'

सुनकर हमारी भाभी संकोच मे पड गईं। बोली, 'माताजी, ऐसा न कहे। मैं तो सिर्फ आपकी बच्ची हूँ। जैसे वे, वैसे ही मैं। मुझे तो यही आशीर्वाद दें कि मैं आपके चरण-कमलो के आश्रित रहकर अपने पति के धर्म को निभाने मे समर्थ बनी रहूँ।'

इसके पश्चात् हम सब लोग ताँगो में बैठकर घर रवाना हुए।

हम लोग पहले की तरह फिर रहने लगे। इस देवतुल्य भाई के घर का वातावरण पितृत्व-भावना से ओतप्रोत था। हमें तो स्मरण ही नही कि हम कभी भी भाई के आश्रित रहकर पले हो।

अनन्तरामजी का मोतीहारी-गमन

०

पिताजी के विशेष सानिध्य में रहने के कारण पितृ-वियोग ने भाई अनन्तरामजी के हृदय पर कठोर आघात किया था। ये बिलबिला गये। इस समय इनकी अवस्था १७ साल की रही होगी। पिताजी के समवयस्क पुरुष को देखते ही कह उठते, 'यह देखो, पिताजी !' फिर उसके पास आने पर धक्क से चुप हो जाते। किताब या समाचार-पत्र में किसी वयोवृद्ध पुरुष की फोटो देख लेते, तो व्याकुल हो उठते और घटो देखते रहते। इन्हें ऐसा महसूस होता कि सचमुच पिताजी की ही फोटो है। वियोग की यह बीमारी दिनो-दिन बढती गई। घर में अकेले बैठे रहने से भाई अनन्तरामजी की शोकातुरता बढती गई। जो आदमी घर पर और बाजार में सदा पिताजी के साथ रहा, उसे अब यह वियोग कैसे सहन हो ? माँ शकित रहती कि लडका कही कुछ अपघात न कर बैठे।

भाई अशर्फीलालजी भी इनका कष्ट न देख सके। आखिर दोनो भाइयो में अभिसंधि हुई, और तय हुआ कि ये मोतीहारी चले जायें।

अब सवाल पैदा हुआ कि ये मोतीहारी जायें, तो कैसे ? भाईसाहब की जानकारी में तो जाना मुश्किल था, वे इजाजत देते नही। लेकिन इनकी मानसिक अवस्था को देखते हुए इनका जाना भी जरूरी था। अन्त में यह तय हुआ कि तीन-चार बजे भाई अनन्तरामजी तो घर से स्टेशन चले जायें, और भाई

अशर्फीलालजी दफ्तर से सीधे स्टेशन पहुँचें। ऐसा ही हुआ। अशर्फीलालजी ने टिकट कटवाकर इन्हे ट्रेन में बैठा किया। रास्ते का खर्च भी दे दिया। ट्रेन के जाने के बाद वे घर पहुँचे।

शाम हो गई। अनन्तरामजी के न लौटने से माँ चिंतित हुई और घर मे खलबली मच गई। जब भाईसाहब घर आये, तो अनन्तरामजी के लापता होने की खबर सुनकर वे भी अत्यन्त चिंतित हो गये। पुलिस में खबर करने की बात सोची गई। मामला बढता देखकर अशर्फीलालजी ने सारी बात कह दी। सबको शाति मिली, लेकिन मोतीहारी से जब तक उनकी पहुँच का तार न आ गया, तब तक माँ को चैन न पडी।

भाई अनन्तरामजी के अचानक मोतीहारी पहुँचने से भाई देवकीनन्दनजी को बडा आश्चर्य हुआ, लेकिन साथ ही इनको देखकर वे अत्यन्त प्रसन्न भी हुए। अनन्तरामजी उनसे लिपटकर खूब रोये। उनके भी अश्रु-धारा प्रवाहित हो गई। वे बोले, 'भइया, तू इतना अधीर क्यो होता है ? तुझे कमी किस बात की है ? यह दुकान तेरी ही तो है। मैं तो स्वय तुझे बुलानेवाला था, तू अपने-आप आ गया, सो बहुत अच्छा हुआ।'

फिर इन्हें स्नान कराया और साथ-साथ जीमने बैठे। धोबी को बुलवाकर कपडे धोने को दिये। दर्जी को बुलवाकर नये कपडे बनवाये। उन्हें सिर्फ एक ही खयाल था कि भाई को किसी प्रकार की कमी महसूस न होने पाये, और किसी तरह यह पितृ-वियोग के दु ख से मुक्त हो। इन्होने दुकान पर काम उसी दिन से आरम्भ कर दिया। पिताजी के पास रहने के कारण ये बही-खाता बहुत अच्छी तरह जानते ही थे। स्वभाव से बडे गभीर व शात थे, तथा उतने ही सीधे व सात्विक प्रकृति के भी थे।

हम सब लोग जोधपुर में थे। सिर्फ तीन भाई देवकीनन्दनजी, मोहनलालजी तथा अनन्तरामजी मोतीहारी में थे। हमारी भाभी इधर गृहस्थी के काम-धधे में विशेष व्यस्त रहने के कारण अपने पीहर न जा सकी थी। भाभी के पितामह नारनौल के थे, लेकिन जोधपुर रियासत में उच्चपदस्थ होने के कारण यही बस गये थे।

भाईसाहब का लालाजी से वार्तालाप

०

भाभी के पिताजी जरा गर्म मिजाज के थे। एक रात ये कुछ क्रुद्ध-से भाई-साहब के पास पहुँचे। बैठक से जब गरम बातचीत की आवाज आई, तो भाई अशर्फीलालजी के कान खडे हो गये, और उन्हें यह जानने की उत्सुकता हुई कि क्या बात है ? जाकर देखना चाहा, लेकिन दरवाजे में प्रवेश करने के पहले ही इनको मालूम हो गया कि जामाता तथा ससुर के बीच बातचीत हो रही है, अत· प्रवेश अनाधिकार होगा। किन्तु उत्सुकता इतनी अधिक थी कि बाहर खडे होकर सुनने लगे।

भाईसाहब के श्वसुर का नास जमुनादासजी था। वे कह रहे थे, 'इतने बुलावे भेजे गये, किन्तु आपकी माताजी ने लडकी को नही भेजा ? अभी इसकी उम्र ही क्या है, कि गृहस्थी का इतना बोझ इस पर लाद दिया ? यह उम्र तो खाने-पीने की है, न कि रात-दिन काम में पिसे रहने की ? मदनलालजी, आपने भी कोई समझदारी का काम नही किया कि सिकन्दराराऊ का मकान उठाकर सबको घेर-बटोरकर यहाँ ले आये। आज तक ये लोग जहाँ रहते थे, अब भी वही रहते। वहाँ का घर भी खुला रहता। आना-जाना बना रहता। खर्च के लिए रुपये भेज दिये जाते। इनको भी आराम रहता, और आप भी सुख पाते। जोश में आकर कोई काम कर लेना बुद्धिमानी नही। मैंने सुना है कि अब तो वहाँ प्लेग भी शांत

हो चुका है। अब वहाँ रहने में कोई डर नही। अपनी जन्म-भूमि छोडी नहीं जाती। आपका वहाँ अपना मकान है। आपकी माताजी वहाँ रहे। थोडे बच्चे भी वहाँ रहे। दुकान फिर से खोल ली जाये। पैदा चालू हो जायेगी। मोहन-लालजी को भी फिर वही बुला लिया जाये। मैं सोच-समझकर राय दे रहा हूँ। मैं भी आपके पिता के समान हूँ। आपको मेरी बात माननी चाहिए। आप सुख पायेंगे। लेकिन अगर आपने अपनी जिद् न छोडी तो याद रखिये, आप पीछे पछतायेंगे। ये आपके भाई-भतीजे, जिनके लिए आप इतना त्याग कर रहे है, बडे होने के बाद, जिस तरह चिडियो के बच्चे पर आने पर अपने घोसले से फुर्र हो जाते है, उसी तरह आपको छोडकर चल देंगे, और आप मुँह ताकते ही रह जायेंगे। खैर, जो है, सो ठीक है, मैं तो बाई को लेने आया हूँ। उसको भेज दीजिये। मैं लेकर चला जाऊँ।'

हमारे भाईसाहब बडी शाति से उनकी बात सुनते रहे। अब उनके चुप होने पर बोले, 'देखिये लालाजी, आप मेरे आदरणीय एव पिता-तुल्य है। मैं आपको उसी तरह आदर देता रहा हूँ, और देता रहूँगा। आपकी शिक्षाप्रद बातो पर मैं जरूर विचार करूँगा। अभी तो रात हो गई है। इस समय आप अपनी बाई को कहाँ ले जायेंगे? कल माँ से कहूँगा, और उनकी आज्ञा मिलने पर कोई-न-कोई भाई आपकी बाई को आपके यहाँ पहुँचा देगा। वैसे यदि आप रोष न करें और आज्ञा दें, तो मैं कुछ बोलूँ ?'

उन्होने उत्तर दिया, 'आप अवश्य बोलें। आपको बोलने से तो मैं रोकता नही। अपने भावो को व्यक्त करने का आपको पूर्ण अधिकार है। इसमें मुझे क्या उज्र हो सकता है? लेकिन मैंने तो आपके भले के लिए ही कहा है। अभी आपकी कच्ची उम्र है। थोडे दिन बाद आपको मेरी बात याद आयेगी। अभी आप में जोश है। यह जोश जब ठंडा पड जायेगा, तब पछतायेंगे। 'चिडिया चुग गई खेत, तब पछताये होत क्या' वाली कहावत याद आयेगी। खैर कहिये, जरा मैं सुन तो लूँ आपकी भी बात।'

भाईसाहब बोले, 'देखिये, जिस कुल में मैंने जन्म लिया है और जिस सस्कृति में मैं पला हूँ, वह संस्कृति मुझे यह मानने के लिए विवश कर रही है कि जो मार्ग मैंने अपनाया है, वह सही है और मैं उससे विचलित न होऊँ। मैंने कोई नई परिपाटी तो अपनाई नही। मैंने तो वही किया जो एक बडे भाई को करना चाहिए।

'ज्येष्ठ पुत्र पिता का उत्तराधिकारी होता है। उस उत्तराधिकार में मुझे इस गृहस्थी की सेवा करनी मिली है। मुझे अगर बडी सम्पत्ति मिलती, तो

क्या मैं छोड देता ? ये दुध-मुँहे बच्चे मेरे रहते दूसरो का मुँह ताकें, यह कहाँ तक न्याय-संगत होगा ? आप खुद ही विचार करें।

'मेरी माँ की तो यहाँ आने की बिल्कुल ही मर्जी नही थी। आपकी बाई ही जिद्द करके उन्हे लाई है। उसी ने यह कहा था कि, 'हम प्लेग की हालत में माँ को और बच्चो को यहाँ छोडकर कैसे जा सकते है ? यह तो माँ का बडप्पन है कि वे हम पर इतना वजन नही डालना चाहती।'

'आपकी बाई ने ही मुझसे कहा था कि, 'मैं आपके धर्म-मार्ग को प्रशस्त देखना चाहती हूँ। मैं आपके धर्म-पथ मे बाधक नही होना चाहती। आपके भाई-भतीजे मेरे है और मैं सप्रेम उनकी सेवा करूँगी। मेरा भी अपना धर्म है और मैं उसे निभाना चाहती हूँ। मैं तो जब से आई हूँ, इन्ही के बीच में रहती चली आई हूँ। मुझे पूरा आनन्द है। मेरे जैसे देवर और मेरी जैसी सास भाग्य से ही मिलते है।' तो देखिये लालाजी, क्या कभी ऐसा हो सकता है कि मैं हलुआ-पूडी खाऊँ और ये बच्चे तकलीफ पायें ? अगर इन्हें शिक्षा नही मिली और ये गलत रास्ते पर पड गये, तो तकलीफ मुझे ही भोगनी पडेगी। ये आखिर है तो मेरे अवयव ही। हमने एक ही कोख में तो लोट लगाई है। सबकी नसो में एक ही तो खून बह रहा है।

'दूसरी बात यह है कि ये बच्चे मेरे आश्रित है ही नही। मैं तो माँ की सेवा करना और पिता का ऋण चुकाना चाहता हूँ। क्या आप यह चाहते है कि आपका लडका, जिसे आप हमेशा कधे पर लादे रहते है, बडा होने पर आपके लात मार दे, और बुढापे में आप रोटी के मुँहताज हो जायें ? कोई भी पिता अपने लडको से ऐसी आशा नही करता।

'इसके अलावा, एक बात और है, लालाजी। आखिर मैं होता ही कौन हूँ इनका लालन-पालन करनेवाला ? सबका पालन करनेवाला तो भगवान है। मैं तो सिर्फ निमित्त मात्र हूँ। उसकी मर्जी के बिना तो एक पत्ता भी नही हिल सकता।

'मैं आपको बताता हूँ कि जब मेरे बडे भाई कलकत्ता से आते थे तो क्या करते थे। वे आते ही बक्सो की चाबियाँ तो माँ के हवाले कर ही देते, जेब के रुपयो में से एक-एक रुपया बच्चो में बाँटकर शेष रुपये भी माँ को सौंप देते। फिर धोती ढीली करके दुबारा बाँध लेते ताकि माँ के दिल में यह न आ जाए कि अन्टी में और रुपये होगे। इस भाई से मुझे जो प्यार मिला, उसे शब्दो में बाँधना मेरी शक्ति से बाहर की बात है। क्या उनके स्त्री-बच्चो को मैं आज निराश्रित छोड दूँ और खुद चैन की बंसी बजाऊँ ? मेरी तो बस यही आन्तरिक

इच्छा है कि ये बच्चे पढ़-लिखकर अपने पैरों पर खड़े हो जाएँ।

'मैंने अपने पिता व भ्राता से जो सीखा है, वही मैं करूँगा। मेरे इस कार्य में बाधक होने का कलंक किसी को भी अपने मत्थे नहीं लेना चाहिए। लालाजी, शुभ कर्मों का फल सदा ही शुभ रहा है, और अशुभ का अशुभ।

'जब पिताजी की मृत्यु पर मैं सिकन्दराराऊ गया था, तो ये बच्चे धाड़ मारकर रोने लगे थे और कहने लगे थे, 'पिताजी चल बसे। अब क्या होगा?' मैंने इन्हें सान्त्वना दी थी कि 'तुम्हारा पिता नहीं मरा है। पिता तो मेरा मरा है। किसने कहा कि तुम्हारा पिता मर गया और अब तुम्हारी सँभाल करनेवाला कोई नहीं?' मैं अपने उस वचन को निभाऊँगा, और आपकी बाई मेरी पूरी सहायक है इस मार्ग में। आपको तो इस बात पर प्रसन्नता होनी चाहिए। आपको पता नहीं कि मेरे भाई आपकी बाई को कितना आदर देते हैं। जो सम्मान ये अपनी माँ को देते हैं, उससे अधिक भावज को देते हैं। मेरे घर का यह स्वर्गीय वातावरण आपके आशीर्वाद से बना रहे, यही चाहता हूँ।'

लालाजी बोले, 'देखिये, यह तो मुझे मानना ही पड़ेगा कि हमारी बाई के ये विचार सराहनीय हैं। फिर भी इतना तो जरूर ही कहूँगा कि अभी आपको संसार का तजुर्बा नहीं, और बाई तो अभी बिल्कुल नादान है। मुझे इन बातों का कटु अनुभव है। देखिये, मेरे ही दोनों छोटे भाई अब सामर्थ्यवान हो गये हैं, तो मुझ से बोलते तक नहीं। खैर, आपकी मर्जी। चाहे सो करें। लेकिन एक दिन मेरी बातें आपको याद आयेंगी।'

भाईसाहब ने कहा, 'देखिये लालाजी, मैं गृहस्थी की जो सेवा कर रहा हूँ, वह किसी आशा से तो नहीं। मैं अपने इस कार्य का मोल-तोल करना नहीं चाहता। मैं सेवा करता हूँ अपनी माँ की। मैं उसे कैसे तकलीफ पाने दूँ! उसका ऋण तो मुझ पर है ही। मुझे ऋणी बना रहना पसन्द नहीं।

'इन लड़कों के पढ़-लिखकर होशियार हो जाने तथा अपने पैरों पर खड़े हो जाने से मुझे जो सुख मिलेगा, वही क्या कम प्रतिदान होगा? मैं तो लालाजी, डॉक्टर हूँ। अपने मरीज को भला-चंगा देखने में ही मेरी दक्षता है, न कि वो कराहता रहे और मैं उसे चूसता रहूँ। दूसरे क्या करते हैं, इससे मुझे मतलब नहीं। मैं तो इसे उपकार करना भी नहीं समझता। मुझे जो आनन्द मिलता है, वही क्या कम है? मेरी तो यही सच्ची कमाई है। मुझे तो आनन्द प्राप्ति से मतलब है, चाहे वह खा-पीकर मिले, चाहे किसी और तरह। जब माँ की सेवा करने में ही आनन्द मिलता है, तो फिर चिन्ता किस बात की?'

लालाजी ने कहा, 'डॉक्टर साहब, आपको जो अच्छा लगे, सो करें। मैं

है, उसी प्रकार यदि उसके बच्चो के लिए भी आपके हृदय मे प्रेम की धारा बहती रहे, तो मुझे तो आशा है कि आपका वह छोटा भाई आपका पैर चूमे बिना न रहेगा। हर आदमी चाहता है कि उसके बच्चो को दूसरे भी प्यार करें। हर प्राणी प्रेम का प्यासा है। पशु मे भी प्रेम की प्यास इतनी होती है कि जब हम उसे पुचकारते हैं, तो वह चाटने को दौडता है। हमारी जुदाई पर उसकी आँखें आँसू टपकाये बिना नही रहती।

'अजी यो देखिये न, हमारे पिताजी की मृत्यु के समय उनके पास हम आठ भाइयो में से सिर्फ तीन भाई थे, जिनमे से छोटे भाई का होना-न-होना बराबर था। आठ साल का बच्चा क्या समझे ? अनन्तराम भी १७ साल का ही था। एक मोहनलाल बडा था जरूर, लेकिन वह भी ज्यादा समझदार न था।

'पिताजी को प्लेग हो गया और निदान न हो पाया, या यो कहें कि उनका इलाज ही नही हो सका। बुखार समझकर ही सब रह गये और वे दो दिन में चल बसे। उनके योग्य लडके सारे-के-सारे बाहर ही थे। मैं तो सोलह साल की उम्र से ही बाहर रहा। पहले चार साल आगरे रहा और फिर डॉक्टरी पास कर लेने पर नौकरी पर आ गया। इस तरह बराबर बाहर ही रहा। क्या हुआ यदि साल भर में १०-१५ दिन के लिए घर चला गया। जब कभी रुपये हाथ में आते, तो भेजता रहता। इससे ज्यादा तो कुछ कर न सका।

'वही हाल हमारे भाई देवकीनन्दन का रहा। वह भी बराबर बाहर ही रहा। अगर देश मे काम न मिले, तो परदेश जाना ही पडता है। आखिर अपना और अपनी गृहस्थी का पालन भी तो करना ही है। गृहस्थी का वजन सिर पर आ जाने से यो ही नाको दम आ जाता है, फिर और वह किधर-किधर देखे ?

'एक बात और है। बडा लडका अपने माता-पिता का सबसे अधिक उपयोग करता है। जब मैं आगरे में पढता था, तब मेरे ऊपर काफी खर्च बैठता था। मेरे पिता की आर्थिक स्थिति ऐसी नही थी कि मेरा खर्चा झेलने के साथ-ही-साथ गृहस्थी का पालन भी मजे से करते रहते। मुझ पर खर्चा करने में अवश्य ही पिताजी को घर-खर्च पर नियत्रण करना पडा होगा। यानी मेरे अन्य भाई अच्छी तरह खा-पी भी न सके होंगे। इनको पढाने-लिखाने में भी त्रुटि आयी ही होगी। इस तरह देखा जाये, तो मैं इनका ऋणी हूँ। मैं तो डॉक्टरी पास कर गया, सो अब मौज करूँ, और मेरी वजह से दूसरो ने जो नुकसान उठाया, उनको अँगूठा दिखा दूँ ? यह कहाँ का न्याय होगा ? मुझे तो कम्पेनसेशन (क्षति-पूर्ति) देना ही होगा। वह कम्पेनसेशन है इन छोटे-छोटे बच्चो का लालन-पालन। मेरा

कर्तव्य हो जाता है कि मैं इनका ऋण चुका दूँ। और ऋण चुकाना तो कोई एहसान है नही, बल्कि मैं ही इनका एहसानमन्द हूँ, जिन्होने मेरे लिये तकलीफ सहन की। इस कारण आगे चलकर इनसे कुछ पाने की आशा करना अपराध ही है। मैंने तो इनका जो भाग खाया है, उसे चुका रहा हूँ। हो सकता है, आपकी समझ में यह दलील ठीक न बैठती हो, लेकिन मैं तो यही ठीक समझता हूँ।

'जिस प्रकार हम लोग पिताजी की मृत्यु के समय हाजिर न थे, हो सकता है उसी प्रकार बडे भाई की मृत्यु के समय छोटे भाई भी न रह पायें। लेकिन माँ और भावज के दृष्टिकोण में यहाँ फर्क आ जाता है। माँ तो सही स्थिति का विचार करके कोई खयाल नही करती बेटे की अनुपस्थिति का, लेकिन भावज दृष्टिकोण की सकीर्णता के कारण खयाल कर बैठती है। फर्क है सिर्फ दृष्टिकोण का। वास्तव में स्थिति तो जो बाप-बेटे के साथ होती है, वही भाई-भाई के साथ भी।

'लालाजी, क्षमा करेंगे। मैंने आपका काफी समय लिया और आपके धैर्य को भी कुछ-न-कुछ ठेस पहुँचाई है, किन्तु प्रश्न ही इस प्रकार का था। मैं इनके लालन-पालन मे अहकार को स्थान देना नही चाहता। अहकार तो वह कालिमा है, जो एक बार पोत दी जाय, तो फिर उतरती ही नही, वरन् और गाढी होती चली जाती है। प्रत्येक जीव अपनी-अपनी तकदीर लेकर आता है। अगर मैं निमित्त न बनता, तो दूसरा बन खडा होगा। प्रकृति कुछ-न-कुछ प्रबन्ध तो अवश्य ही करती। लेकिन मेरे जीवन में जो एक शून्यता आ जाती, वह कभी भी भर न पाती। समय हाथ से निकल जाता और जीवन में फिर कभी सुगध न आ पाती। फूल कितना ही सुन्दर और खिला हुआ क्यो न हो, यदि उसमें सुगध नही, तो उसकी कोई कद्र नही। वह तो खिलेगा और अपनी ही डाली पर मुरझाकर पृथ्वी पर गिर पडेगा। वह किसी के मस्तक की शोभा या गले का हार बनने का अधिकारी नही हो पाता। पलाश के फूलो को देखिये। उनकी बनावट, उनका रग कितना सुन्दर होता है, लेकिन सुगध-रहित होने के कारण जगली फूलो की सज्ञा देकर उन्हे कोई छूता तक नही।

'मुझे अपनी ऐसी दशा नही करनी है। बुढापे मे तो पिता अपने लडको के बीच फुटबाल ही बन जाता है। कभी इस लडके के घर, तो कभी उस लडके के घर। लडको की बहुएँ भी तो उस बुड्ढे को चैन से रोटी नही देती। उससे कही अच्छी हालत रहती है बड़े भाई की—बशर्ते कि बडा भाई अपने छोटे भाइयो के साथ इन्सानियत से पेश आया हो।'

लालाजी से फिर भी रहा न गया और वे बोल उठे, 'लेकिन यह तो बताइये कि अशर्फीलालजी का बोझा आप अपने ऊपर क्यो लादे हुए है ? उन्होने तो अब नौकरी कर ली है। अपनी गृहस्थी का भार वे खुद सँभालें। उन पर वजन नही डालेंगे, तो वे अपनी जिम्मेदारी समझेंगे नही और गुलछर्रे उडाते रहेंगे। वे आदमी न बन पायेंगे।'

भाईसाहब ने कहा, 'लालाजी, यो तो आपका कहना ठीक है, लेकिन अभी उसे इतना नही मिलता कि अलग रहकर अपनी गृहस्थी सँभाल सके। समय आने पर अपने-आप अपने पैरो पर खडा हो जायेगा। मेरे पिताजी होते, तो क्या उसे घर से बाहर कर देते ? मैं अपने हृदय को इतना कठोर नही बना सकता।

'लालाजी, आप बुरा न मानें। मैंने आपके साथ कोई बेअदबी नही की है, लेकिन मैं हृदय को चुभनेवाली बातो को सहन करने का आदी भी नही। ईश्वर मुझे बहुत देगा। किसी बात की कमी न रहेगी। लेकिन आज की भूल जीवन भर का त्रास बन जाये, यह मुझे सहन नही होगा।'

लालाजी चुप हो गये और खिसकते ही बने।

भाईसाहब को अन्त तक पता नही चला कि घरवाले भी इन सब बातो से परिचित बने हुए थे।

शैशव-काल के कुछ मधुर संस्मरण

०

हम छोटे भाई-भतीजो ने साझे में एक गुल्लक खोली। हम लोगो को रोज जितने पैसे मिलते, उनको इस गुल्लक में डाल देते। एक बार मैंने इसमें से कुछ पैसे चुराकर एक टाँड पर रख दिये। एक दिन जब इन लोगो ने गुल्लक सँभाली, तो पैसे कम पाये। उन सबका परस्पर एक-दूसरे पर गहरा विश्वास था। तय हुआ कि हो-न-हो निरजन ने ही पैसे लिये है। जब मुझसे पूछा गया तो मैंने हँसते हुए झट् से टाँड की ओर इशारा कर दिया।

माँ ने इस बात का जिक्र भाईसाहब से कर दिया। वे खूब हँसे और कहने लगे, 'इसने चोरी थोडे ही की थी। चोरी करता, तो बताता क्यो ? इसने तो पैसो को बचाने के खयाल से उन्हें एक जगह से 'उठाकर दूसरी जगह रख दिया था ताकि ये लोग एक दफा में ही सब पैसे खर्च न कर दें।' फिर भाईसाहब ने मेरी ओर मुडकर पूछा, 'क्यो रे लल्ला, यही बात है न ?'

मैंने भोलेपन से हाँ में सिर हिला दिया।

तब भाईसाहब ने फिर पूछा, 'लेकिन एक बात बताओ, गुल्लक से पैसे निकालते समय तुम्हारे मन में जरा झिझक-सी थी न ?· ·तुम्हें भय-सा लगा था न ?···तुमने यह जानने के लिए इधर-उधर नजर दौडाई थी न कि कोई देख तो नहीं रहा है ?'

मैंने तुरन्त कह दिया, 'हाँ, यही हुआ था।'

इस पर भाईसाहब ने कहा, 'जिस काम के करने में झिझक या भय लगे, वह काम बुरा और वर्जित होता है, उसे कभी नही करना चाहिए।'

मैंने उसी दिन से भाईसाहब की यह बात गाँठ बाँध ली।

अक्सर रोज शाम को भाभी के पीछे पडकर हमारे भाई लोग उनसे एक रुपया ले लेते। उसमें अपने पैसे भी मिला देते और फिर बाजार से मिठाई मँगाई जाती। उस मिठाई में हमारी दोनों भाभियो का भी हिस्सा होता। (माँ का और विधवा भाभी का नही। वे हमारे दल में नही थी।)

भाभी (डॉक्टर साहब की धर्मपत्नी) कहती, 'तुम लोग खालो। भला हम लोग बालको की मिठाई क्या खायेंगी ?'

तब हम लोग जबरन् दोनो भाभियो के मुँह में मिठाई ठूँस देते। यह सब देखकर माँ बडी प्रसन्न होती। मुझे याद नही कि हम लोगो ने भाभियो को बाँटे बिना कभी कुछ खाया हो।

हम लोगो में बडा खाने का बहुत रिवाज था। जाडे के दिनो में प्रायः बडे बनते रहते। वैसे तो गर्मियो में भी बनते, लेकिन काँजी के या दही के। जाडों में गरम-गरम ही अच्छे लगते। भाभी एक बडा मुँह में रख लेती। आधा बाहर ही रहता और मैं उसे कुतरकर खा जाता। आज-कल ऐसा व्यवहार कहाँ देखने में आता है ? आज-कल तो आपसी सम्बन्ध बहुत-कुछ फॉर्मल होते चले जा रहे है। अपनत्व खत्म होता जा रहा है।

रात में भाभी मुझे सोयी हुई अवस्था में ही दूध पिला जाती और दूध का खाली कटोरा पलँग के नीचे रख देती। सवेरे उठते ही मैं पूछता, 'भाभी, रात को दूध नही पिलाया ?' वे कहती, 'नही जी, ऐसी बात नहीं है। देखो, खाली कटोरा खाट के नीचे रखा हुआ है।' मैं देख लेता, तब शान्त होता।

भाईसाहब को फल खाने का बहुत शौक था। जोधपुर में 'कागा बगान' के अनार मशहूर हैं। अक्सर टोकरी आ जाती। माँ भाईसाहब के लिए २-४ अनार अलग रखने को भाभी से कह देती। लेकिन भाभी थी कि अलग उठाकर रखती ही नहीं थी। उधर हम लोग झट् सारे अनार साफ कर जाते। जब शाम को भाईसाहब आते, तो माँ भाभी से कहती कि जो अनार अलग उठाकर रखे है, वे भाईसाहब को दे। भाभी कहती, 'मैंने तो अलग उठाकर रखे ही नही।' इस पर भाईसाहब हँसते हुए कहते, 'बच्चो ने सफाचट कर दिये

दीखते हैं। माँ, मुझे कल याद दिला देना। और अनार मँगा दूँगा। फसल की चीज है, बच्चों को खूब खाने दें।'

हम लोग छिपे-छिपे यह बातें सुनते, तो फूले न समाते।

माँ के रहते हमारे भाईसाहब माँ के हाथ से ही जीमते। मैंने कभी ऐसा नहीं देखा कि माँ के घर में रहते भाभी भाईसाहब को जिमा रही हो।

कितने मधुर थे वे दिन।

भाई देवकीनन्दनजी की मृत्यु

०

एक दिन भाईसाहब अस्पताल से आये और माँ से बोले, 'मेरा स्थानान्तरण हो गया है। अब हम लोगो को नावा (कुचामन रोड) जाना होगा।'

माँ ने पूछा, 'यह कौन-सी जगह है ?'

भाईसाहब ने उत्तर दिया, 'यह वही स्टेशन है जहाँ डॉ० गूँदीलाल से अशर्फीलाल की झड़प हुई थी। वह मेरी जगह यहाँ आ रहा है, और मैं उसकी जगह वहाँ जा रहा हूँ।'

माँ सिकंदराराऊ जाना चाहती थी। पिताजी की बरसी करनी थी। इसलिए हम लोग तो भाई अशर्फीलालजी के साथ वहाँ चले गये और भाईसाहब नावे चले गये। फिर भाई अशर्फीलालजी तो वापिस जोधपुर आ गये और मैं और माँ सिकन्दराराऊ में ही रहे। कुछ दिन बाद पिताजी की बरसी कर दी गई।

अचानक मोतीहारी से भाई देवकीनन्दनजी की बीमारी की चिट्ठी आई। भाईसाहब को बडी चिन्ता हुई। उस समय नावे की डिस्पेन्सरी मे कम्पौण्डर थे भाई गगाविशनजी। वे ब्राह्मण थे और बडे सज्जन स्वभाव के थे। भाईसाहब ने तुरन्त ही देवकीनन्दनजी को लाने के लिये गगाविशनजी को मोतीहारी भेज दिया। वे मोतीहारी से भइया को साथ लेकर और सिकन्दराराऊ होते हुए हम लोगो को लेकर नावे पहुँच गये। भाईसाहब ने देवकीनन्दनजी का स्वयं ही इलाज शुरू

कर दिया। पहले-पहल तो कुछ आराम मालूम हुआ, लेकिन बीमारी काबू में आई नही।

इधर मैं नावे के स्कूल में भरती हो गया।

भाईसाहब को कुचामन रोड पर प्लेग-ड्यूटी देनी पडती थी। साँभ-सवेरे दो ट्रेन दिल्ली की तरफ से आती, और दोनो के मुसाफिरो को उतारकर उनकी जाँच करनी पडती। उस जगह के बीमारो को जोधपुर स्टेट में घुसने नही दिया जाता था जहाँ प्लेग का कोप था। जिस मुसाफिर पर शक होता, उसे थोडे दिन क्वारनटायन मे रखकर फिर स्टेट में जाने देते थे।

इधर डिस्पेन्सरी का सालाना मुआयना होनेवाला था। रेजीडेन्सी सर्जन मुआयना करने आया करते थे। उस समय हैरिंगटन साहब वहाँ के रेजीडेन्सी सर्जन थे। उनके आने का समय निश्चित हो गया। अस्पताल की सफाई होने लगी। भाईसाहब ने कम्पौण्डर व ड्रेसर को हिदायत दे दी कि सफाई सावधानी से करें। साहब के आने के दो दिन पहले खुद भाईसाहब मुआयना करेंगे।

जोरो से सफाई होने लगी। शीशियो में नये लेबिल लगाये जाने लगे। डिस्पेन्सरी चक-चक करने लगी।

निश्चित दिन भाईसाहब डिस्पेन्सरी मे घुसे। मैं भी एक तरफ खडा-खडा देख रहा था। मन में यह जानने की उत्सुकता थी कि कैसे मुआयना किया जाता है। भाईसाहब की जेब में दो-तीन रूमाल थे। वे प्रत्येक बोतल को उठाते तथा रूमाल से पेंदी को पोछते। यदि किसी भी बोतल की तली में धूल लगी मिल जाती, तो सबकी शामत आ जाती। लेकिन सारी बोतलें बिलकुल साफ निकली। सफाई देखकर भाईसाहब को बडा संतोप हुआ।

इधर हैरिंगटन साहब जोधपुरवाली गाडी से नही आये। इन्होने समझा, शायद दूसरे दिन आयेंगे। लेकिन वे दिल्ली गये हुए थे, सो दिल्लीवाली रात की ट्रेन से उतरे। भाईसाहब यात्रियों का मुआयना कर रहे थे। साहब चुपके से उतरकर इनके पीछे-पीछे चलकर देखने लगे कि यह किस प्रकार मुआयना करता है।

उसी गाडी से एक मेहतर भी उतरा। जब भाईसाहब उसकी जाँच करने लगे तो वह जोर से बोला, 'मैं मेहतर हूँ, मुझे आप न छूएँ।'

भाईसाहब ने कहा, 'क्या तुम मनुष्य नही हो जो मैं तुम्हें न छूऊँ? मनुष्य को मनुष्य से परहेज नही करना चाहिये। डॉक्टरो की दृष्टि में जाति कोई मतलब नही रखती। इसलिये मेहरबानी करके अपनी नब्ज दिखाओ।'

नाडी देखी गई। अब तो साहब से चुप न रहा गया और वे आगे बढकर

बहुत खुशी भरे लहजे में कहने लगे, 'मैंने सुना था कि तुम लोग अछूतों से परहेज करते हो, लेकिन तुम्हारी बात तो मैंने और ही पाई। मैं तुमसे बहुत खुश हूँ। रात को डाक-बँगले में रहूँगा। कल सुबह तुम्हारे यहाँ निरीक्षण करने आऊँगा।'

ड्यूटी के बाद भाईसाहब घर पहुँचे, स्नान किया, कपड़े बदले। ड्यूटी से आने के बाद उनका रोज का यही नियम था।

दूसरे दिन साहब निरीक्षण पर आये। इनकी तरह उन्होंने भी प्रत्येक बोतल की पेंदी को रुमाल से पोंछना आरम्भ किया, लेकिन किसी भी पेंदी से रुमाल पर दाग न लग सका। उनके आश्चर्य का ठिकाना न रहा और वे कह उठे, 'देखो डॉक्टर मदनलाल, यह पहली डिस्पेन्सरी है जो कि मेरे मुआयने के स्तर को पास कर सकी है। इतनी सफाई मैंने कहीं नहीं पाई। मैं बहुत खुश हूँ।'

यह कहकर वह बहुत प्रसन्न होकर जाने लगा, तो भाईसाहब बोले, 'मैं आपको एक कष्ट देना चाहता हूँ। मेरा छोटा भाई बीमार है आप उसे जरा देख लीजिये।'

वह बड़े प्रेम से हमारे घर आया और खूब अच्छी तरह उसने भाई देवकीनन्दनजी को देखा। भाईसाहब का दिया हुआ प्रेस्क्रिप्शन भी देखा और बोला, 'जो दवा तुम दे रहे हो, वह बिलकुल ठीक है। मैं इसमें कुछ भी तबदीली नहीं करना चाहता। मुझे मालूम नहीं था कि तुम इतने कुशल फीजीशियन भी हो। तुम्हारा निदान एकदम ठीक है। तुम इलाज चालू रखो, और मुझसे कभी कुछ पूछना हो तो चिट्ठी लिखकर पूछ लेना, मैं तुरंत जवाब दूँगा।'

इतना कहकर वह चला गया। कम्पौण्डर, ड्रेसर और फर्राश लोगों के लिये भी बहुत अच्छा रिमार्क दे गया और सबकी तरक्की भी करता गया।

साहब के चले जाने के बाद ये सब इकट्ठे होकर भाईसाहब के पास आये और इन्हें धन्यवाद देकर कहने लगे, 'आज हमने एक नई चीज सीखी है। हमने तो सोचा था कि यह सब आप अपनी झोंक में कर रहे है, और हमसे करा रहे हैं। इतनी बारीकी पर हम नहीं पहुँच सके थे, क्योंकि आज तक किसी भी डॉक्टर की इतनी सूझ हमलोगों के देखने में नहीं आई थी। आप खुद भी जितने साफ रहते है, उतना साफ रहते तो हमने आज तक किसी भी डॉक्टर को नहीं देखा।'

भाईसाहब ने हँसकर मेरी ओर इशारा करते हुए कहा, 'मेरे इतना साफ रहने पर भी मेरा यह छोटा-सा नन्हा-सा भाई उस दिन चौके में रोटी नहीं खाता जिस दिन मैं पहले चौके में जीम लेता हूँ। मुझे तो यह अछूत समझता है। माँ भी इसे समझाती है, लेकिन यह मानता ही नहीं, कहता है, 'भाईसाहब तो मुर्दा चीरते है, चीर-फाड करते है, खून-पीब में हाथ डाल देते है, सो हम उसी

माँ की बात मेरे दिल में घर कर गयी। उस दिन से मेरे जीवन में एक बडा सुधार आ गया। इसी का फल है कि आज ६२ साल से मेरी भी गंजी दिन में तीन बार बदल जाती है। अगर माँ की जगह कोई दूसरा मुझे यही शिक्षा देता, तो उसकी बात मेरे गले कितनी उतरती, मैं नहीं कह सकता। इसीलिए तो माता बच्चो की निर्माता कहलाती है। वह समय-समय पर अपने बच्चो के आचरण गढती रहती है, और उनमें सद्भावनाएँ भरती रहती है। हमारी माँ हमारे पिताजी के साहस, उनकी सहृदयता, धर्म-परायणता, वीरता और ईमानदारी की बातें उनके जीवन में घटी हुई वार्ताओ के सन्दर्भ में सुनाती थी। लडका जब अपने पिता के सद्गुणो के बारे में अपनी माता के मुख से कुछ सुनता है, तो वह सीधे उस बच्चे के हृदय में घर कर लेता है। इसके विपरीत यदि माता पुत्र के सामने पिता की कमजोरियो की चर्चा करे, तो पुत्र के हृदय मे पिता के लिए आदर की भावना नही रहती।

भाई मोहनलालजी का देहान्त

०

अब प्रश्न उठा कि मोतीहारी की दुकान चलाई जाय, या उठा दी जाय। भाई मोहनलालजी तथा अनन्तरामजी का मन डाँवाडोल होने लगा, इतनी दूर रहना उन्हें पसन्द न आया। इसलिए वे लोग दुकान उठाकर सामान सहित नावे आ पहुँचे।

भाईसाहब ने घर से व्यापार को एकदम से ही उठा देना उचित नही समभा। तो फिर प्रश्न उठा कि अब दुकान कहाँ खोली जाय? आखिर अजमेर चुना गया और वहाँ दोनों भाइयो ने कपडे की दुकान खोल ली। काम चलने लगा। गौरीशकरजी तथा श्यामलालजी भी पढने के लिए वही भेज दिये गये। शायद भाईसाहब अजमेर को ही अपने बसने का केन्द्र बनाना चाहते थे। गौरीशंकरजी का मन पढने में नही लगा। वे छठी कक्षा से आगे न जा सके। तार का काम सिखाया गया, किन्तु असफल रहे। तब मदसौर में उन्हें गोदाम-बाबू की नौकरी करा दी गई। अनन्तरामजी की सगाई नसीराबाद कर दी गई। हमारी भाभी पद्मचन्दजी की भतीजी थी।

हमारे सबसे बडे भाई दो लडके छोडकर स्वर्गवासी हुए थे। ये दोनो ही पढने में कमजोर निकले। डॉक्टर साहब को जब दूसरी पत्नी से भी सतान नही हुई, तो माँ की सम्मति से इन्होने बडे लडके लक्ष्मीचन्द्र को गोद ले लिया और

उसकी शादी कर दी। यह शादी भी नसीराबाद में हुई थी। सन् १९०८ के शुरू में भाईसाहब का तबादला नागौर हो गया। उसी साल के अन्त में अजमेर में प्लेग फैल गया। भाई मोहनलालजी अजमेर से नागौर आ गये। आने के कुछ ही दिन बाद इनको बुखार हो गया। धीरे-धीरे बुखार इन्हें दबाता ही चला गया। रोग बस में न आया। पहले साधारण ज्वर ही समझा गया, लेकिन जब सन्निपात में आ गये, तो माँ को तार देकर बुलाया गया। माँ उस समय भाई अशर्फीलालजी के पास सिरसा में थी, जहाँ वे रेलवे में नौकर थे। माँ के आने के दो दिन बाद ही मोहनलालजी का देहान्त हो गया। बाद में मालूम पडा कि इन्हें प्लेग हो गया था, लेकिन ईश्वर की कृपा से घर में किसी और को प्लेग ने आक्रान्त नही किया। अनन्तरामजी अजमेर में अकेले रह गये थे। उनका मन भी वहाँ से विचलित हो गया। भाईसाहब ने भी उन्हें प्लेग के समय वहाँ छोडना ठीक न समझा, और उनको नागौर ही बुला लिया। वही कपडे की दुकान खुलवा दी, जो पीछे खूब चलने लगी।

नागौर के वे मधुर दिन

०

प्लेग के समय हम लोग भी नागौर आ गये थे। प्लेग शान्त होने के बाद भाई अशर्फीलालजी ने भी अपना तबादला अजमेर ही करा लिया और हम फिर पढने के लिए अजमेर चले गये। इस समय मैं छठी क्लास में पढता था। जब मैं छुट्टी में नागौर आता, तो भाईसाहब मुझे लेने स्टेशन चले आते, और घर पहुँचते ही भाभी से कहते, 'निरजन के लिये फलाँ-फलाँ चीज मँगा देना, और फलाँ-फलाँ चीज बना देना।'

भाभी हँसकर कहती, 'और भी कुछ बाकी हो तो कह दो।···आप तो इस तरह कहते है जैसे हम लोगो को तो इसकी कोई फिक्र ही नही।'

भाईसाहब हँसकर, और मेरा गाल थपथपाकर, चले जाते।

भाईसाहब ने टूथ-ब्रश को कभी काम में नही लिया। ये नीम की दातुन करते, और अपना बनाया हुआ मंजन इस्तेमाल करते। इनका कहना था कि बराबर नीम के दातुन के सेवन से पायरिया नही होता। एक बात और कहते कि हरी सब्जी और फल दाँत से कुतरकर खाने से दाँतो की बीमारियाँ नही होती। मुझे भी नीम की दातुन करते आज ६२ वर्ष हो गये हैं, और फलस्वरूप मेरे दाँत इस उम्र में भी अच्छे है।

भाईसाहब शौच के बाद मिट्टी से ५ बार हाथ धोते, फिर साबुन से धोते, फिर नाखूनो को रेत से रगडते, ४०-५० कुल्ले करते, ३-४ बाल्टी पानी खर्च

होता, हाथ-मुँह धोने मे काफी देर लगती, कभी नौकर न होता तो मेरी बारी आ जाती, और भाभी भी जुट जाती।

खाने-पीने का भाईसाहब को बडा शौक था। कुल्ले करते जाते, मैन्यू बनाते जाते। कढी का बडा शौक था, तरकीब बताते, इस तरह छौंक देना, उफान १०८ आने चाहियें, तब कढी खाने लायक बनती है। भाभी कहती, ठीक ही है जी, हम तो बनाना जानती नही, आपके बताने से ही कढी बनेगी। उस समय भाईसाहब के चेहरे पर जो हँसी आती, वह देखते ही बनती। इनको दही से बने साग बहुत पसन्द थे। मसाले ज्यादा पसन्द नही करते थे, लेकिन अन्दाज के जरूर ही हो। कभी-कभी साग इनके पसन्द के न होते, तो ये झुँझला जाते। इनके जीमने के लिए बैठते ही हमारी भाभी गरम फुलके बनाती। माँ कहती, 'भई, साग-दाल तो तेरी बहू ने बनाये है,' तो ये चुप हो जाते। जब ये जीमकर बाहर चले जाते, तो माँ कह उठती, 'बडा बेवकूफ है। खाने का होश नहीं, कह दो कि तेरी बीनणी ने बनाये है, तो खामोश।' तब हमारी सभी भाभियाँ हँस पडती—भाभी (डॉक्टर साहब की पत्नी) भी उनमें शामिल रहती।

इनकी वेश-भूषा धीरे-धीरे साधारण होती चली जा रही थी। नागौर आने के पहले ये पतलून और बिरचिस पहनते और साफा बाँधते थे। नागौर आने पर पतलून बन्द हो गई, उसकी जगह बिरचिस और चूडीदार पायजामा पहनने लगे। कपडे पहनने में काफी देर लगती। साफा २-३ दफा बाँधना पडता। इनका अपना एक अन्दाज था, जब तक उस ढग का न बँधे, चैन नही। अपने जीवन पर्यन्त इन्होने कोई नशा नही किया। भग तक से नफरत थी। चाय भी नहीं पीते थे। हमने इनको ब्रेड या बिस्कुट खाते भी कभी नही देखा—ये चीजें घर मे कभी आई ही नही। फलस्वरूप, मैंने भी सदा इनसे परहेज ही रखा।

इनको मीठा खाने का शौक जरूर था। कभी-कभी तो ऐसा होता कि रात को आये, फरमाइश हुई, 'अम्मा, आज तो मूँग की दाल का हलवा खाने की तबियत है।'

भाभी धीरे से बोलती, 'अब दस बजे कैसे बने ? सवेरे कह दिया होता, तो तैयार हो जाता, बच्चे भी खा लेते।'

माँ कहती, 'बीनणी, इसमे क्या है ? गर्म पानी में दाल डाल दो, १५ मिनट में फूल जायेगी। बस, थोडा-सा हलवा बना लो। सबके लिए हो बने, यह तो कोई जरूरी है नही। या फिर ऐसा करो, कि मँगोडी को गर्म पानी में डाल दो और पीठी तैयार कर लो। यह निपटेगा, तब तक हलवा तैयार हो जायेगा। इसकी तबियत है, तो थोडा बना डालो।'

सवेरे हम लोग उठते, तो कलेवे मे हलवा मिलता खाने को , तो फिर सवाल-जवाव होते—जव भेद खुलता तो हम लोग खूब हँसते, वडा मजा आता ।

भाईसाहव जव रात मे सोने जाते, तो माँ मुझे जगाकर कहती, 'जा, भैया के पैर दवा आ , वह दिन भर का थका है । तू पैर दवा देगा, तो उसे ५ मिनट में नीद आ जायेगी ।'

भाभी दवी आवाज में कहती, 'जी, इनको क्यो जगाती हो ? मैं दबा दूंगी, या फिर लखमा दबा देगा ।'

माँ फिर कहती, 'अरे नही, लखमा तो इसे हिला डालेगा—वह ठीक से पैर दवाना जानता ही नही ।'

खैर, उस दिन तो मैं पैर दवा देता, पर दूसरे दिन भाभी से कहकर सोता, 'भाभी, आज फिर माँ मुझे जगा न दे । वह मानेगी नही, लेकिन तुम जगाने मत देना ।'

भाभी कहती, 'नही, नही, तुम सो जाओ, आज तुम्हारे भइया के पैर मैं दवा दूंगी ।'

लेकिन रात में फिर वही पहले दिनवाला किस्सा दुहराया जाता ।

सवेरे भाभी माँ को जगाती । उनके निपट लेने के वाद भाभी ही उनके हाथ धुलाती । स्नान करने के लिए भी भाभी ही अपने हाथ से पानी भरती । उनकी धोती निज धोती । नौकरानी को माँ की धोती धोते मैंने कभी नही देखा । गर्मियो में मेरी माँ का पलँग ५-६ वजे तक चौक में विछ जाता । मेरी यह भाभी (डॉ० मदनलालजी की पत्नी) और छोटी भाभी (अशर्फीलालजी की वहू) पैर दवाने वैठ जाती । यह क्रिया उस समय तक चलती जब तक कि भाईसाहव घर नही आ जाते ।

मेरी माँ अपनी वहुओ पर एक दिन भी क्रुद्ध नही हुईं—वल्कि इनको वडा प्यार करती । वह कहती रहती—वहुएँ वडी मुश्किल से आती है, वेटा देने से आतो है । लेकिन इसके साथ ही मेरी माँ का रोव भी गजव का था । क्या मजाल, कही कोई वेअदवी कर ले ।

कभी माँ उदास हो जाती—स्वाभाविक ही था, जिसके तीन-तीन जवान वेटे उसके सामने से उठ जायें •। भाईसाहब अस्पताल से आते तो भाभी कहती कि माँ आज उदास है । भाईसाहव कहते, 'अम्मा, आज तो अपन दोनो एक साथ ही जीमेंगे ।' दो थालियाँ लगती—खाना खाते जाते, और बातें करते जाते । वस, इतने में माँ का जी हल्का हो जाता ।

माँ की दिनचर्या इस प्रकार थी सवेरे उठकर शौच आदि से निवृत्त होकर

स्नान करती, माला फेरती, फिर सारी बहुओ को बुलाकर अपने हाथ से कलेवा देती—कलेवा इनके लिये खुद बनाकर रखती थी। हम लडको को कलेवा देते या जिमाते मैंने माँ को कभी नही देखा। बस, भाईसाहब को दो बेला जिमा देती—बाकी समय पलँग पर लेटी रहती। शरीर भी स्थूल था, इसके अलावा वे काम करती भी क्या—काम करने को तो बहुएँ थी ही। तीज-त्योहार के दिन कढाई पर जरूर बैठती। माँ रसोई बनाने में दक्ष थी। कभी-कभी भाईसाहब उनसे बीमारियो के देशी नुसखे भी पूछते।

हम लोग गर्मियो की छुट्टियो में घर आते, तो सवेरे उठकर दैनिक क्रियाओ से निवृत्त हो अपने हाथो से बादाम पीसकर एक गिलास दूध में ठंढाई छानते, और पीकर सो जाते। ६ बजे कलेवा करते।

अब दोपहर में हमें भूख कहाँ से लगे? भाईसाहब आते तो माँ कहती, 'देख भइया, इतनी देर हो गई, ये लोग खाना ही नही खाते! जरा इनको धमका दिया कर, नही तो रसोई कब उठेगी?'

भाईसाहब की एक आवाज पडती, और अपनी-अपनी थाली लेकर हम लोग बैठ जाते, लेकिन एक-दो फुलके खाकर ही उठ जाते। फिर तीसरे पहर कलेवा करते, फिर रात को खाना।

माँ भाईसाहब से कहती, 'देख ले मदन, ये बच्चे तो कुछ खाते ही नही, एक दो फुलके खाकर रह जाते है। कैसे इनका काम चलता होगा!'

भाईसाहब मुस्कराकर रह जाते। वे तो जानते ही थे कि आखिर इतना सामान आता है, वह जाता कहाँ है? हमारे पेटो मे ही तो।

एक दिन श्यामलालजी ने माँ से शिकायत कर दी कि भाईसाहब ने उसको मारा है। माँ ने उत्तर दिया, 'मैं जानती हूँ, तू शरारती है, तूने जरूर शरारत की होगी। खबरदार, ऐसी शिकायत करने फिर मत आना मेरे पास—नही तो और मार पडेगी।'

इतना सुनना था कि श्यामलालजी भाग छूटे।

आये दिन इनके दोस्त शाम को आते रहते, खाना बनता, हम लोगो की मौज रहती। इनके दोस्तो मे ज्यादातर अफसरान रहते। गप-शप होती रहती। जब कभी मैं पान-सुपारी लेकर जाता, तो वे बडे प्यार से मुझसे बोलते। भाईसाहब कहते, 'हमारे यहाँ यह बडा शरारती लडका है। घर में कोई चीज आये, तो आधे में यह खुद और आधे में सब—लेकिन फिर धीरे-धीरे सबको बाँट भी देता है।'

बचपन के उन दिनो की स्मृति आज भी जब कभी ताजा हो जाती है, तो मन एक मधुर रस से भर उठता है।

मेरी सगाई और विवाह

०

अब अनन्तरामजी के विवाह की तैयारियाँ होने लगी। बारात लेकर हम लोग नसीराबाद पहुँचे। मेरे भावी श्वसुर अजमेर में पद्मचन्दजी के मकान में ही किराये पर रहते थे। उनकी लडकी उस समय ११ वर्ष की हो चली थी। उन्हें उसकी सगाई की बडी चिन्ता थी। पुराने जमाने में मासिक-धर्म होने के पहले शादी कर देना बडा धर्म का काम समझा जाता था। जब इनको खबर लगी कि डॉक्टरजी के दो भाई शादी लायक हैं, तो ये भाईसाहब के सबसे बडे साढू को लेकर नसीराबाद पहुँचे। मैं बैठक में ग्रामोफोन बजा रहा था। भाईसाहब के साढू ने मुझसे पूछा कि गौरीशकरजी और श्यामलालजी कहाँ है ?

मैंने उत्तर दिया, 'मुझे मालूम नही, कही काम से गये होगे।'

तनसुखरायजी नाम था इन साढू साहब का।

मेरे भावी श्वसुर ने इनसे पूछा कि यह लडका कौन है ? इन्होने कहा, डॉक्टर साहब का सबसे छोटा भाई है। वे कहने लगे कि मैं तो इसी लडके के साथ अपनी लडकी का सम्बन्ध करूँगा। इन्होंने कहा कि यह कैसे हो सकता है, इसके ऊपर तो अभी दो भाई बैठे है, और यह अभी निहायत बच्चा ही है।

वे मुझसे पूछ बैठे, 'तुम भइया, कौन-सी क्लास में पढते हो ?'

मैंने उत्तर दिया, 'छठवी में पढता हूँ।'

इन्होने आपस में सलाह-मशविरा किया, और थोडी देर बाद ये दोनों भाई-साहब के पास पहुँचे। मेरे भावी श्वसुर ने कहा, 'मैं आपके छोटे भाई से अपनी लडकी का रिश्ता करना चाहता हूँ।'

भाईसाहब सहर्ष कह उठे, 'ठीक है।'

न तो उन्होने ही कहा कि किस लडके को पसन्द किया है, और न भाईसाहब ने ही कुछ पूछ-ताछ की। भाईसाहब को यही खयाल बना रहा कि उन्होने गौरीशकर को पसन्द किया है।

तीसरे पहर मेरे भावी श्वसुर बोले, 'लडके को बुला लें, मैं तिलक कर दूँ।'

जब भाईसाहब को मेरा नाम मालूम हुआ, तो वे बडे चकराये और कहने लगे, 'भला यह कैसे हो सकता है? निरंजन से तो अभी दो-दो बड़े भाई क्वाँरे हैं। पहले तो उनकी ही शादी तय होनी चाहिए।'

इस पर मेरे भावी श्वसुर बोले, 'जिस लडके के लिये मैंने अपने मन में सकल्प कर लिया है, उससे विपरीत हो ही कैसे सकता है? मेरी लडकी क्वाँरी भले ही रह ले, लेकिन अब किसी दूसरे लडके से उसका ब्याह होना असम्भव है।'

भाईसाहब बोले, 'देखिये, मेरा छोटा भाई अशर्फीलाल अजमेर गया हुआ है, अभी आता ही होगा। आप उससे सलट लें। मेरे घर मे तो वही होगा, जो वह चाहेगा।'

इस प्रकार की बहस हो ही रही थी कि इतने में भाई अशर्फीलालजी आ गये। ये तो सुनते ही आग-बबूला हो गये, कहने लगे, 'यह कैसे हो सकता है? हम दो लड़को का भविष्य कैसे बिगाड सकते हैं? मेरी शादी छोटेपन में कर दी गई थी और इसी का परिणाम है कि मुझसे बडे मेरे दो भाई क्वाँरे ही रह गये।'

अब तो मामला बेढब हो चला। भाईसाहब बडी दुविधा में पड गये। इधर मेरे भावी श्वसुर अपने निश्चय पर अटल थे। उन्होने प्रस्ताव किया कि सगाई अभी कर ली जाये, शादी दोनो बडे भाइयो की होने के बाद हो जायेगी। लेकिन भाई अशर्फीलालजी इस पर भी राजी नही हुए। वे भाईसाहब से कहने लगे, 'आपने इस बच्चे के प्रति अन्याय किया है। आप इतने विद्वान और आर्य-समाजी होते हुए यह काम कैसे कर बैठे?'

भाईसाहब ने उत्तर दिया, 'अशर्फीलाल, भई, अब मैं क्या करूँ? मैं वचनबद्ध हूँ। मुझसे गलती यह हुई कि प्रस्ताव स्वीकार करने के पहले यदि मैं शाहजी से पूछ लेता कि आप किस भाई के साथ अपनी लडकी का सम्बन्ध करना चाहते है, तो यह जटिल परिस्थिति पैदा ही नही होती।' अब तो जो हो गया,

अब उठ गयी है , समाज ने इसकी बुराइयो को समझा, इसलिए कानून बनाकर इस प्रथा को उठाना पडा। इस प्रथा के दुष्परिणाम-स्वरूप हजारो-लाखो बाल-विधवाएँ हो जाती थी, जिनका विवाह दुबारा नही हो पाता था, क्योकि यह धर्म-विरुद्ध माना जाता था। हमारे शास्त्रों मे भी बाल-विवाह की प्रथा वर्जित है। वेदो में जीवन के पहले २५ साल विद्याध्ययन के लिये निर्धारित किये गये है, फिर शादी करने का विधान है , लेकिन मुसलमानी शासन-व्यवस्था के समय से बाल-विवाह की यह प्रथा चल पडी, क्योकि मुस्लिम राजे सुन्दर कन्याओ को जबर्दस्ती उठा ले जाने लगे, जुल्म होने लगा, तब बचपन में ही लडकियो की शादी करने की व्यवस्था ब्राह्मणो ने शास्त्रोचित बताकर कर दी , तभी से यह प्रथा बडे जोरो से चल पडी।

मेरे बाद भाईसाहब ने मुझसे बडे दोनो भाइयो की शादी कर दी, फिर भतीजो की भी। और सबको उनकी योग्यतानुसार यथास्थान काम पर लगवा दिया। गृहस्थ का भार कुछ हल्का होने लगा। उनका लडका लक्ष्मीचद्र भाई अनन्तरामजी के साथ कपडे की दुकान पर काम देखने लगा। यह मन्दमति होने के कारण जीवन में कुछ न कर सका। इसके सात लडके और एक लडकी हुई जिनका लालन-पालन भइया को ही करना पडा। एक बोझ हल्का न होने पाया था, कि पहले से भी ज्यादा भारी दूसरा बोझ धीरे-धीरे उनके कन्धो पर लदने लगा।

शादी होने के एक साल बाद मैं मिडिल की परीक्षा में भी पास हो गया। भाईसाहब मुझे आगे पढाने के लिए आगरा भेजना चाहते थे। मैं राजी भी हो गया, लेकिन माँ सहमत नही हुई। भाईसाहब मुझे गृहस्थी के वातावरण से अलग रखकर पढ़ाना चाहते थे, इसलिये उनका मुझे आगरा भेजने पर ज्यादा जोर था। आगरा में रखकर पढाने में ज्यादा खर्च होता, लेकिन इसकी उनको फिक्र न थी। मैं उच्च कोटि की शिक्षा प्राप्त करूँ, यही उनकी प्रबल इच्छा थी। आगरा भेजने में भइया मेरा कल्याण देख रहे थे, मुझे अजमेर भेजने में माता अपने दो पुत्रों का कल्याण सोच रही थी। वह कहने लगी, 'देख मदन, अशर्फीलाल को २५ रुपये माहवारी मिलते हैं, उसका काम कठिनता से ही चलता है। निरंजन के वहाँ रहने से इसको तू जो २५ रुपये मासिक देता है पढाई के लिए, वही देते रहना। इससे अशर्फीलाल को काफी सहारा मिलेगा। यह घर-का-घर में रह गया, और पढने-का-पढना हो जायेगा।'

भइया ने कहा, 'अम्मा, होगा वही, जो तू कहेगी, लेकिन इसका परिणाम अच्छा न होगा। अशर्फीलाल का स्वभाव कडा है और यह है भावुक, दोनों की

एक दिन उन्होंने मुझे अपने पास बुलाया और कहने लगे, 'मैंने सुना है कि तू बावड़ी में तैरता है ?'

मुझे तो कबूल करना था ही।

सुनकर कहने लगे, 'मुझसे प्रण कर कि तू अब कभी तैरेगा नहीं।'

उन्होंने अपना हाथ पसारा। मैंने उनके हाथ पर अपना हाथ रख दिया, तो बड़े खुश हुए। फिर मैं कभी नहीं तैरा।

भाईसाहब इसी प्रकार मुझे सत्यनिष्ठ बनाने का प्रयत्न करते। आज जो कुछ भी मैं अपने अन्दर पाता हूँ, सब उस महात्मा का प्रसाद रूप ही है—मेरा अपना कुछ नहीं।

घर-खर्च :
माँ-बेटे के बीच एक रोचक वार्तालाप

०

गर्मियो में हमारे यहाँ घर में चीनी का खर्च वढ जाता। हम लोग तो रोज सुवह ठंडाई पीते ही, भाईसाहव के मित्र लोग भी जब-तव साँझ-सवेरे चले आते, तो ठंडाई वनती। इसलिए चीनी का खर्च वहुत वढ जाता।

एक दिन भाईसाहव घर-खर्च लिखने वैठे। घर-खर्च तो माँ ही चलाती, लेकिन उनकी खजांची थीं हमारी भाभी। हिसाव लगाने पर पता चला कि एक मास में करीव ३०० रुपये खर्च हो गये, और चीनी लग गई २ मन। भाईसाहव जरा झल्लाकर कहने लगे, 'हाथ खीचकर खर्च करना चाहिए। खाली पेट-खर्च ही तो नही है, पढाई-लिखाई, विवाह-शादी आदि भी तो करने है। काम तो देख-भाल कर ही करना चाहिए।'

माँ वोली, 'अरे मदन, आज तेरे को हो क्या गया है ? आज तेरी पॉकेट खाली दिखती है। जिस दिन तेरी पॉकेट खाली रहती है, तेरा मिजाज तेरे कावू में नही रहता। तुझे याद नहीं वे दिन, जव मैं १० सेर चीज के लिए तेरे पिताजी से कहती थी, तो वे २० सेर लाकर देते थे। अपने यहाँ घी-तेल और शक्कर-गुड के पीपे भरे रहते थे। जव कि तेरे और तेरे पिता की कमाई का कोई मुकावला ही नही। तुझे याद नही, तेरे पिताजी कहा करते थे, 'वड का

लेती है। माँ ने पुरुष को अपने पास बुलाया, और पूछा, 'मैंने सुना है कि तू बिना किसी कसूर के अपनी स्त्री को सताता है, और रोज सवेरे जूतों से उसकी पूजा करता है—इसका क्या रहस्य है ?'

उसने उत्तर दिया, 'माताजी, रहस्य तो जरूर है, लेकिन क्या बताऊँ, और आप जानकर ही क्या करेंगी ? यह औरत बडी अभागिन है, और इसने मुझे भी अभागा बना दिया है। सच्चा वीर वही है, जो काम के वेग को रोक ले, उस पर विजय पा ले। माँजी, बात इस प्रकार है—

'न मैं गोला हूँ, और न यह गोली। मैं जाति का अहीर हूँ, और यह है जाति की वैश्य-ललना। इसके पति है, लडके है, बहुएँ है, छोटे पोते है, घर में व्यापार है। मैं इसके घर में गौओं की देख-भाल का काम करता था। न जाने यह मेरी तरफ कैसे झुक गई ! जब मैं दूध दुहने लगता, तो यह मेरे पास आ जाती। पहले तो मैंने समझा कि शायद इसे मेरा विश्वास नही, सो दूध की देख-रेख के लिए आती है। धीरे-धीरे इसके हाव-भाव मुझसे छिपे न रहे। मैं भी झुक गया। बहुओं की नजर कडी होने लगी। फिर एक दिन हम दोनों घर से चल दिये। इसके पास रुपया था, जेवर था। हम इधर-उधर फिरते रहे, रुपया उडाते रहे, आखिर जेवर भी साफ हो गया, तो भटकते-भटकते आपकी शरण में आ गये। अब आपकी जो मर्जी हो, सो करें। मैं भी अपने घर जाने लायक नही रहा। मुझे अपने बाल-बच्चों की याद बराबर सताती रहती है। अगर मुझसे यह गलती न हुई होती, तो मैं आज कितना सुखी होता ! इसका तो वापस जाने का प्रश्न ही नही उठता। दूसरी ओर मैं यह भी सोचता हूँ कि अगर मैं इसे छोडकर चला जाऊँ, तो इसकी क्या दशा होगी ? इसी दुविधा, अनिश्चय और गुस्से के कारण मैं रोज सुबह इसके सात जूते लगाता हूँ।'

इतना कहकर वह चुप हो गया।

माँ ने सारा वृत्तान्त भाईसाहब को कह सुनाया। उन्होंने औरत के पति के पास अलवर एक पत्र भेजा, लेकिन कोई उत्तर न आने पर, उन्होने अजमेर के अनाथालय के एक जिम्मेदार आदमी को बुलाकर इस औरत को उसके सुपुर्द कर दिया। वह अहीर तो दूसरे दिन ही भाग गया। अनाथालयवालो ने इसे पढाया और इस लायक बना दिया कि यह स्वतन्त्रतापूर्वक अपना निर्वाह कर सके। भाईसाहब ने रुपये-पैसे से भी उसकी काफी मदद की थी।

मैं कहता, 'माँ, तूने पन्द्रह दिये, वीस दिये, पच्चीस दिये, लेकिन सोलह कहाँ दिये ? जब तक तू मुझे सोलह रुपये कुछ आने नही दे देती, तब तक तो वह रकम बनी ही रहेगी ।'

इस तरह मेरे और मेरी माँ के बीच में विनोद होता रहता । आज मुझे यह स्मृति कितनी मीठी प्रतीत होती है !

एक बार मैं गर्मियो की छुट्टी में घर आया, तो देखा कि माँ अस्वस्थ थी । एक दिन कहने लगी, 'तेरी बहू को फिर देख न पाई । न जाने तेरा मुकलावा कब होगा ?'

मैंने कहा, 'माँ, इतना अधीर होना तो ठीक नहीं , तुम ठीक हो जाओगी । तुम्हारी तबियत तो कोई ज्यादा खराब है नही । हलका ज्वर है, सो दवा हो ही रही है । घबडाने की क्या बात है ?'

माँ चुप हो गई ।

एक दिन मैंने कहा, 'अम्मा, मुझे कुछ रुपये दे दे ।'

वह बोली, 'देख, अगर मैंने हजार-पाँच सौ तुझे दे भी दिये, तो उससे तुम्हारा पूरा तो पडेगा नही । आखिर सहायता तो मदन की ही काम आयेगी । दूसरे, तुम अभी बच्चे हो, रकम को सम्भालकर नही रख सकोगे । जो कुछ भी मेरे पास है, वह सब मैं मदन को ही दूँगी । उसके ऊपर कितना भार है, और उसकी सहायता ही तुम्हारे काम आयेगी । पढ-लिखकर होशियार हो जाओ । तुम्हें कोई चिन्ता करने की जरूरत नही । बस, मन लगाकर पढो । मेरी तो यही कामना है कि ईश्वर तुझे सुखी रखें । तू कुछ भजन-पूजा भी किया कर । बचपन में तो तू पूजा-पाठ किया करता था, लेकिन अब मैं देखती हूँ कि तूने वह सब छोड दिया है । मदन को देख, इतना काम-काजी डॉक्टर होने पर भी बिना नहाये खाता नही, सध्या-हवन रोज करता है । तुम लोगो को इसकी सीख पर चलना चाहिए । तुम्हारे बाप बराबर है वह । भाभी माँ के समान है । मैंने ऐसी औरत नही देखी, बडी सुपात्र है । अगर इसका रुख टेढा होता, तो मदन क्या कर लेता ? तुम्हारे भइया और भाभी दोनो देवता स्वरूप है । तुम उनकी सेवा किया करो । मेरी यह बात मानोगे, तो कभी तकलीफ नही पाओगे । सदा सुखी रहोगे ।'

मैं तब कहाँ जानता था कि माँ से मुझे यह अन्तिम उपदेश मिल रहा है !

माताजी का देहांत

०

गर्मी की छुट्टी बीती, और मैं वापस अजमेर पढ़ने को चला आया। इसके बाद मुझे माँ की बीमारी के कोई समाचार नहीं मिले। श्रावण की बड़ी तीज को माताजी का स्वर्गवास हो गया।

उस दिन की घटना बड़ी विचित्र हुई। हमारी छोटी भाभी (भाई अशर्फीलालजी की पत्नी) भी नागौर में ही थीं। माँ की बीमारी के कारण वे वहीं रुक गई थीं। मैं तब अजमेर में ही था। भाई अशर्फीलालजी रसोई बनाकर, स्वयं जीमकर, और मेरे लिए अलग रखकर, नौ बजे ऑफिस चले जाते। मैं स्कूल से १२ बजे आकर खा लेता, और चौका-बर्तन करता। कभी-कभी पानी कम हो जाता, तो पानी भी भरना पड़ता। पानीवाला गिनती के घड़े ही भरकर चला जाता था।

सावन की बड़ी तीज के दिन ठीक ऐसे ही समय, जब मैं चौका-बर्तन कर रहा था, मेरी सालियाँ खाने-पीने का कुछ सामान लेकर आ गईं। उन्होंने कहा, 'जीजाजी, यह काम हम कर देती हैं। जो चीजें हम लाई हैं, आप तब तक उसमें से कुछ खा लें।'

लेकिन इतनी देर में मैं अपना काम पूरा कर चुका था। मैंने उनसे सामान लेकर रख लिया। वे चली गईं।

चौके मे एक खिडकी थी जो गली में खुलती थी। गली में लडकियाँ झूला झूल रही थी और माँ का नाम लेकर गाना गा रही थी। उनके मुख से मैंने जब माँ का नाम सुना, तो मेरे कलेजे में ऐंठन आ गई—आई भी इतने जोर की कि मैं रो पडा। मेरा रोना बन्द नही हो रहा था। तब मैं कहाँ जानता था कि ठीक उसी समय मेरी माँ अपनी अन्तिम साँसें गिन रही थी, और मुझे याद कर रही थी।

कुछ देर के बाद मैं शान्त हो गया। मैंने कुछ मिठाई खा ली। फिर मैं पढने बैठ गया। इतने में भाईसाहब अशर्फीलालजी भी आ गये और हम लोग शाम की रसोई खा-पीकर चुके ही थे कि माँ की मृत्यु का तार आ गया। फिर क्या था—कलेजा टूक-टूक होने लगा। मेरा लगाव मेरी माँ में बहुत ज्यादा था।

मैं नागौर जाता, तो माँ के पास ही सोता, उसके पास ही बैठा रहता, सिर्फ शाम को नहाने-धोने के लिए बगीची जाता। माँ से जिसका इतना लगाव था, उस बच्चे के दु ख का अन्दाज सहज ही लगाया जा सकता है।

हम दोनो भाई दूसरे या तीसरे दिन नागौर चले गये।

वहाँ पहुँचने पर हमें माँ की मृत्यु के समय की पूरी घटना का पता चला, जिसे सुनकर मेरा जी भर आया। जैसा कि हम अभी-अभी लिख आये है, माँ का देहावसान सावन की बड़ी तीज के दिन हुआ था। उस दिन सवेरे उठते ही माँ ने भाभी को बुलाया, और कहने लगी, 'तुम सब बहुएँ जल्दी स्नान करके 'बायना' मनस लो, और मुझे दे दो। रसोई भी जल्दी बना लेना, और मदन को भी जल्दी जिमा देना, और तुम लोग भी जीमकर चौके को जल्दी उठा देना।'

अपराह्न में जब माँ की आँख खुली, तो वे कहने लगीं, 'मदन जीम लिया क्या? उसको बुला लो, और मुझे जल्दी से स्नान करा दो।'

स्नान के बाद कहने लगी, 'धरती ठीक करके मुझे धरती पर उतार दो।'

भोजन करके भइया बाहर चले गये थे। आदमी दौडाये गये, और वे तुरन्त ही आ गये। भइया के पहुँचने के पहले ही माँ धरती पर उतार ली गयी थी। उन्हें अभी होश था।

भइया कहने लगे, 'माँ, कोई आज्ञा हो तो कहो।'

माँ ने उत्तर दिया, 'मुझे कुछ नही कहना है। बिना मेरे कहे ही तूने इस गृहस्थी की क्या-क्या सेवा नही की है?'

फिर भइया ने कहा, 'कोई खास बात निरजन के लिए कहनी है?'

माँ कहने लगी, 'नही। मेरी आत्मा तुझसे बहुत प्रसन्न है। मेरा आशीर्वाद

है कि तू बहुत सुखी रहेगा। बस, अब तू मेरे सिर को अपनी गोद में रख ले, और रामधुन होने दे।'

रामधुन होने लगी, और पूर्ण शान्ति के साथ माता गो-लोकवासी हो गयीं।

एक दिन रात को हम सब घर के बाहर सो रहे थे। रात के करीब १०-११ बजे थे। भाईसाहब ने भोजन के बाद बाहर आकर हम सब के सिर के नीचे तकिया टटोलना शुरू किया। फिर मेरी खाट के पास आकर तकिया टटोला, और मेरे सिर पर थोड़ी देर हाथ रखकर चले गये।

हम लोग जाग तो रहे ही थे, लेकिन फिर भी ज्यों-के-त्यों चुपचाप लेटे रहे। उनके चले जाने के बाद सब उठकर रोने लगे—फूट-फूटकर रोने लगे। हम लोगों का रोना सुनकर वे तुरन्त वापस बाहर आये, और पूछने लगे कि क्या बात है ? और तो कोई बोल न सका, मैंने ही कहा, 'भइया, आज माँ के नहीं होने के कारण ही तो आपको इतनी चिन्ता करनी पड़ रही है, और कष्ट उठाना पड़ रहा है। आपकी इस वेदना को हम सह न सके, इसलिये यह रुदन हमारे दिल से उमड़ पड़ा।'

उनकी आवाज भी भर्रा गयी। वे ज्यादा बोल न सके, और हम लोगों को धीरज देकर चले गये।

यह था हृदय उस देव-तुल्य भाई का। उसने देखा होगा कि कहीं उसके मातृ-हीन भाई तकलीफ न पाएँ।

अपने जीवन-काल में माँ अक्सर कहा करती, 'देख मदन, मेरा श्राद्ध तू परम्परानुगत विधि अनुसार कराना। तेरा कुछ भरोसा नहीं, तू आर्य-समाजी जो है।' भाईसाहब कहते, 'माँ, चिन्ता न कर, जिस प्रकार पिताजी का श्राद्ध कराया था, उसी प्रकार तेरे श्राद्ध में भी कोई कमी न आने पायेगी। तेरी इच्छानुसार ही सारे काम होंगे। आर्य-समाज क्या कहेगा, इसकी तू कोई चिन्ता न कर।' और भाईसाहब ने श्राद्ध बड़ी श्रद्धा से किया। ब्राह्मण-भोजन, बिरादरी भी धूमधाम से की।

माँ के जीवन-काल की एक घटना मुझे और याद आती है। मेरी माँ जब कभी अपना बक्स खोलती, और अगर उस समय मेरी भाभी वहाँ चली आती, तो माँ अपने बक्स को बन्द करने-सी लगती। तब भाभी कहती, 'जी, कितना भी छिपाओ, आखिर है तो यह हमारा ही।' उस समय मेरी माँ के मुखमण्डल पर प्रेम की एक लहर-सी दौड़ जाती। आखिर हुआ भी ऐसा ही। मृत्यु के बीस-पचीस दिन पहले, माँ ने अपने बक्सों की सभी चाबियाँ मेरी भाभी के हवाले करते हुए कहा था, 'बेटा, यह सब कुछ तेरा ही है।'

घर से प्रयाण और प्रत्यावर्तन

मैं श्राद्ध-कर्म सम्पूर्ण होने के बाद अजमेर आ गया। पिता को तो उसी समय खो बैठा था, जब मैं ८-९ वर्ष का था, आज मैं मातृहीन भी हो गया था। मैं अपने-आपको खोया-खोया-सा पाने लगा। इस बार भी भाभी नागौर ही रह गई थी। हम दोनो भाई ही लौटकर अजमेर आये थे। फिर वही रफ्तार चालू हो गई। दोनो वक्त का चौका-बर्तन करता, पानी की कमी पडने पर पानी भर लेता। नल हमारे घर से करीब ३०० फीट की दूरी पर था। पानी मुझे दो तल्ले पर ले जाना पडता था। लेकिन मेरे दिल में कोई मलाल नही था, क्योकि स्वावलम्बी मैं हमेशा से ही था। मेरी सालियाँ अक्सर दोपहर को आती, और मुझे चौका-बर्तन करते पाती। जो चीज देने आती, वह देकर ५-७ मिनट में ही चली जाती। मैं उनसे बात-चीत तक न कर पाता। मैं मन-ही-मन कुछ-कुछ शर्माता था कि वे अपने घर जाकर मेरे चौका-वर्तन करने की बात अपनी माँ से जरूर कहती होगी।

मैं साँझ को घूमकर आता, खाना खाकर चौका-बर्तन कर पढने बैठ जाता, फिर रात के १० बजे चिराग बुझा देता, और बिस्तर पर लेट जाता। फिर आँखो से अश्रु-धारा बहने लगती। माँ की याद आती जाती, मैं रोता जाता, और आखिर रोता-रोता ही सो जाता। लेकिन सवेरे विषाद का कोई चिह्न नही रहता।

इस तरह ५ मास बीत गये। न किसी भाई ने ही सुध ली, और न सास-ससुर ने ही मेरी तरफ कोई ध्यान दिया। मेरा अकेलापन बढता चला गया। दिसम्बर मास में भाभी आ गई। उसकी गोद मे एक लडका था। छोटा ही था, ७-८ मास का। भाभी इसके पहले २ लडकियाँ और १ लडका खो चुकी थी। यह लडका भी बीमार हो गया। हालत खराब हो चली। मेरी विधवा भाभी को नागौर से बुलाने का तार दे दिया गया।

साँझ को मैं जब घूमकर आया, तो भाई अशर्फीलालजी बोले, 'हम लोग तो खाना खायेंगे नही, तुझे खाना हो तो बना ले, और खा ले।'

मैं रसोई में गया, और मैंने तीनो के लिये भोजन बना लिया। मै भोजन बचपन मे ही बनाना सीख गया था। भोजन अच्छा ही बना लेता था। भोजन तैयार होने पर नीचे आया और भाई अशर्फीलालजी को भोजन कर लेने को कहा। वे निबटे, भोजन किया, फिर मैं भाभी को बुलाने गया। उसने भी जो भाया, सो खाया। मैंने भी भोजन किया। लेकिन आज भाभी के रहते हुए मुझे भोजन बनाना पडा, इसे मैं महसूस कर गया, और फलस्वरूप अपना संतुलन खो बैठा।

दूसरे दिन बडी भाभी भी आ गई। उन्होने अपना जेवर का डिब्बा मुझे अपने पास रखने को दे दिया। उसी दिन मेरे मासिक खर्च के लिये भाईसाहब द्वारा भेजे हुए २५ रुपये भी मनीआर्डर से पहुँच गये थे।

मेरी शादी में प्राप्त कुछ जेवर भी मेरे पास थे—अँगूठी वगैरह, और १६॥ रुपये मेरे पास और थे जो मेरी माँ के दिये हुए रुपयो मे से बचे हुए थे। समय-समय पर माँ मुझे हाथ-खर्च के लिए कुछ रुपये दे दिया करती थी। उसी रात्रि को मैंने घर छोड देने का सकल्प कर लिया और दूसरे दिन प्रात काल प्रस्थान करने का विचार निश्चित कर लिया। अब प्रश्न यह उठा कि साथ में क्या-क्या लिया जाये ? भाभी के गहनो का डिब्बा छूने की तो बात ही नही उठती थी—पहले तो अमानत की चीज, दूसरे विधवा की पूँजी। २५ रुपये जो आये थे, वे पढाई के वास्ते भेजे गये थे, इसलिए उनको भी कैसे छुआ जाये ? शादी में प्राप्त जेवर पर भी मेरा क्या अधिकार ? भाई ने शादी की थी, उन्ही का पैसा खर्च हुआ था, इसलिये जेवरो पर भी उनका ही अधिकार था। अब बचे सिर्फ १६॥ रुपये, जिन पर मैं अपना अधिकार समझ सकता था। मैंने वही साथ ले लिये। इनके अलावा, कुछ कपडे, एक लाठी, एक लोटा और एक ओढने का कम्बल लिया। सवेरे उठा। बडी भाभी से कहा, 'मैं बच्चे के लिए पानी पडवाकर लाने जा रहा हूँ, कुछ देर हो जाए तो चिन्ता न करना।'

अजमेर से १० मील पैदल चलकर मैंने रेलगाडी पकडी, और दिल्ली पहुँच गया। वहाँ से रात्रि में हरिद्वार पहुँचा। वहाँ एक धर्मशाला के कमरे में एक कोने में कम्बल ओढकर सो गया। उस दिन चने खाकर ही रह गया था; क्योंकि रुपये रेल-किराये में खर्च हो गये थे, और पास में बहुत थोडे बचे थे।

सवेरे शौचादि से निवृत्त हो, गुरुकुल-काँगडी को रवाना हो गया। वहाँ पहुँचा, और अतिथि-शाला में ठहरा। वहाँ का ही खाना खाया। फिर महात्मा मुन्शीरामजी (उस समय तक वे सन्यासी नही हुए थे) से मिला। मैंने उनको बताया कि मैं मैट्रीक्यूलेशन की अन्तिम कक्षा का विद्यार्थी हूँ, इसी साल परीक्षा देनेवाला था, शादी-शुदा हूँ, गौना नहीं हुआ है, ब्रह्मचारी हूँ। मैंने उनसे प्रार्थना की कि अगर वे मुझे नि शुल्क न ले सकें, तो मुझसे किसी भी तरह का काम ले लें, मजदूरी करने में भी प्रसन्नता ही होगी, लेकिन मेरे सस्कृत पढने का इन्तजाम कर दें। पर उन्होने साफ इनकार कर दिया। मैं निराश होकर अतिथि-शाला में लौट आया। वहाँ पर हुशगाबाद-गुरुकुल के अधिष्ठाता आये हुए थे। उनसे वार्तालाप हुआ। वे मुझे अपने साथ ले जाने को रजामंद हो गये। उन्होंने कहा कि तुम हमारे बोर्डिंग-हाउस का काम देखना और पढना। मैं उनके साथ हो लिया। वे कानपुर, अयोध्या होते हुए हुशगाबाद पहुँचे।

काँगडी की अतिथि-शाला मे एक रजिस्टर था, जिसमें हर अतिथि को अपना सारा हवाला लिखना पडता था। वहाँ से चलते समय मैंने भी उसमें अपना सही-सही नाम और पता लिख दिया—कुछ गोपनीय नही रखा।

हम हुशगाबाद दोपहर मे पहुँचे, और सबको यह देखकर आश्चर्य हुआ कि हमारे पहुँचने के १-२ घंटे बाद ही नागौर से भाईसाहब के नाम भेजा हुआ भाई अनन्तरामजी का एक तार हुशगाबाद-गुरुकुल में आ पहुँचा कि, 'आपकी छुट्टी मजूर हो गई है।'

वहाँ कोई भी यह समझ नही पाया कि डॉक्टर मदनलाल कौन है ? और यह तार किसने भेजा है ? मेरे कान मे भनक पडी। मैंने तार पढा। मैं तुरन्त समझ गया कि भाईसाहब काँगडी पहुँचे होंगे, और वहाँ से पता लगाकर यहाँ के वास्ते रवाना हो गये है, और इन सब बातों की खबर उन्होने नागौर दे दी है। अब वही से यह तार आया है जिसमें भाईसाहब की छुट्टी की मंजूरी की खबर है।

और दूसरे ही दिन भाईसाहब हुशंगाबाद आ गये। स्टेशन से ताँगे में गुरुकुल पहुँचे। मैं उस समय ऊपर था। दरवाजे के भीतर घुसते ही पूछते है, 'यहाँ निरजनलाल नाम का कोई लडका आया है क्या ?'

अधिष्ठाताजी नीचे ही बैठे थे। उन्होने कहा, 'जी हाँ।'

भइया कहने लगे, 'कृपया जल्दी से मुझे उसे दिखा दें।'

अधिष्ठाताजी बोल उठे, 'डॉक्टरजी, इतने अधीर न हों, वह अभी नीचे आ जाता है।' मुझे आवाज दी गई। मैं नीचे उतरने लगा—भाईसाहब की आवाज पहचान ही चुका था। मन-ही-मन डर रहा था कि आज अच्छी मरम्मत होगी। खैर, भगवान जो करेंगे, सो ठीक है।

मैं नीचे उतर रहा था और ये ऊपर चढ रहे थे। मुझे देख, अपनी छाती से चिपकाकर फूट-फूटकर रोने लगे। मैं भी अपने को रोक न सका। सब लोग तमाशा देख रहे थे कि यह क्या हो रहा है। भाईसाहब सुबकियो के बीच कहने लगे, 'मुझे यही चिन्ता खाये जा रही थी कि तू कुछ भी साथ लेकर नही आया—एक अँगूठी तक भी साथ न ली। मैंने २५ रुपये भेजे थे, उनको भी छोडकर चला आया। मुझे यही चिन्ता सता रही थी कि रास्ते में तूने क्या खाया होगा, कहाँ रहा होगा, रेलगाड़ी में कैसे चढा होगा? मैं यह भी भली-भाँति जानता था कि तू बिना टिकट रेल में चढेगा नही।'

फिर मेरे आँसू पोछते हुए उन्होंने मुझे शान्त किया, खुद भी शान्त हुए। फिर कह ही गये, 'क्या करूँ, मैं तो तुझे आगरा ही रखना चाहता था, माँ नही मानी। उसका परिणाम आज सामने आ ही गया। खैर, जो होना था, सो हो गया। अब तू कुछ विचार न कर। मेरे साथ घर चल। तेरी सास को डबल निमोनिया हो रहा है, तेरी बहू ने खाना छोड़ दिया है। यही हाल तेरी भाभी का है।'

फिर तुरन्त एक तार अजमेर और एक नागौर दिया गया। नाई बुलाया गया—मेरी हजामत बनवाई गई, उन्होने अपनी हजामत भी कराई। मेरे कपडे साबुन से धुलवाये। इतनी देर उन्होंने अपने कपड़ो से ही मेरी सर्दी भी दूर रखने का प्रयास किया।

फिर रसोई बनी। हम लोगों ने सप्रेम भोजन किया। अधिष्ठाताजी को लेकर ही हम लोग भोजन करने बैठे थे। भोजन करने के बाद अधिष्ठाताजी से बात-चीत हुई। वे पूछ बैठे, 'डॉक्टर साहब, क्या आप इनको ले जायेंगे?'

भाईसाहब ने उत्तर दिया, 'आप अन्दाज ही नही लगा सकते कि हमारे दोनो घरो में कितना कुहराम मचा हुआ है। इसको जब तक हमारे घरवाले देख न लेंगे, किसी को भी चैन नही पडेगी। दूसरी बात यह कि इसको यहाँ रखने से तो इसका कैरियर ही खत्म हो जायेगा। इसी साल इसको मैट्रीक्यूलेशन की परीक्षा देनी है। लेकिन कृपया बताइये, इसका राह-खर्च कितना हुआ है?'

भाईसाहब ने उनको राह-खर्च दे दिया और ५० रुपये गुरुकुल को दान-स्वरूप दिये, और फिर उसी दिन हम घर के लिए रवाना हो गये।

यानी भाभी और भइया की तरफ से बराबर यही कोशिश रहती कि कोई भी मुझे किसी प्रकार का व्यग्य न करे, और मैं फिर कुछ अनुचित कदम न उठा लूँ।

इतने में मेरे मुकलावे की तिथि तय हो गयी। मार्च मास में हम मुकलावे के वास्ते अजमेर चले गये—मेरे साथ मेरे भतीजे थे। हम ससुराल में २-३ दिन रहे। इधर-उधर घूमे, खूब आदर-मान हुआ, और विदा होकर नागौर चले आये। मुकलावे मे जो सामान आया था उसको भइया-भाभी ने खूब सराहा—हालाँकि हमारी चलन के अनुसार कपडे-लत्ते न थे, लेकिन ये लोग किसी तरह की नुक्ताचीनी नही करते—इनको तो काम था पात्री से, न कि कपडो-लत्तो से। यह बात इन्होने अपने माता-पिता से सीखी थी। जैसे मेरी माँ अपनी बहुओ की सराहना करते न अघाती, उसी प्रकार मेरी भाभी का वर्ताव मेरी स्त्री के प्रति बना रहा। मेरी भाभी बराबर ही मेरी माता के पद-चिह्नो की अनुगामी बनी रही।

महीना भर रहकर मेरी स्त्री वापस पीहर चली गई।

कोटा मे अध्ययन

समय बीतता चला गया। जून मास बीत गया। मुझे फिर स्कूल में भर्ती कराना है, यह बात भइया के खयाल से उतर गई। देर होने से 'एडमिशन' कहीं भी न हो पाया—न आगरा, न अजमेर, न जोधपुर। अब खयाल पैदा हुआ कि क्या करना चाहिए। मेरे ज्येष्ठ साले बाबू अयोध्याप्रसादजी रियासत कोटा के राजा के हाउस-कण्ट्रोलर थे। उन्होंने कोशिश करके कोटा हाईस्कूल में मेरे एडमिशन का इन्तजाम करके हमें तार दे दिया और मैं कोटा रवाना हो गया और वहाँ स्कूल में भर्ती हो गया। वे उस समय अकेले ही रहते थे। उनका स्वभाव बहुत अच्छा था। वे बड़े मृदुभाषी थे, अच्छे विद्वान भी थे, अंग्रेजी भाषा पर अच्छा अधिकार था, भक्ति-मार्ग के अनुयायी थे, माता-पिता के अनन्य भक्त थे। थोड़े दिन बाद उनकी पत्नी आ गई—मेरी स्त्री भी उनके साथ थी। मेरी पत्नी का साथ आना रहस्य से खाली नही था। इन लोगों की चेष्टा रही होगी कि मुझे किसी भी तरह का कोई उद्वेग न होने पाये। भइया मुझे प्रत्येक मास २५ रुपये भेजते रहे स्कूल के पते से, ताकि मैं किसी प्रकार की कमी महसूस न करूँ, मेरे स्वाभिमान को ठेस न लगे, और हाथ-खर्च के लिए मुझे साले से न माँगना पड़े। हालाँकि मुझे वहाँ किसी प्रकार का खर्च नही करना पड़ता था। हाल में मुकलावा हुआ था जिससे कपड़े वगैरह मेरे पास काफी

थे, खाने-पीने का कोई खर्च था ही नही, स्कूल की फीस भी नही लगती थी, क्योंकि स्टेट मे शिक्षा नि शुल्क थी।

मैं स्कूल से आते समय सरकारी बाग में ठहर जाता। एक पेड मेरा निश्चित किया हुआ था, उसके नीचे बैठ जाता, और सोचता रहता कि हाय, मैंने क्या कर डाला! अगर घर से न निकल जाता और परीक्षा में बैठ जाता, तो पास भी हो गया होता। आज इन्टरमीडियट में होता और ससुराल की रोटियाँ न तोडनी पड़ती। यही सब सोचता हुआ मैं पेट भर रोता, और फिर मुँह धोकर घर चला आता। बाग में प्रतिदिन ठहरना और रोना एक नियम बन चुका था। पढने में विशेप मन न लगता, क्योंकि लज्जा के कारण स्त्री से सम्पर्क नही के बराबर था। उस समय की यही प्रथा थी, हालाँकि मैं ऐसी प्रथाओ का पोपक न था, और न अब हूँ—ये हानिकर होती है। इस प्रकार का द्वन्द्व मेरे मन में चलता रहता—फिर मन की एकाग्रता आये कहाँ से?

मुझे वहाँ नौ मास रहना पडा। मैं मैट्रीक्यूलेशन तो पास हो गया, लेकिन हुआ तीसरे दर्जे में। मुझे भूगोल कभी याद नही हुई, इसमें मेरी दिलचस्पी ही नहीं थी। यहाँ इतना कह देना आवश्यक समझता हूँ कि बाबू अयोध्याप्रसादजी का तथा उनकी धर्म-पत्नी का व्यवहार मेरे प्रति सदा सराहनीय बना रहा। आज वे नहीं हैं, लेकिन मेरे मन में आज भी उनके प्रति कृतज्ञता है।

भइया नियमित रुपये भेजते और प्रत्येक पत्र में लिख देते—'तकलीफ जरा भी मत पाना। जितना चाहो उतना रुपया मँगा लेना, सकोच न करना। तेरी मानसिक अवस्था के बारे में मैं बराबर ही अनुभव करता रहता हूँ, लेकिन यह समय सावधानी से गुजार देने का है। पास होने के बाद जहाँ तेरी इच्छा होगी, वहाँ रहना। मेरा तो इतना ही लिखना है कि अपने मन के उद्वेग पर पूरा सयम रखना। जब कभी हम लोगों से मिलने की इच्छा हो—छुट्टियो मे चले आना, और जब तुम लिखोगे, मैं और तेरी भाभी तेरे से मिलने वहाँ चले आयेंगे। अब थोडे ही दिन की बात है। किसी प्रकार घबडना नही, मैंने तेरी जन्म-पत्री एक ज्योतिषी को दिखायी थी—उसने बताया है कि तू निश्चय ही पास हो जायेगा, और तेरा भविष्य बहुत उज्ज्वल है। तू हम सबसे ज्यादा भाग्यवान होगा—प्रभु की कृपा तेरे ऊपर बराबर ही बनी रहेगी। जीवन में संकट कभी-कभी आ ही जाते है, लेकिन ज्यादा दिन टिक नही पाते। यह अटल नियम है प्रकृति का।'

भाईसाहब द्वारा इस प्रकार के आश्वासन के पत्र मुझे बराबर ही मिलते रहते।

मेरे साले बाबू अयोध्याप्रसादजी नाना प्रकार की सुन्दर-सुन्दर वस्तुएँ लाते, मुझसे पसन्द करने को कहते, लेकिन मैं हँसकर टाल देता—यह कहकर कि आवश्यकता पड़ने पर ले लूँगा। इनको आश्चर्य होता कि इतनी छोटी उम्र में इतना निस्पृह, इतना निर्लोभी मैं कैसे हूँ। अपनी स्त्री से कहते—'कुँवरजी के पास कोई मोटी रकम जरूर है—माँ की दी हुई, नही तो इतनी बेफिक्री हो नही सकती।' तब मेरी स्त्री इनसे कहती—'जहाँ तक मुझे पता है, ऐसी बात नही है, लेकिन इनकी बातो से यह जरूर मालूम पड़ता है कि ये आशावादी है—मेरी समझ से यही धन इनके पास है, जिनके बल पर लोभ-लालच इनको छू तक नही गया है।'

मैं परीक्षा देकर नागौर आ गया, मेरी पत्नी भी मेरे साथ ही आ गई थी। मुझे सफलता में सन्देह था, इस कारण बराबर चिन्तित रहता।

एक दिन सवेरे लेटा हुआ था, इतने में भइया ने अस्पताल से ही आवाज लगाई—'निरजन, ओ निरंजन! तू पास हो गया है।'

मेरे साले ने तार द्वारा सूचना दे दी थी। मेरी खुशी का ठिकाना न रहा।

मैं आगे पढने के लिए जोधपुर चला गया। वहाँ मेरे बड़े भाई श्यामलालजी महकमा-खास में नौकर थे, उनके साथ रहना शुरू कर दिया। लेकिन प्रथम साल उत्तीर्ण न हो सका। दूसरे साल पास होकर सेकण्ड-ईयर में आया। इस कक्षा में दो साल रहकर भी उत्तीर्ण न हो सका, क्योंकि मन को एकाग्र नही कर पाता था। जो विषय समझ में नहीं आता, उसको समझने की कोशिश ही नहीं करता था। मन विचलित-सा रहता। इस पर भी भइया ने एक दिन भी एक बार भी खिन्नता नही दिखाई। तू बराबर फेल हो जाता है, मन लगाकर पढना चाहिए—इतना तक भी नहीं कहा। पिता होते, तो वे भी कहे बिना न रहते, लेकिन भइया बराबर हिम्मत ही बँधाते रहते। हमेशा यही कहते—मेरा भाई बड़ा आदमी होकर रहेगा। मैं आशावादी तो सदा से था ही, उनकी बात सुनकर और आशा बँध जाती। मन के डाँवाडोल होने के अन्य कारण थे, जिनका यहाँ उल्लेख करना अप्रासगिक होगा।

जब मैं फर्स्ट-ईयर में पढता था, तो मेरी स्त्री को हिस्टीरिया का रोग हो गया था। ४० दिन अचेत पडी रह गई। उन दिनो मेरी भाभी ने ही उसकी सेवा-शुश्रूषा की। मेरे भतीजो की बहुएँ थीं, और भाभियाँ भी थी, लेकिन नहीं—वे स्वय ही सारी देख-भाल करती। भाभी कहतीं, 'ये करेंगी और जन्म भर ताना मारेंगी, सो मुझे बरदाश्त नही।'

भइया का जोधपुर स्थानान्तरण

०

जब मैं सेकण्ड-ईयर में पढ रहा था, तब भइया की जोधपुर के सदर अस्पताल में आउट-डोर इन्चार्ज की जगह पर नियुक्ति हो गई। साहब इनके काम से सदा ही सन्तुष्ट रहे। हम जोधपुर में स्टेशन के पासवाली कॉलोनी में एक किराये के मकान में रहते थे। सवेरे-सवेरे बाहर से भाईसाहब की आवाज आयी। आवाज सुनते ही मैंने दरवाजा खोला, और मेरा पहला प्रश्न यही था, 'कैसे आना हुआ ?'

उन्होने कहा, 'मेरा तबादला यहाँ जोधपुर में ही हो गया है।'

सुनकर हमें बडी खुशी हुई। हमने भइया को स्नान कराया, कुछ नाश्ता कराया, फिर वे तो अस्पताल चल दिये—चार्ज लेने, इधर हम लोग चल दिये—उनका सरकारी बँगला देखने।

दोपहर में जब वे आये, हमने कहा कि बँगला तो हम देख आये है—कल तक खाली हो जायेगा, लेकिन सफेदी जरूर हो जानी चाहिए।

उन्होने दो दिन में ही चूने की सफेदी करा दी और हम बँगले मे जा धमके। इस समय जोधपुर मे हम तीनो भाई ही थे—भाभी नागौर मे थी।

भइया को चार्ज लिए आज सिर्फ सात दिन हुए थे कि इनका साहब डॉ० क्लिकिली न जाने किस कारण भुनभुनाता हुआ अस्पताल में आया। वहाँ के

असिस्टेन्ट सर्जन डॉ० निरजननाथ थे। आते ही साहब उनसे लड पडा—आपस में गर्मा-गर्मी हुई। साहब बोला, 'मैं तुम्हारा मुँह देखना भी नही चाहता।' डॉ० निरजननाथ ने तुरन्त इस्तीफा उसके हाथ में पकडा दिया।

साहब ने जोर से भाईसाहब को पुकारा और कहा, 'तुम इसका चार्ज ले लो।' इतना कहकर वह चला गया।

इधर सारे डॉक्टरो की 'कान्फरेंस' हुई। भइया ने डॉ० निरजननाथ को शान्त करने की पूरी कोशिश की, और प्रस्ताव किया कि आज तीसरे पहर साहब के बँगले पर जाकर उनको शान्त किया जाय। लेकिन डॉक्टर निरंजननाथ बोले, 'आप लोग जो चाहे सो करें, मैं उसके पास जाकर माफी नही माँगूँगा।'

भइया साहब के बँगले पर पहुँचे और उससे मिले। भाईसाहब की बात सुनकर साहब बोले, 'मदनलाल, अब क्या हो सकता है ? उसका इस्तीफा तो मजूर हो गया है। वह रेजीडेंट के मार्फत दरबार तक जा चुका है। अब मैं उसको बर्दास्त न कर सकूँगा, उसने मेरा बहुत अपमान किया है। तुम चिन्ता न करो, चार्ज लेकर अपना काम करो। तुम्हारी जगह एक सीनियर डॉक्टर दिये देता हूँ। मुझे पूरा भरोसा है कि तुम बहुत कुशल सर्जन साबित होगे।'

दूसरे दिन साहब आया और डॉ० निरजननाथ को देखकर फिर भडका। उसने भाईसाहब से कहा, 'क्या बात है ? तुमने अभी तक इससे चार्ज क्यो नही लिया ? इसको मैं एक घडी भी अस्पताल में देखना नही चाहता।'

भइया बोले, 'साहब, १०-१५ लाख रुपये का सामान हे—चार्ज १ दिन मे नही लिया जा सकेगा। स्टेट भर की सारी डिस्पेंसरियो की दवाइयो का स्टोर भी इसी के नीचे है।'

साहब ने कहा, 'ऐसी कोई बात नही है, चार्ज एक मिनट मे लिया जा सकता है।'

भइया बोले, 'मैं समझ गया, ठीक है, मैं चार्ज अभी लिये लेता हूँ।'

साहब बोले, 'जब तक तुम चार्ज नही ले लेते, और मुझे नही लिख देते कि तुमने चार्ज ले लिया है, तब तक मैं अस्पताल मे कदम नही रखूँगा।'

इतना कहकर साहब चला गया।

भइया डॉक्टर निरंजननाथ से बोले, 'देखिए, मुझे आपसे क्या चार्ज लेना है। आप लिख दें कि मैंने चार्ज दे दिया, और मैं लिख देता हूँ कि मैंने आपसे चार्ज ले लिया। अपने स्तर का चार्ज लेना-देना तो इसी तरीके का होना चाहिए।'

डॉक्टर निरजननाथ बहुत प्रसन्न हुए। कहने लगे, 'मैं भी अब यहाँ आना नही चाहता—इसका मुँह देखना भी मुझे असह्य हे।'

चार्ज ले लिया गया। उसी समय ऑफीशियल रिपोर्ट भेज दी गई कि चार्ज ले लिया गया है।

दूसरे दिन जब साहब अस्पताल आया, तो बहुत खुश था। भइया ने आज से ही ऑपरेशन-रूम में जाकर मेजर ऑपरेशन करने शुरू कर दिये। डॉक्टर किलकिली इनकी ऑपरेशन की विधि देखकर अचम्भा करने लगा, 'तुमको ऑपरेशन करने का इतना अभ्यास कहाँ से हुआ ?'

भइया ने उत्तर दिया, 'इस प्रकार के मेजर ऑपरेशन करने का मेरे जीवन में यह पहला ही मौका है, लेकिन मेडिकल स्कूल में मैं अपने प्रोफेसरों को ऑपरेशन करते समय बड़ी गौर से देखता रहता था और एनॉटोमी का विषय मुझे बहुत प्रिय था, उस पर मेरा सहज अधिकार हो गया था। यह उसी का फल है।'

थोड़े दिनों में ही भाईसाहब एक सिद्धहस्त सर्जन बन गये और अच्छी-खासी प्रसिद्धि प्राप्त कर ली। अब तो आँखों का भी ऑपरेशन करने लगे। दिन भर में ३-४ मेजर ऑपरेशन कर ही डालते। आगे चलकर इतना अभ्यास बढ़ गया कि साल भर में २५०० मेजर ऑपरेशन करने लगे। पुराने रेकार्ड को मात कर गये। साहब ने इनको असिस्टेन्ट सर्जन की डिग्री देने के लिए गवर्नमेंट से सिफारिश की। डिग्री मिल भी गई। फिर 'रायबहादुर' की टाइटिल के लिए सिफारिश की, लेकिन इधर इनके खिलाफ स्टेट में विलक चालू हो गई थी, इसलिए स्टेट ने 'रायसाहब' की टाइटिल के लिए ही केन्द्र को सिफारिश भेजी। जब इनको रायसाहब की टाइटिल मिली, तो साहब बहुत भुनभुनाया और कहने लगा, 'जब तक तुम रायबहादुर नहीं हो जाते, मैं तुमको रायसाहब कहकर नहीं पुकारूँगा। देखता हूँ, किस तरह स्टेट तुम्हारे रास्ते में रोड़ा अटकाती है ? मैं रेजीडेन्ट को सारी बात बता चुका हूँ, चिन्ता न करो—अगले साल तुमको रायबहादुर की टाइटिल मिलकर ही रहेगी।'

उस समय स्टेट भर में एक ही रायबहादुर थे, और वे थे कश्मीरी पंडित दीवान सुखदेवप्रसाद। वे इनका रायबहादुर होना कैसे देख सकते थे ? यह बात सन् १९१७-१८ की है।

भाईसाहब को रायसाहब का खिताब मिलने के बाद हम लोगों को भी हमारे साथी रायसाहब कहकर ही पुकारने लगे। हमको कैसा-कैसा लगता। मैं कहता, रायसाहब तो हमारे भाई हैं, हम कब से रायसाहब हो गये ? लेकिन वे तब भी नहीं मानते।

जोधपुर में भाईसाहब के पास ताँगे के अलावा एक घोड़ा भी था। उनको

घुडसवारी का शौक था, लेकिन वह घोडा हमारे भाई श्यामलालजी के ही काम आता। भाई श्यामलालजी महकमा-खास मे क्लर्क थे, २५-३० रुपये माहवारी पाते होगे। जो मिलता अपने पर ही खर्च कर देते। घर मे लेना-देना कुछ नही। उस पर भी आप घोडे पर ही महकमा-खास जाते, और घोडे पर ही आते।

०

भाईसाहब के जोधपुर आने के बाद एक दिन उनकी सास मिलने को आयी। हमारी भाभी अभी नागौर में ही थी। उनकी सास के मुख से हँसी-हँसी में मेरे प्रति एक व्यग्य निकल गया। मेरे मन पर उसकी प्रतिक्रिया हो गयी, और मुझसे उनका काफी अपमान हो गया। जब मेरी भाभी नागौर से आयी तो उन्होने मेरे और मेरी भाभी के बीच कटुता का बीज बो दिया। बात कुछ बढ गई। जब भाईसाहब तक बात पहुँची, तो उन्होने मुझे बुलाया, और पूछा कि क्या बात है ?

मैंने सच्ची बात उनको बता दी, और फिर मैं कहने लगा, 'गलती मेरी जरूर हुई, मैं पछता भी रहा हूँ, लेकिन अब क्या करूँ ? जो हो गया, सो हो गया।'

भइया का साला बडा उदण्ड था—मुझसे उसका भी अपमान हो गया था।

सो भइया ने फैसला दिया, 'तू अपनी भाभी से माफी माँग ले।'

मैंने कहा, 'माफी माँगना मेरे लिए कोई बडी बात नही है, आप कहे तो मैं इनके चरण धोकर पी जाऊँ। लेकिन जो गलती हो गई, उसको अब कैसे सुधारूँ ? छोडा तीर तो वापस कमान में आ नही सकता। शब्द निकल गये, उनका प्रतिकार अब सिर्फ पश्चाताप से ही हो सकता है, या फिर क्षुब्ध व्यक्ति साफ दिल से मुझे माफ कर दे—दूसरा कोई रास्ता मुझे नजर नही आता।'

भइया कहने लगे, 'तू बडा सेन्सीटिव है। खैर, कोई बात नही। अब तू इस बात को दिल से निकाल दे। तेरी भाभी तो जैसी पहले थी, वैसी अब भी है। रही उन लोगो की बात, सो मैं उन लोगो का स्वभाव जानता ही हूँ—उनकी तरफ से तुझे किसी तरह का खयाल करने की जरूरत नही। जाओ, शान्त मन से काम करो। मैं अच्छी तरह समझता हूँ, तेरा कॉलेज-कैरियर इन्ही बातो से बिगड गया है, वरना तू सब तरह से योग्य है।'

यह बात अब मुझे रह-रहकर याद आती है, तो उनके विशाल हृदय की गहराई की झलक महसूस होने लगती है।

०

इसी सदर्भ में मुझे एक बात और याद आती है। इन्ही सघर्ष के दिनो में मैंने भाई गौरीशकरजी को थोडे रुपये भेज देने को लिख दिया। उन्होंने रुपये

भेज भी दिये। यह माँग मैंने उनसे प्रथम बार ही की थी। सयोग से इन रुपयो का मनीआर्डर भइया के हाथ पड गया। डाकिया रुपये लेकर जब आया, मैं घर पर न था, इसलिए भाईसाहब को देकर चला गया।

शाम को भइया से भेंट हुई, तो वे कहने लगे, 'तूने गौरीशकर से रुपये मँगाये थे ?'

मैंने कहा, 'जी हाँ, मैंने मँगा लिये थे।'

वे कहने लगे, 'रुपये उसके जमा कर लिये गये है। इन थोडे-से रुपयो से तू उसका ऋणी बनना चाहता है क्या ? मेरे रहते तेरे मन में यह भावना आई ही कैसे ? तू अगर अपनी भाभी से माँगने में सकोच करता है, और मुझसे भी माँगने मे सकोच महसूस करता है, तो जितने रुपये की तुझे जरूरत हुआ करे—लिखकर मेरी जेब में डाल दिया कर, तुझे रुपये मिल जाया करेंगे।'

फिर उन्होने मेरे सिर पर हाथ रखते हुए दिलासा देकर कहा, 'इतना अधीर क्यों हो चला है ? जहाँ तूने वकालत पास की, तेरा जीवन ही बदल जायेगा। मुझे तेरे से बडी आशा है, प्रभु मेरी आशा को पूर्ण करेंगे।'

भइया जब यह कह रहे थे, कि गौरीशकर के आये हुए रुपयों को लेकर क्या तू आजन्म उसका ऋणी बना रहना चाहता है, तो उस समय मेरे मन में यह प्रतिक्रिया अवश्य हुई थी कि वे भी मेरे भाई है और ये भी भाई है ··मैं तो दोनो का ही अनुज हूँ। एक का ऋणी बन जाऊँगा, एक का नहीं—यह कैसी विडम्बना है ? लेकिन अब मैं समझ पाया हूँ कि उनके कथन मे सार था। शरीर के नाते वे भाई जरूर थे, लेकिन पितृ-हृदय के धनी होने के नाते वे पिता-तुल्य थे। पुत्र पिता का ऋणी अवश्य है, लेकिन पिता का अहसान पुत्र पर रहता हो—ऐसी बात नही है। पिता और पुत्र एकरस रहते है। आज तक किसी पुत्र ने अपने पिता के मकान को पिता का मकान कहकर सबोधित नही किया, उसे तो वह अपना ही मकान समझता है, और भरपूर समझता है। इसके विपरीत, पिता अपने पुत्र के बनाये हुए मकान को अपना मकान कहने में असमर्थ ही रहता है, और न्याय-सगत भी यही है। अपने एक पुत्र के मकान को वह अपना कह ही कैसे सकता है ? ऐसा कहते ही अन्य पुत्र भी उस मकान के मालिक होने का दावा शुरू कर देते है। भाई का हक तो भाई के घर में हो नही सकता।

०

भाईसाहब के इस विशाल हृदय का एक और उदाहरण यहाँ याद आता है जो इस प्रकार है

जब मैं जोधपुर के जसवन्त कॉलेज मे सेकण्ड-ईयर में पढता था, तो इन्फ्लूएजा

बडे जोरो से फैला। मेरा एक मित्र, उत्तर प्रदेश का रहनेवाला, उसकी चपेट में आ गया। कई दिन उसको कॉलेज से गैर-हाजिर देखकर, अनायास ही मैं उसके घर चला गया, और मैंने उसको बहुत ही दर्दनाक हालत में पाया। मैं तुरन्त उलटे पैर लौट आया।

शाम का समय था। भाईसाहब ऑपरेशन-रूम मे थे। मैं जाली के दरवाजे मे से झाँकने लगा। प्रवेश करने की हिम्मत नही हुई, वही खडा-खडा उनके बाहर निकलने का इन्तजार करने लगा। मुझे देखकर भाईसाहब तुरन्त बाहर आये। उनके पूछने पर मैंने सारा वृत्तान्त कह सुनाया, तो उन्होने मुझे ठहरने के लिए कहा। वे ऑपरेशन कर चुके थे, बैण्डेज का काम अन्य डॉक्टरो के सुपुर्द कर, मुझे साथ लेकर, अपने ताँगे मे उस मित्र के घर पहुँचे।

वह एक कोठडी में पडा हुआ था। ये मरीज को देखने लगे, और अपने ताँगे को भेजकर अपने कम्पौण्डर को भी बुला लिया। साथ में सब जरूरत की चीजें भी मँगा ली। इलाज चालू हो गया।

थोडे दिनो में ही मेरा मित्र स्वस्थ हो गया। अपने घर जाने के पहले वह भाईसाहब से मिलने के लिए, या यो कहे कृतज्ञता प्रकट करने के लिए आया। उसने जोधपुर के चलन की एक मोहर भाईसाहब को देनी चाही।

मुस्कराते हुए, मोहर को हाथ में लेकर, भइया बोले, 'तुमने मोहर दी, और मैंने ले ली। लेकिन चूँकि तुम निरजन के सहपाठी हो, इसलिए यह मोहर तुमको मैं अपनी ओर से दूध पीने के लिए देता हूँ। घर से वापस आओ, तो फिर मिलना। यो भी कभी जरूरत पडने पर तुम मेरे पास बेखटके आ सकते हो।'

न्हारुआ की सफल चिकित्सा

०

हमारे समय में जोधपुर स्टेट मे गाँववालो को पथरी की बीमारी बहुत ज्यादा होती थी। तालाब का पानी ही शायद इसका कारण रहा हो। न्हारुआ भी बहुत निकलता। यह एक प्रकार का कीडा होता है—सफेद धागे के माफिक। पानी के द्वारा पेट में जाकर जाँघ-टाँग-हाथ मे से बाहर मुँह कर लेता है—मरीज बडी तकलीफ पाता है। इसका ऑपरेशन बडा कठिन माना जाता है, क्योकि अगर कीडा कही टूट गया तो फिर मरीज की खैर नही।

भाईसाहब पथरी और न्हारुआ के ऑपरेशन बहुत सफलतापूर्वक करते थे। दूसरी स्टेटो के मरीज भी आकर ऑपरेशन कराने लगे। यहाँ की जनरल सर्जरी ख्याति प्राप्त कर चली थी। राजा-महाराजो में भी इन्ही की ज्यादा माँग थी। स्वभावत इनके ईर्ष्यालु भी पैदा हो गये।

एक दिन आबू से एक अँग्रेज डॉक्टर पथरी का ऑपरेशन देखने आया। साहब के पास ही ठहरा हुआ था। दूसरे दिन साहब इसको साथ लेकर अस्पताल आया। भइया पथरी का ऑपरेशन कर ही रहे थे कि इतने में ये लोग आ धमके। वह टकटकी लगाये देखता रहा। डॉक्टर किलकिली बोला, 'डॉक्टर मदनलाल इज एक्सपर्ट ऑन स्टोन। ही विल टीच यू दि टेक्नीक ऑफ हिज ऑपरेशन।'

दूसरा केस इस अँग्रेज डॉक्टर के हाथ में दिया गया, और जैसे ही उसने इन्स्ट्रूमेंट हाथ मे लिया, उसका हाथ काँपने लगा। भइया ने इन्स्ट्रूमेंट यथास्थान प्रवेश कर दिया और हाथ चलाने को कहा, लेकिन तब भी उसकी हिम्मत न पडी। तब भइया इन्स्ट्रूमेंट चलाते रहे—बीच-बीच में उसे देने का प्रयास करते, लेकिन उसकी हिम्मन न पडती। आखिर वह देख-दाखकर चला गया।

इस अस्पताल मे १०० बेड थे मर्दाने, और २५ बेड थे जनाने। यहाँ एक फीमेल डॉक्टरनी भी थी और ८ डॉक्टर थे। असिस्टेंट कम्पौण्डर, ड्रेसर आदि काफी तादाद में थे। फ्री वार्ड और फ्री खाना मिलता। भाईसाहब सुवह-शाम वार्ड मे एक चक्कर जरूर लगाते।

हठात् किलकिली के पास इंगलैण्ड से तार आया कि उसका चाचा मर गया है, और बहुत भारी रकम उसके नाम वसीयत कर गया है। वह ६ मास की छुट्टी लेकर इगलैण्ड चला गया। भइया उसकी जगह भी काम करने को नियुक्त किये गये, यानी अब ऑफीशियेटिंग रेजीडेन्सी सर्जन नियुक्त कर दिये गये। इनका सरोकार रेजीडेंट से भी पडने लगा। गभीर बीमारियो में अब यही जाने लगे।

दोपहर को मौका पाते ही अस्पताल के अन्य डॉक्टर हमारे बँगले पर आ धमकते और मुझसे कहते, 'भई निरजनलाल, शर्वत पिलाओ। तेरा भाई तो हमको परेशान कर डालता है। देखो, इस समय भी एक ऑपरेशन करने की तैयारी में लगा हुआ है। आज तो तीन ही बजते दीखते है।'

मैं कहता, 'उसी को गाली देते हो और उसी का शर्वत पीना चाहते हो।'

मेरी बात सुनकर वे लोग खूब हँसते।

एक दफा मैं पूछ बैठा, 'अच्छा बताओ डॉक्टर साहब, आप में और हमारे भाई मे क्या फर्क है ?'

उनमें से एक डॉक्टर माताप्रसाद कायस्थ थे—अच्छे स्वभाव के थे, और अनुभवी भी थे। उन्होने कहा, 'अन्तर और कुछ नही—सिर्फ इतना ही है कि तुम्हारे भाई चाकू लेकर चलाते ही बनते है, और हम सोचते ही रह जाते है कि चाकू चलायें कि नही। अनोखी है उनकी दृष्टि कि वे मरीज के अन्दर का सारा हाल देख लेते है। बस फर्क इतना ही है, लेकिन यही तो प्रधान फर्क है—नही तो एक ही दिन मे इतने सफल सर्जन कैसे वन जाते ? समझे मेरे अजोज, निरजनलाल।'

वकालत का मेरा पहला मुकद्दमा

०

जब मैं परीक्षाओ मे बराबर फेल होता चला गया, तो प्रश्न उठ खडा हुआ कि अब क्या करना चाहिए ? मैं तो सिर्फ 'ओऽम्' का जप करता रहता—मन-ही-मन मे। मैं तो आशावादी था ही, मेरी इतनी असफलताओ के बावजूद भइया की भी मेरे बारे में ऊँची धारणा बनी हुई थी।

एक दिन भइया बडी प्रसन्न मुद्रा में आये और कहने लगे, 'यहाँ जोधपुर में हिन्दी में भी वकालत का इम्तिहान होता है। पास हो जाने पर जोधपुर स्टेट मे इन वकीलो की भी वही पोजीशन हो जाती है, जो बी० ए० एल०-एल० बी० की होती है। इम्तिहान के कुल चार मास बाकी है। लेक्चरर मेरे मित्र का लडका है, उससे बात हो गई है। कल से उसके पास जाना शुरू कर दो, वह तुमको अवश्य पास करा देगा। पास हो जाने पर तुम्हारे जीवन में एक जबर्दस्त मोड आ जायेगा, और तुम्हारी अब तक की सारी असफलताएँ दब जायेंगी।'

मैं दूसरे ही दिन उनके पास चला गया। मैंने जी-तोड परिश्रम किया, और भगवान ने मेरी सुन ही तो ली, मैं पास हो गया और मुझे डिग्री मिल गयी। अब मैने वकालत की अँग्रेजी की किताबें मोल ले ली और उनका अध्ययन करने लगा। साथ-साथ प्रैक्टिस भी शुरू कर दी, और केस भी आने लगे। सफलता मिलने लगी। भाईसाहब के ताँगे मे ही मैं कोर्ट आया-जाया करता। रुतबा जमने लगा।

वकालत पास करने के बाद जो प्रथम केस मेरे पास आया था, उसकी फीस के १०० रुपये मुझे अग्रिम मिल गये थे। उस दिन भइया को जो खुशी हुई थी, उसका वर्णन नही कर सकता। भइया मुझे अपने साथ घर मे ले गये। भाभी को बुलाया और कहने लगे, 'अपना पल्ला पसारो—निरजन की पहली फीस के रुपये लो।' मैंने भाभी के आँचल मे रुपये रख दिए और उनके धोक लगाई। वह अवसर मेरे जीवन की सफलता की प्रथम सीढी थी।

यह केस इस प्रकार था दो मित्र थे। एक था माहेश्वरी वैश्य—दूसरा माली। उन दोनो मित्रो में दुश्मनी हो गई। माहेश्वरी ने माली के यहाँ प्रसाद के रूप में ४ पेडे भेजे, जिनमें जहर मिला हुआ था। माली के दो बच्चे थे। बच्चो ने पेडे देखते ही १-१ पेडा खा लिया, और जहर का असर होना ही था। जहर था सखिया। बच्चे अस्पताल लाये गये, तुरन्त इलाज किया गया, और बच्चे बच गये। केस सगीन था, इसलिए पुलिस के हाथ मे चला गया। इस सम्बन्ध में माहेश्वरी की तरफ से मैं और एक सीनियर वकील पृथ्वीराजजी नियुक्त किये गये। लेकिन जिरह और आरग्युमेंट वगैरह मैंने ही किये थे। आरग्युमेंट के समय कोर्ट-रूम खचाखच भरा हुआ था। मेरा मुवक्किल बरी हो गया। पहले ही केस मे मेरी ख्याति फैल गई। अब तो जुर्म के सगीन केस मेरे पास आने लगे। पैदा शुरू हो गई। भइया बडे प्रसन्न थे।

आप अवश्य ही यह जानने को इच्छुक होगे कि जिसने कल वकालत पास की थी, और जिसने अभी तक कचहरी का मुँह तक नही देखा था, उसके हाथ मे जहर खिलाने का सगीन मुकदमा किन कारणो वश सौप दिया गया ? इस प्रकार के मुकदमे बडे जोखिम के होते है, और बहुत-कुछ वकील के जिरह करने की योग्यता पर ही अपराधी का जीवन निर्भर रहता है। दरअसल यह मुकदमा मेरे हाथ मे जो आया, उसके पीछे एक रहस्य छिपा हुआ था। वह रहस्य यह था—

माली के दोनो बच्चे सदर अस्पताल मे, जहाँ कि मेरे भाई प्रधान डॉक्टर थे, इलाज के लिए लाये गये थे, और उन्होने ही उन बच्चो का इलाज किया था। उनके सर्टीफिकेट के आधार पर ही जहर देनेवाले माहेश्वरी को पकडा गया था, और अब उस पर जहर देने का मुकदमा चलाया जा रहा था।

मुजरिम के अभिभावको को जब पता चला कि मैं डॉक्टर साहब का भाई हूँ, और वकालत पास कर चुका हूँ, तो उन्होने इस आशा से मुझे अपना वकील नियुक्त कर लिया कि मेरे भाई मेरी प्रतिष्ठा जमाने के हेतु अदालत में ऐसे बयान दे देंगे जिससे मुकदमा कमजोर पड जाएगा, और मुजरिम रिहा हो जाएगा।

इत्तफाक से जब दोनो बच्चो का इलाज हो रहा था—यानी इन बच्चो के पेट

की सफाई की जा रही थी—तब मैं भी वहाँ खडा हुआ देख रहा था। और यह भी देख रहा था कि पुलिस कब आई, आकर उसने क्या किया, बच्चो के पेट की सफाई का पानी किस स्टेज में वोतलो मे भरा, और वोतलो के मुँह पर किस चीज की मोहर छाप दी, इत्यादि-इत्यादि।

अगली पेशी के दिन मैं कोर्ट में हाजिर हुआ, और मैंने अपने सीनियर वकील पृथ्वीराजजी से मुलाकात की। आज डॉक्टर साहब, पुलिस इन्सपेक्टर और सब-इन्सपेक्टर से क्रॉस-एक्जामिनेशन करने का कार्यक्रम निर्धारित किया गया था।

जिस समय मेरे भाई अदालत में दाखिल हुए, तो हाकिम ने अपने बगल मे ही कुर्सी देकर उनको बैठा लिया। सारे वकीलो में सनसनी फैल गई कि डॉ० मदनलाल अपने भाई को जिताने के लिए किस प्रकार पथ-भ्रष्ट होगे ··इस घटना को देखने के लिए सारे वकील उस अदालत के कमरे मे ठसाठस भरे हुए थे।

जब मुकदमे की कार्यवाही शुरू हुई, तो सर्वप्रथम डॉक्टर साहब का ही क्रॉस-एक्जामिनेशन होना था। मेरे सीनियर वकील ने आग्रहपूर्वक मुझे इस काम को करने के लिए आगे बढा दिया। मुझे अच्छी तरह से याद है कि उस समय मुझे कोई घबराहट नही थी। मैं प्रश्न करने लगा। मेरा पहला प्रश्न था 'डॉक्टर साहब, कृपया यह बतलायें कि जो अलामात इन बच्चो का इलाज करते समय परिलक्षित हुए थे, वे सडी-गली अथवा अन्य अखाद्य चीजें खाने से भी परिलक्षित हो सकते है क्या ?'

डॉक्टर साहब ने उत्तर दिया, 'हॉ, अवश्य। इस प्रकार के अलामात अवाछनीय पदार्थ खाने से भी पैदा हो सकते है।'

इस वक्त कोर्ट में सन्नाटा था। सब यह देख रहे थे कि इतना उच्चपदस्थ डॉक्टर कल के पास-शुदा अपने भाई की प्रतिष्ठा जमाने के लिए क्या बक रहा है। हाकिम की भौहो पर भी बल पड गये थे।

तभी डॉक्टर साहब कहने लगे, 'मैं अपना दिया हुआ सर्टीफिकेट दुबारा कोर्ट के सामने पढ देना चाहता हूँ।' सर्टीफिकेट पढते समय उन्होने इस बात को दोहराया, 'यह केस निश्चित रूप से जहर खिलाने का ही था, और संखिया देने पर ऐसे अलामात दिखाई देते है, और शुरू-शुरू में इलाज होना भी सुगम रहता है, लेकिन जब संखिया खून में रमने लगता है, और खून की उल्टी वगैरह होने लगती है, तब स्थिति लाइलाज हो जाती है।'

मैं देख रहा था कि एक ओर हाकिम का चेहरा खिलता जा रहा था, तो

दूसरी ओर मेरे सीनियर वकील और मेरे मुवक्किल के चेहरे पर निराशा की सलवट पडती जा रही थी।

मैंने तुरन्त डॉक्टर साहब से फिर वही प्रश्न किया, 'लेकिन आप यह मानते है कि अन्य अखाद्य पदार्थों के खाने से भी इस तरह के अलामात लक्षित हो सकते है ?'

डॉक्टर साहब के लिए 'हाँ' मे उत्तर देने के अलावा कोई चारा नही था।

डॉक्टर साहब का क्रॉस-एक्जामिनेशन खत्म हुआ, और उसके बाद पुलिस-इन्सपेक्टर के क्रॉस-एक्जामिनेशन की बारी आई।

क्रॉस-एक्जामिनेशन के दरमियान दोनो इन्सपेक्टर्स आपस मे विरोधाभास के स्टेटमेंट दे गये, और कई ऐसी गलतियाँ कर गये जो कि मेरे मुवक्किल के हक में बडी फलदायक साबित हुई।

हाकिम की मुख-मुद्रा से भी भली प्रकार प्रतीत हो रहा था कि मैं अपनी जिरह में सफल हो रहा था।

क्रॉस-एक्जामिनेशन खत्म होने के बाद अदालत बर्खास्त हो गई, और दूसरी पेशी पड गई।

मुकदमे की अगली तारीख के दिन मैं और मेरे सीनियर वकील अदालत मे हाजिर हुए। तब तक आगरे से पेडो की एव बोतलो के पानी की केमिकल-एक्जामिनेशन की रिपोर्ट भी आ पहुँची थी। पेडो में संखिया पाया गया, लेकिन पेट से निकले हुए बोतलो के बन्द पानी में संखिया नदारत था। कारण यह कि पुलिस के पहुँचने के बहुत पहले ही पेट-सफाई का कार्य आरम्भ हो चुका था, और जो पानी पुलिस ने बोतलो में भरा था वह आखिरी 'वाश आउट' का पानी था।

आरग्युमेन्ट का भार भी सीनियर वकील ने मुझे ही सौंप दिया। बहस के उन खास-खास पाइण्ट्स पर, जो कि मेरे मुवक्किल के हक में थे, मैं जोर देता चला गया। मैंने कहा, 'पेडो मे जहर का पाया जाना कोई मायने नही रखता, क्योंकि पेडे मुद्दई के घर से कलेक्ट किये गये थे और वही पुलिस ने इधर-उधर से लेकर मोहर छाप लगा दी थी। महत्त्वपूर्ण है बच्चो के पेट से निकला हुआ पानी, और पेट के पानी में संखिया का न पाया जाना मेरे मुवक्किल के हक में है। इसके अलावा, पुलिस-इन्सपेक्टर और सब-इन्सपेक्टर के बयान भी विरोधाभासी होने के कारण मेरे मुवक्किल के हक में हैं।'

परिणामस्वरूप हाकिम ने मेरे मुवक्किल को सादर बरी कर दिया।

ऑफिस में सेकण्ड-क्लर्क की जगह खाली हुई, कारण हेड-क्लर्क के रिटायर होने के कारण सेकण्ड-क्लर्क उनकी जगह नियुक्त हो गये थे, और उनका स्थान रिक्त हो गया था। ये हेड-क्लर्क अँग्रेजी लिखने-पढने में कमजोर थे। ये सेकण्ड-क्लर्क के रिक्त स्थान पर एक ऐसे विश्वासी तथा होशियार आदमी को लेना चाहते थे, जो अँग्रेजी का भी अच्छा ज्ञाता हो। यह हमारे भाई के मित्र थे। इन्होने भइया को चिट्ठी लिखी, भइया अजमेर गये, इनसे मिले, तय हुआ कि उस स्थान के लिए भइया मुझे दे देंगे। इसमें भइया का उद्देश्य यही था कि मेरे वहाँ रहने पर उनके ऑनरेबुल रिटायरमेन्ट में सुविधा हो जायेगी, क्योकि राजपुताने के सारे सरकारी डॉक्टर इसी ऑफिस के नियत्रण मे थे, और उनका तबादला, पेंशन, रिटायरमेंट आदि की बातें यही से तय होती थी।

मैं वकालत छोडकर वहाँ चला गया, और मैंने उस ऑफिस मे सेकण्ड-क्लर्क का काम शुरु कर दिया। एक मास में सारा काम मैंने अपनी नजर से निकाल लिया। डाक समय पर निकलने लगी। ड्राफ्ट की भाषा बदल गई।

एक दिन साहब पूछ बैठे, 'क्या यह ड्राफ्ट नया क्लर्क करता है?'

कस्साजी यानी हेड-क्लर्क ने स्वीकार किया। साहब ने मेरा परिचय पूछा। उन्होने सच बात बता दी कि मैं डॉक्टर मदनलाल का भाई हूँ। साहब बहुत खुश हुआ।

भइया की छुट्टी के ५ मास बीत चुके थे। भइया इन साहब से मिले, इन्हें सारा हाल कह सुनाया। इन्होने भाईसाहब से एक अर्जी देने को कहा।

भइया ने अर्जी दी, कस्साजी ने उस पर अपना नोट दिया यह नोट तैयार किया हुआ मेरा ही था। सिर्फ लिखा उनके हाथ से गया था।

अर्जी पर साहब का हुक्म हुआ कि डॉ० मदनलाल 'इनवेलिड सर्टीफिकेट' पेश करे।

यह साहब अजमेर मेरवाडा का सिविल-सर्जन भी था। अब भइया अस्पताल मे इसके सामने हाजिर हुए। इसने भइया का औपचारिक शारीरिक-निरीक्षण करके 'इनवेलिड सर्टीफिकेट' दे दिया।

भइया इस सर्टीफिकेट को लेकर कस्साजी के पास आये और अर्जी के साथ उसे साहब के सामने पेश कर दिया गया। इन्ही साहब ने, जो राजपुताना के चीफ मेडिकल ऑफिसर भी थे, उस सर्टीफिकेट को मंजूर कर, भइया को अवकाश दे दिया।

इसके बाद भइया चुरु जाकर बस गये। हम लोगो का पैत्रिक स्थान वही है।

सगे-सम्बन्धियों के प्रति सहृदयता

०

भइया सिर्फ कुटुम्ब-पोशी ही नही थे, वल्कि इनका हृदय अपने सगे-सम्वन्धियो के प्रति भी सहृदयता से लबालब भरा रहता था। जब भइया रिटायर होकर चुरू मे आ बसे थे और वहाँ उन्होने अपनी प्रेक्टिस चालू कर दी थी, उस समय की बात है, मेरे साले अयोध्याप्रसादजी काफी बीमार पड गये। कोटा से मेरे पास उनका पत्र आया कि वे मुझसे मिलना चाहते है। उन्होने पत्र में यह भी लिखा था, 'शायद अव मिलना हो, न हो। मेरी हालत नाजुक हो चली है। डॉक्टर साहब के दर्शन की अभिलापा भी मेरे मन में वडी प्रबल है।'

मैं पत्र लेकर चुरू पहुँचा, और भाईसाहव से सारा हाल कह सुनाया। वे तुरन्त चलने को राजी हो गये। गर्मी के दिन थे। जिस रात को रवाना होने का निश्चय किया था, उसी दिन सवेरे भाईसाहव को जोर का वुखार चढ गया। दोपहर में मैं कमला नीवू ले आया, और धीरे-धीरे छील-छीलकर उनको देता गया। शाम को बुखार उतर गया, और हम दोनो भाई उसी रात में रवाना हो गये। भाभी ने साथ मे नौकर ले जाने के लिए कहा, लेकिन मैंने कह दिया, कि भला नौकर मुझसे ज्यादा क्या चाकरी वजा सकेगा!

हम दूसरे दिन शाम को कोटा पहुँच गये। अजमेर के एक प्रसिद्ध वैद्य पडित हरदत्तजी शर्मा उनका इलाज कर रहे थे। ये वैद्यजी भी भइया के वडे

ऑफिस में सेकण्ड-क्लर्क की जगह खाली हुई, कारण हेड-क्लर्क के रिटायर होने के कारण सेकण्ड-क्लर्क उनकी जगह नियुक्त हो गये थे, और उनका स्थान रिक्त हो गया था। ये हेड-क्लर्क अँग्रेजी लिखने-पढने में कमजोर थे। ये सेकण्ड-क्लर्क के रिक्त स्थान पर एक ऐसे विश्वासी तथा होशियार आदमी को लेना चाहते थे, जो अँग्रेजी का भी अच्छा ज्ञाता हो। यह हमारे भाई के मित्र थे। इन्होने भइया को चिट्ठी लिखी, भइया अजमेर गये, इनसे मिले, तय हुआ कि उस स्थान के लिए भइया मुझे दे देंगे। इसमें भइया का उद्देश्य यही था कि मेरे वहाँ रहने पर उनके ऑनरेबुल रिटायरमेन्ट में सुविधा हो जायेगी, क्योकि राजपुताने के सारे सरकारी डॉक्टर इसी ऑफिस के नियत्रण में थे, और उनका तबादला, पेंशन, रिटायरमेंट आदि की बातें यही से तय होती थीं।

मैं वकालत छोडकर वहाँ चला गया, और मैंने उस ऑफिस मे सेकण्ड-क्लर्क का काम शुरू कर दिया। एक मास में सारा काम मैंने अपनी नजर से निकाल लिया। डाक समय पर निकलने लगी। ड्राफ्ट की भाषा बदल गई।

एक दिन साहब पूछ बैठे, 'क्या यह ड्राफ्ट नया क्लर्क करता है?'

कस्साजी यानी हेड-क्लर्क ने स्वीकार किया। साहब ने मेरा परिचय पूछा। उन्होने सच बात बता दी कि मैं डॉक्टर मदनलाल का भाई हूँ। साहब बहुत खुश हुआ।

भइया की छुट्टी के ५ मास बीत चुके थे। भइया इन साहब से मिले, इन्हे सारा हाल कह सुनाया। इन्होने भाईसाहब से एक अर्जी देने को कहा।

भइया ने अर्जी दी, कस्साजी ने उस पर अपना नोट दिया यह नोट तैयार किया हुआ मेरा ही था। सिर्फ लिखा उनके हाथ से गया था।

अर्जी पर साहब का हुक्म हुआ कि डॉ० मदनलाल 'इनवेलिड सर्टीफिकेट' पेश करे।

यह साहब अजमेर मेरवाडा का सिविल-सर्जन भी था। अब भइया अस्पताल में इसके सामने हाजिर हुए। इसने भइया का औपचारिक शारीरिक-निरीक्षण करके 'इनवेलिड सर्टीफिकेट' दे दिया।

भइया इस सर्टीफिकेट को लेकर कस्साजी के पास आये और अर्जी के साथ उसे साहब के सामने पेश कर दिया गया। इन्ही साहब ने, जो राजपुताना के चीफ मेडिकल ऑफिसर भी थे, उस सर्टीफिकेट को मंजूर कर, भइया को अवकाश दे दिया।

इसके बाद भइया चुरू जाकर बस गये। हम लोगो का पैत्रिक स्थान वही है।

सगे-सम्बन्धियों के प्रति सहृदयता

०

भइया सिर्फ कुटुम्ब-पोशी ही नही थे, वल्कि इनका हृदय अपने सगे-सम्बन्धियो के प्रति भी सहृदयता से लवालव भरा रहता था। जव भइया रिटायर होकर चुरू मे आ वसे थे और वहाँ उन्होने अपनी प्रेक्टिस चालू कर दी थी, उस समय की वात है, मेरे साले अयोध्याप्रसादजी काफी वीमार पड गये। कोटा से मेरे पास उनका पत्र आया कि वे मुझसे मिलना चाहते है। उन्होने पत्र में यह भी लिखा था, 'शायद अव मिलना हो, न हो। मेरी हालत नाजुक हो चली है। डॉक्टर साहव के दर्शन की अभिलाषा भी मेरे मन में वडी प्रवल है।'

मैं पत्र लेकर चुरु पहुँचा, और भाईसाहव से सारा हाल कह सुनाया। वे तुरन्त चलने को राजी हो गये। गर्मी के दिन थे। जिस रात को रवाना होने का निश्चय किया था, उसी दिन सवेरे भाईसाहव को जोर का बुखार चढ गया। दोपहर में मैं कमला नीवू ले आया, और धीरे-धीरे छील-छीलकर उनको देता गया। शाम को बुखार उतर गया, और हम दोनो भाई उसी रात में रवाना हो गये। भाभी ने साथ में नौकर ले जाने के लिए कहा, लेकिन मैंने ꠲ ꠲या, ꠲ भला नौकर मुझसे ज्यादा क्या चाकरी वजा सकेगा।

हम दूसरे दिन शाम को कोटा पहुँच गये। अजमेर ꠲ पडित हरदत्तजी शर्मा उनका इलाज कर रहे थे। ये ꠲

प्रेमी और भक्त थे। मैं तो ४-५ दिन रहकर वापस चला आया, लेकिन भइया वहीं ठहर गये, और पूरे डेढ मास वही रहे। इतनी भारी प्रेक्टिस की भी उन्होने कुछ परवाह न की। डॉक्टर लोग यो भी अपने क्षेत्र को ज्यादा समय के लिए छोडना नही चाहते, फिर इतनी भारी पैदा को तिलाजलि दे देना! ··सो भी किसके लिए? एक भाई के साले के लिये, जहाँ से एक पैसा तक लेने का सवाल नही। यह बात इनके विशाल हृदय की गहराई की द्योतक है।

अयोध्याप्रसादजी की बीमारी असाध्य हो चली थी। आखिर ये इलाज कराने अजमेर चले आये। उस समय मैं अजमेर में नौकरी करने लगा था। मैं इनको स्टेशन पर लेने गया। मुझे देखकर बडे प्रसन्न हुए। मुझसे इनका विशेष स्नेह था। इनके माता-पिता जीवित थे, और ये अपने माता-पिता के अनन्य भक्त थे। आखिर अजमेर में ही दशहरे के दिन इनकी मृत्यु हो गई। मैं वही पर था। उस दिन का दृश्य बडा ही हृदय-विदारक था सिर्फ एक छोटी-सी बालिका गोद में छोडकर मरे थे।

अयोध्याप्रसादजी के पिता के जैसा व्यक्ति मैंने अपने जीवन में दूसरा नही देखा। पुत्र की मृत्यु के १६ साल बाद उनकी मृत्यु हुई, लेकिन उनकी ऑख के आँसू एक दिन भी नही सूखे। रात मे सोते-सोते विकल होकर एक-दो बार जरूर ही रो पडते। उनको जगाकर होश मे लाते, तब वे शान्त होते। कभी-कभी तो झुँझला जाते कि यह क्या किया—मैं सुख ले रहा था, जगाकर मुझे दुःख में क्यो डाल दिया? दिन में 'भक्तमाल' लेकर बैठ जाते, पढते जाते और गद्‌गद होकर आँखो से अविरल अश्रु-धारा बहाते जाते। अन्त समय तक यही हाल रहा इनका।

अयोध्याप्रसादजी की मृत्यु के १७-१८ दिन बाद ही मेरे बडे भाई अनन्त-रामजी का भी देहान्त हो गया। नागौर मे इनकी कपडे की दुकान थी। ये नागौर मे बीमार पडे, और तकलीफ ज्यादा बढने पर चुरू चले आये। वहाँ एक मास और बीमार रहे। अपनी भाभी (इनकी स्त्री) को लेकर मैं नसीराबाद से चुरू पहुँचा। उस समय तक इनकी हालत काफी नाजुक हो चली थी। सूजन होकर लीवर पक गया था। हमारी भाभी और भइया दोनो जने अडे सेने के माफिक इनके पास बैठे रहते। वही सोते। हम पहले कह चुके है कि निःसतान होने पर भी हमारी भाभी ने मातृ-हृदय पाया था। उसी हृदय से वे सब की सेवा करती थी।

एक रात को भाई अनन्तरामजी की तबियत ज्यादा खराब हुई, तो हमारे

भाईसाहव के पुराने कम्पौण्डर (भाई गगाविशनजी) भी देख-भाल के लिए आ गये। उन्होने भाईसाहव से कहा, 'डॉक्टर साहव, इन्जेक्शन लगा दीजिये।'

भइया फूट-फूटकर रो पडे और कहने लगे, 'गगाविशन, मेरा हाथ काम नही करता। इसके शरीर में सूई चुभाने की मेरी हिम्मत नही। दूसरे किसी डॉक्टर को वुला लो। जिस हाथ ने हजारो-हजारो ऑपरेशन कर डाले, आज वही भ्रातृ-स्नेह से विह्वल होकर अपनी असमर्थता प्रकट कर रहा है—मैं क्या करूँ ?'

किसी तरह उनको शान्त कराया गया, और इन्जेक्शन दिलाया गया।

थोडे दिन वाद भाई अनन्तरामजी की मृत्यु हो गई। ये दो लडके छोडकर मरे थे—छोटा लडका कुल ६ मास का और वडा २ साल का था। छोटा लडका भी १-२ मास वाद ही चल वसा। वडा लडका आज वहुत सुखी है। इस विधवा भाभी का और उसके वच्चे का पालन-पोषण भी भाईसाहव ने ही किया—आदर्श के साथ।

सेकण्ड-क्लर्की का मेरा कार्य-काल

०

चूँकि भइया को अवकाश मिल ही गया था, इसलिए मुझे अब यहाँ सेकण्ड-क्लर्की की जगह रहना नही था। मेरे सामने फिर दो प्रश्न आकर उपस्थित हो गये— या तो अपनी प्रेक्टिस चालू करूँ, या फिर कलकत्ता जाकर अपनी तकदीर आजमाऊँ। चूँकि क्रिमिनल मुकदमो मे बिना असत्य का अवलम्बन लिये पूर्ण सफलता मिलनी मुश्किल थी, इसलिए मैंने कलकत्ता जाने का ही निश्चय किया, और सेकण्ड-क्लर्की से इस्तीफा दे दिया। इस पर साहब बहुत नाराज हुए। उन्होने कस्साजी से मुझे कहलवाया कि मैं इस्तीफा वापस ले लूँ, वे किसी स्टेट मे मुझे कोई अच्छा स्थान दिलवा देंगे। राजपुताने में जितनी स्टेटें थी और उनमें जितने डॉक्टर और रेजीडेन्सी-सर्जन थे, उन सब के अफसर यही थे। लेकिन मैंने इस्तीफा वापस न लिया। एक मास का नोटिस दे दिया और अवधि पूर्ण होने पर, चार्ज देकर अपना हिसाब ले लिया।

शाम को कस्साजी और मैं ऑफिस से साथ ही बाहर निकले। शहर के गेट पर खडे हुए हम कुछ देर बातें करते रहे। मुझे जाते देख उनको बडा ही क्लेश हो रहा था।

घर पहुँचते ही उनको बुखार हो गया, और थोडे ही दिनो में वे सुरधाम सिधार गये।

कस्साजी गुजरात के रहनेवाले थे, और वडे सरल हृदय के थे। मैं उनको बडे भाई तुल्य समझता और वे मुझे छोटा भाई मानते। गवर्नमेंट के यहाँ से बडे-बडे प्रश्न उपस्थित होते—उनका उत्तर हेड-क्लर्क को ही देना पडता। राजपुताने में उस समय ६०० डॉक्टर थे और सभी सरकारी नौकरी में थे—ये स्टेटो को 'लोन' पर दिये जाते थे। उन सवका हेड-ऑफिस हमारा ही ऑफिस था—यानी हमारा ऑफिस उन सवका भाग्य-विधाता था। इस सन्दर्भ मे यहाँ एक उदाहरण देता हूँ

उमाशंकर नामक एक डॉक्टर थे जो अजमेर मे रिलीविंग ड्यूटी पर काम कर रहे थे। एक दफा वे जोधपुर मे भी थे—वहाँ एक दफ्तर मे हेड-क्लर्क से अनवन होने के कारण उनका प्रोमोशन रुक गया। हेड-क्लर्क ने साहब से उनकी सर्विस-बुक मे खराब रिमार्क लगवा दिया, और परिणामस्वरूप वे सीनियर ग्रेड से वञ्चित रह गये।

वे एक दिन दोपहर को हमारे ऑफिस आये। गर्मी के दिन थे। वे कस्साजी से बडे दीन भाव से कहने लगे कि हमारे निस्तार का कुछ उपाय सोचिये। कस्साजी ने मुझे पुकारा। मैं उनके कमरे में गया—मेरा और उनका कमरा एक-दूसरे में खुलता था। मैंने कहा, 'कहिए वावूजी, क्या आज्ञा है ?'

वे कहने लगे, 'आज्ञा क्या है ? इनका केस तुम्हारे सिघीजी (जोधपुर के रेजीडेन्सी-सर्जन के हेड-क्लर्क) ने विगाडकर धर दिया है, और कोई रास्ता ही नजर नही आ रहा है कि क्या किया जाये ?'

कस्साजी ने मेरा भी परिचय उन डॉक्टर साहव से कराया। मैंने कहा, 'इसमें निराश होने की क्या वात है ? इनकी फाइल तो मँगाई जाय।'

फाइल लाई गई। उनका केस तुरन्त मेरी समझ में आ गया। मैंने डॉक्टर साहब को अर्जी का ड्राफ्ट लिखाया—उसी के अनुसार अर्जी लिखी गई। फिर वही अर्जी हमारे सामने पेश हुई। मैंने एक नोट तैयार किया, कस्साजी ने उस अर्जी पर उस नोट की नकल कर दी। फाइल सहित अर्जी साहव की पेशी में भेज दी गई। साहव ने उस पर 'ठीक है' का रिमार्क देकर फाइल वापस कर दी। उसी वक्त ड्राफ्ट तैयार किया गया, टाइप करवाकर साहब के पास भेजा गया, और उस पर साहव के दस्तखत हो गये। डॉक्टर साहव दो घटो में ही सीनियर ग्रेड मे प्रोमोशन पा गये। थोडे दिनो मे उनको एक अच्छी पोस्ट भी मिल गई।

उन्ही दिनो की वात है कि भारत सरकार की तरफ से किफायतसारी का

अभियान चला , उसके मुताबिक कई ऑफिसो को एक-दूसरे से मिलाकर बचत करने की स्कीम थी। इस ऑफिस की भी बारी आई। यह बात है जनवरी १९२२ की। गवर्नमेंट के यहाँ से एक ऑफिसर मुकर्रर होकर हमारे यहाँ आया और जाँच-पडताल शुरु हुई कि इस ऑफिस में माकूल कितना काम होता है, और इस स्टाफ को घटाकर यदि इस ऑफिस को दिल्ली ले जाकर वहाँ के मेडिकल ऑफिस में मिलाया जाए तो आसानी से काम चल सकता है क्या ? यह ऑफिसर हमारे यहाँ २ मास रहा था।

एक दिन यह मेरे कमरे मे आया, और मेरे नीचे जो क्लर्क काम करते थे, उनसे कडा व्यवहार करने लगा। मैं भी छोटी ही उम्र का था, खून में तेजी थी ही—मैं अपने को रोक न सका। बोल उठा, 'आपको मैनर्स नही आते , आप कृपया इस कमरे के बाहर चले जाइये, नही तो हम साहब से आपकी बदतमीजी की शिकायत कर देंगे।'

वह कस्साजी से कहने लगा, 'गोयनका को समझा दीजिये कि बात आगे न बढाये। मैं तो इन क्लर्कों से यह बात पूछ रहा था कि इनको क्या-क्या काम करना पडता है ?'

कस्साजी वही से गरजे, 'निरजनलाल, क्या बात है ? अफसर लोगो से इस तरह बात नही किया करते।'

मैंने उत्तर दिया, 'आप जो चाहे सो कहे—मैं सहने को तैयार हूँ। इनको कोई बात पूछनी हो तो आपके द्वारा पूछ लें—डाइरेक्ट हमसे बात न करें। हम उत्तर नही देंगे—ये मैनर्स नही जानते।'

अफसर को गुस्सा आ गया और उसने ऐसी रिपोर्ट तैयार की, जिससे सारे ऑफिस का स्टाफ ही खतम—साहब का भत्ता भी खतम। उसने हमारे समूचे ऑफिस को ही किसी दूसरे ऑफिस मे मिला देने की सिफारिश कर दी।

जब उसकी रिपोर्ट हमारे साहब के पास कमेंट के वास्ते आयी, तो मेरे चले जाने के थोडे ही दिन रह गये थे। कस्साजी को तो पसीना ही आ गया। और भी सबको मालूम पड गया। कस्साजी ने मुझसे कुछ नही कहा। वे तो समझ ही गये थे कि मेरे लडने के कारण ही सबकी नैया डूबी थी।

फर्रास मेरे पास आया और कहने लगा, 'बाबूजी, आप तो चल दिये, और हम सबको मार गये।'

मैंने कहा, 'क्या हुआ ? मैंने तो कुछ किया नही—बात क्या है ?'

उसने सारा हाल कह सुनाया और कहने लगा, 'बाबूजी बहुत उदास बैठे है।'

थी। इस पेशे मे सफलीभूत होने के लिये प्रथम गुण था—कुशल चाटुकार होना। बचपन से इस प्रकार की ट्रेनिंग मिली हो, तभी इसमे सफलता प्राप्त की जा सकती है—नही तो असम्भव। तो अब मैं करूँ, तो क्या करूँ ?

आखिर एक निकट सम्बन्धी के प्रयत्न से मैंने नमक के एक दलाल के साथ काम शुरू कर दिया—मुनाफे मे दो आना हिस्से के हिसाब से। यह सज्जन पिलानी के सरावगी थे। मैं सबेरे गद्दियो मे जाकर नमक के भाव भुगताता और फिर जहाजो से नमक नावो मे भरवाता। खाना केवल एक बार तीसरे पहर में ही खाता, क्योकि बाजार के खाने से मुझे परहेज था। इस प्रकार ४-५ मास बीत गये। मैंने इस बीच उस दलाल से एक बार भी पैसे नही माँगे, न उसी ने अपने-आप दिये।

भइया ने भाई कमलाप्रसाद गोयनका को कह रखा था कि मैं जितने रुपये मासिक चाहूँ, वे मुझे दे दिया करें। भइया बराबर चिट्ठी लिखते रहते कि हिम्मत से काम लेना, साहस न खोना, खर्चे की परवाह न करना, तकलीफ किसी भी भाँति मत पाना।

इस दलाल का नाम कालूराम था। एक दिन मुझे कहने लगा, 'तुम जाकर मेरे बच्चो को देश छोड आओ।'

मै राजी हो गया।

पहली स्त्री से उसके कई बच्चे थे—नई पत्नी भी गर्भवती थी। साथ मे एक रसोइया था। स्टेशन पर गाडी खडी होती, तो बच्चे बोलना शुरू करते—मुनीमजी, फलॉ चीज लाकर दो। कभी पानी माँगते, कभी कुछ, तो कभी कुछ।

मैं दिल मे बडा हँसता—देखो भाग्य की विडम्बना, कैसे कीचड में आ फँसा हूँ। वकालत छूटी, सरकारी नौकरी छूटी, अलवर स्टेट में बडा भारी अवसर मिल रहा था, उसके ठोकर मारी—और अब काम करने को मिला, तो यह! खैर देखें, आगे क्या होता है ?

हम पिलानी पहुँचे। मकान खोला गया—दो-मजिला मकान था। सेठानी पिल गई मकान साफ करने मे। मुझे भी साथ जुतना पडा। रसोइया, मैं और वह। झाड़ू से उड-उडकर चारो तरफ धूल-ही-धूल हो रही थी, और मैं भी धूल-धूसरित होता चला जा रहा था।

मैं उस समय सोच रहा था—हिस्ट्री रिपीट हो रही है। मुझे बडे जोर की हँसी आ गई। सेठानी हँसी का कारण पूछने लगी। मैंने इधर-उधर की बात बनाकर टाल दिया। दोपहर को नहा-धोकर हम साफ हुए।

दूसरे दिन मैंने जाने का प्रस्ताव पेश किया, तो सेठानी जाने ही न दे। तब मैंने साफ कह दिया, 'मैं तो अब यहाँ एक घडी भी रुकने का नही। मेरा जितना काम था, वह मैंने पूरा कर दिया। मेरा घर नजदीक है—मैं यहाँ से अपने घर चुरू जाऊँगा। आखिर मैं भी बाल-बच्चेदार हूँ—थोडे दिन घर पर रहकर तब कलकत्ता जाऊँगा।'

चुरू पहुँचकर सारी दास्तान मैंने भाईसाहब को कह सुनाई, लेकिन वे भी थे पूरे आशावादी। कहने लगे, 'परवाह नही, तुमको रहना पडेगा कलकत्ता या कलकत्ता की तरफ हो। मेरा अन्त करण यही कहता है कि तुम्हारा भविष्य वही है। वही तुमको सफलता मिलेगी। यहाँ रहे तो जिन्दगी भर नौकरी करोगे, फिर आखिर ज्यो-के-त्यो।'

इतने में हमारे मालिक साहब (!) का कलकत्ता से तार आया कि फलाँ तारीख को राजगढ में मिलो। मैं वहाँ कालूरामजी महोदय से मिला। उसने मुझे तुरन्त कलकत्ता चले जाने का हुक्म दे दिया। मैं दूसरे दिन कलकत्ता चला गया। वहाँ जाकर देखता हूँ कि वह भला आदमी सब काम बन्द करके चला गया है। कालूराम ने मुझे ६ मास खटाकर एक पैसा भी नही दिया, बल्कि कलकत्ता वापस आने का किराया तक मुझे ही भोगना पडा। मैंने उससे माँगा नही, और अपने-आप वह देने क्यो चला।

ज्योतिषी से साक्षात्कार

०

मैं जिन गोयनका-भाई की गद्दी मे ठहरा हुआ था, वहाँ गया की तरफ का एक ज्योतिषी आया करता था। उसकी अच्छी ख्याति थी। मैं एक दिन गद्दी पर बैठा हुआ था। मुझे उदास देखकर वे बोले, 'क्यो बाबू साहब, आज इतने उदास कैसे बैठे है ?'

मैंने कहा, 'क्या कहा जाय ? यहाँ कलकत्ते में मुझे करीब १४ मास निठल्ले बैठे हो गये। कोई रोजगार हाथ नही लगता। मैं २६-२७ वर्ष का हो गया, लेकिन आज तक स्थिर रहकर कोई काम नही कर सका। मैं बाल-बच्चेदार हूँ, लेकिन अभी तक अपने बडे भाई के ऊपर अवलम्बित हूँ। वह भाई क्या है—देवता है, जो कि आज तक बडे प्रसन्न चित्त से मेरा पालन-पोषण करता आया है, बल्कि अभी भी वही करता है। ८ साल का था तो पिता की मृत्यु हो गई। मैंने मैट्रिक में एक साल खराब कर दिया, इन्टर में चार साल खराब कर दिये। फिर हिन्दी मे वकालत की, जो चली भी, लेकिन किसी कारण वश छोड देनी पडी। फिर सरकारी नौकरी भी मिल गई जो अच्छी-भली थी, लेकिन उसके भी ठोकर मारकर यहाँ चला आया। अब इस समुद्र में मैं अपने को बिलकुल ही खोया हुआ पाता हूँ—कोई सहारा नजर नही आता। क्या करूँ, कुछ समझ में नही आता। यहाँ नमक की दलाली की, और जिसके साथ

काम किया, उसको खुश रखने मे मैंने कुछ कमी न रखी, लेकिन यहाँ भी सफल न हो सका। मैं तो अब एक मूर्ख अनपढ की भाँति बीच मँझधार मे लहरो के थपेडे झेल रहा हूँ। मैं अब धीरे-धीरे यह महसूस करने लगा हूँ कि मैं कुछ भी नही जानता, कि मैं एकदम निकम्मा हूँ, कि मेरा जीवन व्यर्थ है—लेकिन क्या करूँ, मेरे साथ गृहस्थी लगी है, उसको असहाय छोडकर कही चल देना भी मनुष्यत्व नही—कायरता है, और मुझे कायर कहा जाना भी असह्य है। मुझे ईश्वर में पूरा भरोसा है—उसके भरोसे पर ही साँस ले रहा हूँ।'

पडितजी बोले, 'इतने घवडाने की कोई बात नही है। आप इतनी निराशा की बात करते है, लेकिन आपकी पेशानी तो कुछ और ही बता रही है—शायद २-३ मास की और देर देखता हूँ •फिर प्रभु की इच्छा हुई, तो जिनकी गद्दी पर इस समय आप बैठे है, उनसे कही ज्यादा भाग्यवान बनेंगे। अच्छा, आपकी जन्म-पत्री हो, तो मुझे दे दें।'

अपने पास जन्म-पत्री रखने का मुझे पुराना रोग था। जीवन मे असफल व्यक्तियो का एक अवलम्ब जन्म-पत्री भी होती है। मैंने अपनी जन्म-पत्री उनको दे दी।

दूसरे ही दिन वे बडी प्रसन्न मुद्रा मे आये और कहने लगे, 'कल तो आपको बाबू साहब नाम से सम्बोधित किया था—आज आपको सेठजी कहकर सम्बोधित करने का साहस लेकर आया हू। कल मैंने जो बातें कही थी, वे यथार्थ ही थी—आपको यहाँ से चला जाना होगा, लोहे, कोयले के काम मे लग जाना पडेगा। वहाँ आप दृढता से काम करेंगे, ख्याति पायेंगे, पैसा भी मिलेगा। हालाँकि जिसको धन कहते है, उसके आने मे जरा देरी होगी, लेकिन ख्याति दिनो-दिन बढती ही चली जायेगी। आपका जीवन सुखमय होगा। आपके अवांछनीय दिन खतम हो गये हे। थोडे ही दिनो में आप दूसरे ढग के आदमी हो जायेंगे। मैं अभी आपसे कुछ भी न लूँगा—इस समय आपके पास कुछ हे भी नही देने को। मैं आपसे आपका निज का कमाया पैसा लूँगा, और आप जहाँ भी होगे, वहाँ आपके पास पहुँच जाऊँगा। जब उस स्थिति मे मैं आपसे मुलाकात करूँगा, तब आपके भविष्य की और बातें भी आपको बतलाऊँगा। सो अब आप उदासी झटक दीजिए। आप जैसा आदमी उदासी का शिकार नही बन सकता।'

इस प्रकार कहकर उन्होने मुझे बडी हिम्मत बँधाई।

प्रभु की कृपा से २-३ मास में ही मेरा काम सेठ ताराचंद घनश्यामदास की फर्म में लग गया।

बाद में, जब मैं जैरामपुर कोलियरी में था, तब यही पंडितजी मेरे पास पधारे थे—मैंने यथाशक्ति उनका सम्मान किया था। वे मेरी स्थिति देखकर बडे प्रसन्न हुए थे। उन्होने मुझे भविष्य की और भी कई बातें बताई जो ईश्वर की कृपा से सभी मिलती गई।

ज्योतिष में मेरा और मेरे भाई का सदा ही विश्वास रहा। कई बातें तो इस प्रकार मिल जाती कि बुद्धि काम ही नही कर पाती। लेकिन नौसिखिये के हाथ में पडने से कभी-कभी भारी कष्ट भी उठाना पडता है। लोभी ज्योतिषी के फदे में पडने से भी हानि होती है। भृगु-सहितावाले ज्योतिषियो के फंदे में नही पडना चाहिए। एक बार उनके फदे में पडकर फिर आसानी से निकल जाना मुश्किल हो जाता है। उनकी बातें नही मिलती हो, ऐसी बात तो नही है, लेकिन वे जप-जाप करने की बातें बता देते है, और वे सब उन्ही से कराने पडते है, फिर तो वे रुपया बेरहमी से खीचना शुरू कर देते है। काम हो गया, तो ठीक, नही तो यजमान की तकदीर। ये लोग घरवालो के नाम-पते बताकर बडा भारी विश्वास पैदा कर लेते हे। इसलिए कम-से-कम स्त्रियो को तो इनके पास फटकने भी नही देना चाहिए, क्योकि ये कोई कमजोरी की बात बताकर उन्हें वश में कर लेते है और रुपया खीच लेते है। स्त्री-जाति को जब पता चल जाता है कि पंडितजी को हमारी कमजोरी मालूम पड गई है, तो वे परवश हो जाती है, और पूर्ण समर्पण कर बैठती है उनके चरणो में। हम यह बातें यहाँ इसलिए लिख रहे हैं ताकि भोली-भाली मातायें और बहिनें इनके चगुल से बची रहे।

एक प्रेरणादायक पत्र

०

चुरु से वापस कलकत्ता पहुँचकर मैंने भइया को पत्र द्वारा यहाँ की परिस्थिति से अवगत कर दिया। तुरन्त उनकी उत्साहप्रद चिट्ठी आई, और उसी के साथ आया एक पत्र आदरणीय श्री जयनारायण पोद्दार के नाम। मैं उक्त पत्र को लेकर सेठजी से मिला। उन्होने बडे प्रेम से मुझसे बात की। उनकी वाणी वात्सल्य रस से भरी हुई थी। मैं सोच भी नही सकता था कि इतना वैभवशाली व्यक्ति इतना निरभिमानी भी हो सकता है। उन्होने तुरन्त अपने ज्येष्ठ पुत्र रामचन्द्रजी को पुकारा। आवाज सुनते ही वे झट आ गये। सेठजी ने उनसे मेरा परिचय कराया। वे मुझे देखकर बडे प्रसन्न हुए। उसी समय इनके द्वितीय पुत्र दीपचन्दजी भी अपने कमरे से आ गये। उन्होने आपस में बात-चीत की। उनकी बात-चीत से मुझे पता चला कि भइया का इन लोगो से रामगढ में घनिष्ठ परिचय हो चुका था, और मेरी चर्चा भी हुई थी। तीनो की ही मुख-मुद्रा पर प्रसन्नता लक्षित हो रही थी।

ये लोग सेठ ताराचन्द घनश्यामदास फर्म के पार्टनर थे। रामचन्द्रजी इस समय इस फर्म के प्रधान 'एडमिनिस्ट्रेटर' थे। इन्होने मुझे दूसरे दिन से आ जाने का आदेश दे दिया, और कहा, 'ऑफिस भी मेरे साथ चला करना, और जहाँ भी मैं जाऊँ, मेरे साथ रहना।'

यह वात १ फरवरी १९२४ की है। मैंने तदनुसार कार्य करना शुरू कर दिया।

इस प्रकार अपने साथ २० दिन रखकर उन्होंने दिनाक २० फरवरी १९२४ को मुझे झरिया चले जाने का आदेश दे दिया। इन बीस दिनो में मुझसे किसी प्रकार का भी कोई कार्य नही लिया गया था। भाई किशनलालजी से ऑफिस में भेंट हो जाती, लेकिन मौन रूप से ही।

मैंने एक पत्र भइया को लिख दिया कि इस प्रकार मुझे २० दिन अपने पास रखकर झरिया भेज रहे है—मैं कल वहाँ चला जाऊँगा। मेरे पत्र के उत्तर में भइया का पत्र मुझे झरिया में प्राप्त हुआ। यह पत्र मेरे जीवन का मूल-मंत्र वन गया। उन्होने लिखा था—

'लगन, सच्चाई और उत्तरोत्तर काम सीखने की उत्कट पिपासा मनुष्य को ऊँचे-से-ऊँचे स्तर पर पहुँचा देती है। जीवन के मार्ग में अवरोध आते है—उनका स्वागत करना चाहिये, न कि उनसे घवडाना। उनके आने से जीवन में सघर्ष पैदा होता है, और सघर्ष जीवन में ज्योति पैदा करता है। सघर्ष के बिना जीवन जीवन ही नही वन पाता। सघर्ष के सामने अगर झुक गये, तो जीवन असफल हो जाता है। संघर्ष के ऊपर विजय प्राप्त कर लो, तो जीवन दिव्य वन जाता है। सघर्ष घवडाने की चीज ही नही है, यह तो सहर्ष स्वागत की चीज है। हम रोज ही देखते है कि छोटा वच्चा कितना सघर्ष करता है। अपने पैरो पर चलने के पहले उसे न जाने कितनी वार गिरना पडता है और चोट खानी पडती है, लेकिन उसकी उठ खडे होने की चेष्टा बरावर बनी रहती है। उस वक्त वह कोई अवलम्व भी पसन्द नही करता—वह वडा ही साहसी और अध्यवसायी होता हे। फिर थोडे ही दिनो मे वह भागने की शक्ति प्राप्त कर लेता है। इसके अलावा, पशु-पक्षी, कीडे-मकोडे तो अध्यवसाय की प्रतिमूर्ति ही होते है। मेरे पास रामचन्द्रजी की चिट्ठी आई थी। वे तुमसे प्रसन्न है। तुम्हारे वारे मे उनकी धारणा वहुत अच्छी वन चली है। तुम उनकी इस धारणा को अपने सत् व्यवहार एव अथक परिश्रम से उत्तरोत्तर सीचते रहो। प्रभु उसी पर कृपा करते है, जो अपने ऊपर कृपा करता है। अपने ऊपर कृपा करने का आशय ऊपर की पक्तियो में पा ही लोगे। नये वातावरण में शुरू-शुरू मे अक्सर दम घुटने लगता है। मेरी बातो को हृदयगम करना हो इसकी औषधि सावित होगी। पत्र को रोज एक बार पढ लिया करना—फिर चित्त के अधीर या अस्थिर होने का डर नही रहेगा। जीवन मे अपना कोई शत्रु नही है—फिर भी अगर कोई शत्रु नजर आये तो उसे सिर्फ अवरोध ही समझकर संघर्ष करो, क्योकि प्रकृति तुम्हारी भलाई

के लिये ही शत्रु पैदा करती है। जीवन मे उत्कर्ष शत्रु से ही मिलता है, न कि मित्र से। राम के जीवन को देखो, कृष्ण के जीवन को देखो, वैसे ही पाडवो का जीवन भी सघर्ष से भरा पडा है। अगर इनके जीवन में सघर्ष न आये होते और इन्होने उन सघर्षों को अपने सत्य आचरण और अध्यवसाय से पददलित न कर दिया होता, तो आज इनको कौन पूछता ? और कौन भगवान मानकर आज इनकी पूजा करता ? पत्र बरावर देते रहना—खाने-पीने का पूरा खयाल रखना—रुपये-पैसे की कोई चिन्ता न करना।'

इस पत्र को पढकर मुझे जितनी शान्ति और सहारा मिला—उसका वर्णन लेखनी की शक्ति के परे है। यह पत्र मेरे अधकारमय पथ मे ध्रुव तारे का काम कर गया।

कोल-फील्ड मे प्रथम पदार्पण

o

दिनाक २२ फरवरी १९२४ को मध्याह्न के समय मैं झरिया पहुँच गया। वहाँ श्री हरगोपाल प्रह्लादका के सामने उपस्थित हुआ और उनको रामचन्द्रजी की चिट्ठी दे दी। झरिया मे सेठ ताराचन्द घनश्यामदास की कोयले की दो खानें थी। एक का नाम था खास जैरामपुर, दूसरी का मुदरियाडी। इन दोनो खानो के एजेन्ट थे यही हरगोपालजी। इनका ऑफिस झरिया में था। ऑफिस के एक भाग में हम लोगो का तथा उनका वास-स्थान भी था। फर्म की तरफ से रसोई का इन्तजाम था। मेरे पहुँचने पर इनके चेहरे पर जो भाव-भगिमा आयी वह मेरे हृदय पर चोट कर गयी।

सायंकाल मैंने भोजन किया और रात्रि मे जल्दी ही सोने चला गया। लेटे-लेटे सोचता रहा—कही मेरे व्यवहार में तो कोई ऐसी वात नही हुई, जिसके कारण उनको किसी प्रकार की चोट पहुँची हो ? लेकिन ऐसी कोई वात होनी तो नही चाहिए थी—मैंने तो जाते ही उनके चरण-स्पर्श किये थे। मेरे तो स्वभाव में ही सरलता थी और बडो के प्रति आदर था। कलकत्ता मे जो ठोकर खाई थी, उसने मेरी आँखें खोल दी थी। मैं सोचता रहा—तो फिर, मेरे आते ही इनकी भाव-भगिमा इतनी वक्र क्यो दिखाई पडी ? करवटें वदलता रहा—किमी निर्णय पर न पहुँच सका। तभी मुझे एक वात याद आ गई—

रामचन्द्रजी ने कहा था, 'हरगोपाल तुमसे काम ले, या न ले—या वह जो कुछ भी काम करने को कहे, तुम प्रसन्नतापूर्वक करना, और वही डटे रहना। तुम्हारे पैर वहाँ से उखडने न पायें। कभी अधीर मत होना। उसका स्वभाव कुछ ऐसा ही है।' इस बात के याद आते ही सारी स्थिति मेरे सामने स्पष्ट होने लगी, साहस बँधा, फिर तो सुख की नीद सो गया।

दूसरे दिन मुझसे अपने अनुभव के बारे में पूछ-ताछ हुई। मैंने उत्तर में कहा, 'अँग्रेजी मे थोडी-बहुत लिखा-पढी कर सकता हूँ।'

मुझे ऑफिस के कागज फाइल करने का काम दिया गया, और उनकी गैर-हाजिरी में तो बाबू लोग अपनी दवातो में स्याही तक भरने का आदेश मुझे देते, और मैं प्रसन्नतापूर्वक उनकी आज्ञा का पालन करता। हर समय मेरे चेहरे पर मुस्कराहट रहती। शाम को भ्रमण करके वापिस आता और निवृत्त होकर भोजन करने बैठता, तो रसोइया कहता, 'बाबू, साग तो रहा नही, तवे की पूडी बनाकर रखी है।'

मैं कहता, 'साग खाने का मुझे अभ्यास ही नही है ··अचार दे दो, और दो-एक पापड सेक दो।' और मैं भर-पेट भोजन कर लेता।

ये थी मेरे इस नये कोलियरी-जीवन के सघर्ष की प्रारंभिक सीढियाँ।

इसी समय भाईसाहब का उपरोक्त पत्र भी पहुँच गया। मैं सोचता रहता—भइया को इस परिस्थिति का पता पहले से ही कैसे लग गया, और उन्होने ऐसा अनुकूल पत्र कैसे लिख दिया ? वे अनुभवी थे। इस प्रकार की परिस्थिति आ सकती है, इसको भाँप गये होगे। इसके अलावा और क्या बात हो सकती है, क्योकि रामचन्द्रजी से प्रेरित तो यह पत्र हो नही सकता था।

हरगोपालजी अँग्रेजी के ज्ञाता तो नही थे, लेकिन चिट्ठियाँ पढ लेते और भाव समझ जाते। एक दफा एक पेचीदा पत्र इनको लिखवाना था। इनका हेड-क्लर्क एक पजाबी था—खन्ना जाति का। उसके हर ड्राफ्ट मे कोई-न-कोई कमी रह जाती। ड्राफ्ट रद्दो-बदल होते रहे। पूरा दिन बीत गया, लेकिन संतोषजनक ड्राफ्ट न बन सका। मैं देखता रहा। रात को जब सब सो गये, तब मैंने उस पत्र को पढा जिसका उत्तर जाना था, और एक ड्राफ्ट लिखकर सो गया।

प्रात काल ऑफिस खुलने पर ड्राफ्ट हरगोपालजी को पकडाते हुए मैंने कहा, 'जी, कल जो ड्राफ्ट खन्ना नही कर सका था, मैंने उसका एक ड्राफ्ट तैयार किया है। अगर चल सके, तो देख लें।'

इतने में खन्ना भी आ पहुँचा। उसको भी ड्राफ्ट पढाया गया। दोनो चुप थे। ड्राफ्ट मंजूर करके पत्र भेज दिया गया, क्योकि दूसरा चारा न था। लेकिन ये दोनो व्यक्ति दिन भर क्षुब्ध-से ही रहे।

उसी दिन से मेरा चिट्ठियो का फाइल करना और दवातो मे स्याही भरना बन्द हो गया।

अब मुझे परेशान करने की दूसरी तरकीब निकाली गई। उन दिनो हमारी कोलियरी से सम्बन्धित कई मुकदमे चल रहे थे—उनकी पैरवी करने का काम मुझे सौंपा गया। हरगोपालजी को विश्वास था कि मैं इस काम में असफल रहूँगा—तब खिल्ली उडाने का अच्छा मौका उनके हाथ लगेगा। लेकिन इस काम मे भी मेरी सफलता देखने लगे, तो उनकी क्षुब्धता और बढ गई। इधर-उधर अपने प्रेमियो से कहने लगे, 'देखो, कलकत्तावालो की चाल तो देखो! अभी तो इसे ट्रेनिंग देंगे, फिर मेरी जगह रख देंगे।'

इतने में कलकत्तावालो की चिट्ठी आ गई कि निरजन को सुदरियाडी कोलियरी भेज दो, और मुझे सुदरियाडी भेज दिया गया।

पहले दिन हरगोपालजी ही मुझे झरिया से सुदरियाडी कोलियरी तक छोडने गये थे। मैं तो कोयले के इस काम से बिलकुल अनभिज्ञ था, इसलिए मेरे २-१ प्रश्न करने पर उन्होने मेरी खिल्ली उडाई। मैं पहले तो चुप रहा और हँसता रहा, फिर मैंने कहा, 'बाबूजी, मैंने तो इन चीजो को कभी देखा नही—मैं क्या जानूँ! लेकिन आपकी कृपा से धीरे-धीरे काम सीख जाऊँगा।'

कोलियरी का मैनेजर भी शुरू-शुरू मे मेरे विपरीत ही बना रहा, क्योकि उसे तो एजेन्ट को प्रसन्न रखना था। एक दिन वह मेरे कमरे मे आया, तो मेरी अँग्रेजी की पुस्तको का सग्रह देख कुछ झेंपा—उसमे टैगोर की किताबें भी थी। वह पारसी था, जिन्हे अँग्रेजी के ज्ञान का जरा गर्व रहता ही है। उसकी स्त्री एक-दो किताबें ले गई। थोडे दिन बाद वह किताबें लौटाने आयी, तो मैं पूछ बैठा, 'कहो, किताबें पसन्द आई?'

उसने साफ-साफ कह दिया, 'टैगोर की किताबें समझना हमारे वश का काम नही।'

मैंने कहा, 'सोराबजी को सायकाल ले आइयेगा, मिलकर पढेंगे तो आपको भी आनन्द आयेगा।'

इधर मैंने माइनिग की किताबें भी पढनी शुरू कर दी।

मैं रोज सुबह खान में जाता, दोपहर में बाहर चला आता, और खा-पीकर दिन भर ऑफिस में काम करता। इसके बाद रात में फिर खान में जाता। हर काम को गौर से देखना। फिटर को काम करते देखता और फिर ड्रॉइंग पम्प को अपने हाथ से फिट करता।

हमारा असिस्टेंट मैनेजर था—छोटेलाल। जब मैं हरगोपालजी से भरिया जाकर मिलता, तो वे कहते, 'क्या करता वह लड़का! उसको इन-इन बातों का तो ज्ञान ही नहीं है।'

छोटेलाल आकर मेरे सामने उनकी पुनरावृत्ति करता। मैं दिल में सोचता—हरगोपालजी तो मेरा भला चाहते ही हैं। कम-से-कम ज्यादा जोश बातों को बता तो देता है—चाहे गोलक से ही सही। मैं उन बातों का पूरा करने में जी-जान से लग जाता। इस प्रकार बहुत जल्दी ही सब बातों का अनुभव होने लगा। भरियावाली चिट्ठी भी आकर तेल हो एक बार पढ़ लेता। सोचता—भैया ने कितना ठीक लिखा है कि सदा मैं ही उदाहरण लिखा है। अगर ये बातें मेरे सामने में नहीं आये होते, तो मैं कुछ भी बना रहता।

मैं दिनांक १०-५-३४ को सुदामडीह पहुँचा था। हरगोपालजी ने कलकत्ता शिकायत लिख भेजी कि कोलियरी में हमारा ? हजार रुपया रोज का नुकसान हो रहा है—अभी तक पम्प इंजन ही नहीं बैठाया जा सका है।

इंजन को एक जगह से उठाकर दूसरी जगह बैठाना था।

शिकायती-पत्र पाकर कलकत्तावाले आ ही पहुँचे। रामचन्द्रजी थे—उनके साथ भाई किशनलालजी और हमारे कन्सल्टिंग माइनिंग इंजीनियर मि० रीट भी थे।

एक खान में गैस थी—उस पर विचार-विमर्श होने लगा। बात-चीत हो रही थी—मैनेजर, एजेंट और रीड साहब के बीच। मैं चुपचाप सुन रहा था। एक जगह मुझसे नहीं रहा गया और मैंने अपनी राय दी—सुनते ही रीट उछल पडा। उसने मुझसे पूछा, 'तुमको माइनिंग में कितने साल हो गये ?'

मैंने उत्तर दिया, 'सिर्फ ३ मास हुए हैं।'

उसने कहा, 'तो तुमने किसी दूसरी कोलियरी में भी काम किया होगा ?'

मैं प्रथम बार ही कोल-फील्ड में आया हूँ—जानकर उसने मुझको हृदय से आशीर्वाद दिया। भाई किशनलालजी तथा रामचन्द्रजी भी बडे प्रसन्न हुए, लेकिन उन्होंने अपनी प्रसन्नता व्यक्त न की।

हरगोपालजी को उन सब की यह प्रसन्नता पसन्द न आई।

उन लोगो के लौटने पर दूसरे दिन से मैं इजन बैठाने में लग गया। इसकी सिटिंग बनाने में ठेकेदार लगा दिये—मैनेजर और सर्वेयर को भी इसी काम में लगा दिया। मैं सवेरे जाता—शाम को वापस आता। वही स्नान करके खाना खा लेता। इजन अपने हाथ से ही खोला—स्वयं ही फिट करना भी सीखा। फिटर को एक रुपया हफ्ता अपने पास से बख्शीस देता। मैंने १ मास मे इजन को चालू कर दिया, अब खान में से इंजन के द्वारा कोयला उठने लगा, लेकिन इजन के चालू हो जाने से एक हजार रुपये रोज के फायदे की जो बात हरगोपालजी ने कलकत्तावालो को सुझाई थी वह पूरी नही हुई, क्योकि वह तो सिर्फ मुझे नीचा दिखाने और मालिको को गुमराह करने के लिए उसने गढकर कही थी, इसलिए मालिक लोग उससे झुँझला गये। लेकिन मैं काम जरूर सीख गया।

हरगोपालजी के कडे व्यवहार ने ही मुझे हमारी मुडिया भाषा सिखाई, हिसाब-किताब सिखाया, कोलियरी का सब तरह का काम सिखाया।

मैं वहाँ समय का बडा पाबन्द रहा, कारण इसका महत्व मैं पहले से ही समझता था और मुझे जीवन मे इसके कारण बडी सफलता मिली थी। मैं रात को पढता—शाम को करीब ६ बजे से रात के ६ बजे तक। फिर उठकर, निवृत्त होकर, भोजन करता और १० बजे सो जाता।

मैं एक साल वहाँ रहा। फिर मेरा तबादला जैरामपुर कोलियरी मे कर दिया गया। वहाँ का इन्तजाम बहुत खराब हो चला था, हर कोई आदमी मनमानी करता था। अब वहाँ जाकर मैंने काम हाथ मे ले लिया।

भइया का आखिरी आगमन

०

सन् १९२५ के दिसम्बर मास में एक रात मैं भली प्रकार खा-पीकर सोया, लेकिन सुबह उठ न सका—बड़े जोर की खाँसी थी। सर्दी-जुकाम कुछ नहीं, सिर्फ खाँसी और कफ। भूख जाती रही—कमजोरी बढ़ गई। भोर का भ्रमण भी बन्द हो गया। खान आना-जाना भी बन्द। इलाज जारी किया—होमियोपैथी, एलोपैथी, लेकिन कोई पैथी कारगर नहीं हुई। कारण किसी के भी समझ में नहीं आया। मैंने एक साधारण-सा पत्र भइया को लिख दिया कि इस तरह मुझे खाँसी हो गई है, इलाज बैठ नहीं रहा है, एक नुसखा लिखकर भेज दें। ५-७ दिन बीत गये—कोई उत्तर न आया, लेकिन प्रतीक्षा-काल का अभी तक अतिक्रमण नहीं हुआ था। मैं उत्तर की प्रतीक्षा आकुलता से कर रहा था।

इतने में एक दिन सवेरे-सवेरे मोटर आ धमकी। मैं उस समय ऑफिस में आया ही था—सोचा, कार्यवश हरगोपालजी आये होंगे, लेकिन कार से उतरते देखा भइया को! मैं पूछ बैठा, 'आप कैसे आ गये? मैंने तो एक पत्र आपको दिया था—नुसखा भेजने के लिए?'

मुस्कराकर भइया बोले, 'यों कहो, तेरी चिट्ठी के उत्तर में नुसखे की जगह मैं खुद ही चला आया—धीरज न रख सका। अब कोई चिन्ता की बात नहीं है, मैं आ ही गया हूँ, सब ठीक हो जायेगा। मामूली खाँसी दीखती है—कोई बात नहीं।'

हम घर आये। घर-विघ की बातें होने लगी। मैंने कहा, 'भाईसाहब, मैंने तो साधारण चिट्ठी लिखी थी—सिर्फ नुसखा मँगाया था। इस सर्दी में इतनी दूर से आना, रास्ते की तकलीफ, इसके अलावा इतनी भारी प्रेक्टिस को छोडकर आना—यह तो आपने ठीक नही किया।'

भाईसाहब कहने लगे, 'अरे जा, यह सब बातें तेरे देखने की नही—तेरी चिठ्ठी पाकर मैं अधीर हो उठा था। मन एकदम चचल हो गया, सो चला आया। तू राजी-खुशी हो जायेगा, तब चला जाऊँगा। कमाना-कजाना आखिर तुम लोगो के लिये हो तो है। तुम लोग अच्छे रहो—इससे बडी कमाई और क्या हो सकती है? तू मेरी चिन्ता छोड, अपने शरीर की तरफ देख। तुझे देखते हुए तो अब लगता है कि मैंने आकर ठीक ही किया। थोडे ही दिनो में तेरे शरीर का क्या हाल हो गया है! मैं सोच भी नही सकता था कि तू इतना बीमार है। अब झरिया से कोई अच्छा डॉक्टर बुला लेंगे और उससे सलाह करके इलाज नये सिरे से चालू करेंगे।'

डॉक्टर के आने के पहले भाईसाहब ने खुद भी मेरी जाँच-पडताल की, फिर शौचादि से फारिग होकर कुछ खाया। इतने में डॉक्टर कैप्टेन घोष आ पहुँचा। उसी का इलाज हो रहा था। वे हूपिंग कफ का इलाज कर रहे थे, लेकिन अब दोनो में विचार-विमर्श के बाद हूपिंग कफ का इलाज तो बन्द कर दिया गया, और दूसरा ही इलाज शुरू किया गया।

जनवरी का पूरा महीना बीत गया, लेकिन कुछ लाभ नही हुआ, बल्कि दिनो-दिन मेरी हालत गिरती चली गई। मेरे भाई चिन्तित रहने लगे। मैं रात को सिर्फ १० बजे से १२ बजे तक सो पाता—फिर तो खाँसी चालू हो जाती और बैठे-बैठे ही रात गुजरती। भूख एकदम बन्द हो चुकी थी। उनको कुछ शक होने लगा, लेकिन मुझसे उन्होने कुछ नही कहा। आखिर उन्होने मुझे अपने साथ देश ले जाने का निश्चय कर लिया।

एक दिन हरगोपालजी आये और कहने लगे, 'कल तुम्हारा सुदरियाडी चलना बहुत जरूरी है। माइनिंग साहब आयेगा। यहाँ से जल्दी ही चले चलेंगे, और १२ बजे तक तुम्हे वापस यहाँ पहुँचा दूँगा।'

दूसरे दिन इन्होंने गाडी भेजकर सवेरे ८ बजे मुझे झरिया बुला लिया, लेकिन झरिया से हम लोग रवाना हो पाये १० बजे। सुदरियाडी पहुँचे ११ बजे के बाद। साहब आया १२ बजे। हम वापिस कोलियरी पहुँचे तब २ बज चुके थे। भइया आग-बबूला हुए बैठे थे। उन्होने भी खाना नही खाया था—मेरे इन्तजार

मे वैठे थे। मुझे देखकर नाराज हुए। कहने लगे, 'हरगोपाल का दिल साफ नही हे—उमे तेरे को नही ले जाना चाहिये था। अगर मुझे पता होता कि इतनी देर लगेगी, तो मैं कभी भी तुझे नही जाने देता। मुझे नौकरी की परवाह नहीं—हम लोग आज ही यहाँ से चूरू के लिये रवाना हो जायेंगे।'

उन्होने रामचन्द्रजी को कलकत्ता फोन किया और कहा, 'निरजन १-१॥ मास से वीमार है—मुझे भी यहाँ आये एक मास हो गया है, लेकिन यहाँ इसका इलाज वैठ नही रहा है। मैं इसे लेकर आज ही रात की गाडी से चला जा रहा हूँ—इजाजत दें।'

रामचन्द्रजी ने उत्तर दिया, 'हमको तो इस वारे मे कुछ भी मालूम नही था—नही तो इसको यहाँ कलकत्ता वुलाकर इलाज कराते। अव तो खैर आप स्वय ही आ गये है, तो हमें कुछ नही कहना है। आप इसे जरूर ले जाइये।'

लेकिन रामचन्द्रजी टेलीफोन पर भइया को उलाहना दिए विना नही रहे। कहने लगे, 'डॉक्टरजी, आपको इतने दिन आये हो गये और आप एक दिन के लिये भी कलकत्ता नही आये। यह तो ठीक नही हुआ। आप लिख देते तो मैं किशन-लाल को ही आपसे भेंट करने के लिए भेज देता। खैर, अव तो समय नही रहा—अव तो आप जा ही रहे है, लेकिन भविष्य मे ऐसी बात न होने पाये।'

भइया रामचन्द्रजी की विनयशीलता सराहते रहे।

इसके वाद भइया ने हरगोपालजी को भी झरिया फोन करके हमारे जाने की वात वता दी। साथ-ही-साथ वाँदीकुई में भाई अशर्फीलालजी को भी तार दे दिया ताकि वे हमसे दिल्ली स्टेशन पर ही मिल लें।

और हम दिनाक ४ फरवरी १९२६ की रात में चूरू के लिए रवाना हो गये।

प्रकृति देवी का अटल नियम

०

दिनाक ५-२-२६ की साँझ को हम लोग दिल्ली पहुँच गये। छोटे भाईसाहव स्टेशन पर आ गये थे। हम तीनो भाई एक-दूसरे को देख बडे प्रसन्न हुए, लेकिन मुझे इस प्रकार रुग्ण अवस्था में देख भाई अशर्फीलालजी बडे खिन्न हुए। कहने लगे, 'अरे निरंजन, यह क्या हाल हो गया है तुम्हारा ? मुझे खबर तक नही दी। मुझे तो भाईसाहव की चिट्ठी से मालूम हुआ कि तू वीमार है और वे तेरे पास गये है। ऐसी भूल नही करनी चाहिए थी। खैर, अब चिन्ता की कोई बात नही। जल्दी ही ठीक हो जाओगे। चूरू की आवहवा भी अच्छी है, फिर भाईसाहव का इलाज होगा ही—फिर चिन्ता किस वात की है !'

हम लोग धर्मशाला मे जाकर ठहर गये, कारण भइया का विचार दूसरे ही रवाना होने का था। उस रात को मुझे नीद अच्छी आई। दूसरे दिन उठा तो मन काफी प्रसन्न था। हम सभी लोग पराँवठा गली में चले गये भोजन करने। मुझे जोर की भूख लगी हुई थी—आज दो मास बाद मैंने भर-पेट खाया। सभी बड़े खुश हुए। मुझे तो ऐसा प्रतीत होने लगा कि १५-२० दिन में ही बिलकुल स्वस्थ होकर लौट आऊँगा। मुझे स्वस्थ देखकर आज मेरी पत्नी भी बडी प्रसन्न थी।

दोपहर में भइया घनश्यामदासजी बिडला से मिलने जाने लगे, तो मैं भी साथ हो लिया। उनके बँगले पर पहुँचकर भइया तो उनसे बात करते रहे—मैं बाहर बैठा रहा। हवा चल रही थी—मुझे ठंड लग गई। तबियत फिर भारी होने लगी। ठंड लगकर हलका बुखार हो गया। बाँदीकुई पहुँचते-पहुँचते बुखार तेज हो गया। दूसरे दिन निमोनिया हो गया और टेम्प्रेचर १०६ डिग्री पर पहुँच गया। भइया बडे घबडाये। मेरा बुरा हाल था, तो उनका भी कम नहीं था। शाम को सिविल-सर्जन बुलाया गया। उसने भी निमोनिया ही निदान किया।

मुझे उस समय होश था। भइया ने सर्जन से कहा, 'डॉक्टर साहब, मेरे भाई को बचाइए।' और फूट-फूटकर रोने लगे।

सिविल-सर्जन ने उत्तर दिया, 'आप इतने अनुभवी डॉक्टर होकर इस तरह अधीर होते है, यह तो अच्छा नही। सोचिए, मरीज के दिल पर उसका क्या असर होगा ?'

भइया भर्राई आवाज में बोले, 'डॉक्टर साहब, इस समय मेरा दिमाग मेरे काबू में नहीं है। कब इसका बुखार हल्का हो और कब मुझे धीरज बँधे। मैं इस समय बेहाल हूँ—क्या करूँ, समझ नही पाता।'

सर्जन ने नुसखा लिखा और भइया को दिखाने लगे, तो भइया ने नुसखे को देखने से इन्कार कर दिया, और बोले, 'आप जो मुनासिब समझें, करें। दिल्ली में इस लडके से गफलत हो गई, उसी का यह परिणाम है। लेकिन अब क्या हो।'

मैंने भइया को इस प्रकार फूट-फूटकर रोते कभी नही देखा था। मेरे चार भाइयों की मृत्यु के समय भी उनकी ऐसी दशा नही हुई थी।

भाईसाहब ने उसी वक्त मेरे श्वसुर को बुलाने के लिए अजमेर तार दे दिया। दूसरे दिन मुझे कुछ होश हुआ तो पूछने लगे, 'अगर तू चाहे, तो तेरी भाभी को भी बुला दूँ ?'

मैंने कहा, 'जल्द-से-जल्द भाभी को बुला दीजिये। उसके आने से मेरी तबियत ठीक हो जायेगी।'

भइया मेरे सिरहाने कुछ देर तक बैठे रहे, और मेरे सिर पर हाथ फेरते रहे। आँखों से आँसू टप-टप गिर रहे थे।

मैंने कहा, 'भइया, जी खराब मत करिये। मैं आज बहुत अच्छा हूँ, एक-दो दिन में एकदम ठीक हो जाऊँगा।'

जीवन में यह प्रथम अवसर ही था कि भइया मेरे सिर पर अपना वरद हाथ

फेर रहे थे। ऐसी ही ममता थी—ऐसा ही स्नेह-स्निग्ध हृदय था उस आत्मा का।

दूसरे ही दिन मेरे श्वसुर और मेरा बड़ा साला मुरारीलालजी आ गये। उनके साथ जाँच के लिए मेरा कफ भेज दिया गया। ५-७ दिन में अजमेर से उसकी रिपोर्ट आ गई—रिपोर्ट निगेटिव थी। भइया ने रिपोर्ट देखी तो बड़ी ही प्रसन्न मुख-मुद्रा में मेरे पास आये और बोले, 'अरे देख, तेरे कफ की रिपोर्ट आ गई है—निगेटिव है। मैं भी तो बराबर यही सोचता रहता था कि तुझे थाइसिस हो ही कैसे सकती है। आज मेरी चिन्ता दूर हो गयी—अब कुछ परवाह नहीं। तुम ठीक हो जाओगे।'

मैं पूछ बैठा, 'भइया, क्या आपको थाइसिस का शक हो चला था? लेकिन मुझे तो आपने इसका कभी भी भान नहीं होने दिया? खैर, आपके आशीर्वाद से मैं जरूर दीर्घजीवी होऊँगा, और ठीक होकर कुछ दिन आपके पास रहूँगा, तब फिर झरिया जाऊँगा।'

उस दिन हमारे घर में बड़ी खुशी मनाई गयी। मेरी भाभी भी आ गई थी। वे तो दिन-रात मेरे पास ही बैठी रहती। उनका तो काम ही था सेवा करना—वे तो सेवा की मूर्ति ही हैं।

मेरी छोटी भाभी बड़ी भावुक थी—वे मेरा पाखाना तक किसी दूसरे को नहीं उठाने देती थी—इनसे भी मैंने काफी मातृ-स्नेह पाया था। भाईसाहब हमारी इस भाभी से बड़े प्रसन्न रहते, हमेशा कहते रहते, 'बीनणी को कह दो, मेरे लिये कढ़ी बनाये।' क्योंकि हमारी यह भाभी कढ़ी बनाने में बड़ी दक्ष थी। इनके जैसी कढ़ी हमारे घर में दूसरी कोई स्त्री नहीं बना सकती थी। ये बड़ी सरल स्वभाव और पति-परायणा थी। ये एक लड़की और ३ लड़कों की माँ थीं। अपने जीवन-काल में ही अपने तीनों लड़कों की बड़ी अच्छी स्थिति देखकर स्वर्गलोक चली गईं। सौभाग्यवती ही गईं। अन्तिम काल में इनकी बीमारी में बहुओं ने इनकी बड़ी सेवा की। इतनी लगन से की गयी इस प्रकार की सेवा कम ही देखने में आती है।

आज-कल तो नर्स-सिस्टम चल पड़ा है। नर्स लगा देने पर, लड़के माता-पिता की, स्त्री पति की, और पति स्त्री की सेवा से फारिग हो जाता है। यह पैसे का युग है। आज हमारे जीवन में पैसा ही हमारा खुदा बन बैठा है। पैसा है, तो सब कुछ है। चाहे जैसे भी हो, पैसा कमाना ही एकमात्र उद्देश्य रह गया है। आज हम लोगों को कहते हुए सुनते हैं—'पैसा कमाने

में भला-बुरा साधन नही देखा जाता। पैसा ही जीवन का ध्येय है—ध्येय की सिद्धि में साधन का भला-बुरा क्या देखना! ध्येय को तो प्राप्त करना ही पडेगा—चाहे जैसे भी हो। हम भला दूसरो से पीछे कैसे रह सकते है! इस कलि-काल में सब चलता है—यह तो काल का प्रभाव है। हम इसमें कर ही क्या सकते है! साधु-सन्त तो पहले ही कह गये है कि कलि-काल में यह सब चरितार्थ होकर ही रहेगा। अगर हम ऐसा न भी करें, तो दूसरा तो करेगा ही—फिर हम ही गरीबी की यत्रणा क्यो सहे? फिर सत लोग तो इस जघन्य कर्म के प्रायश्चित का एक सरल उपाय बता ही गये है—हरे राम, हरे राम कर लो, गगाजी में डुबकी मार लो—फिर कैसा भय? और किसका भय? गगाजी आप ही अपना काम करेंगी—उनका तो अवतरण ही इसीलिए हुआ है।'

हम लोग इस मनोवृत्ति के शिकार बने न जाने कहाँ बहे चले जा रहे है। आज के समय की परिभाषा में बडा आदमी वही है, जिसके पास बडे-बडे प्रासाद हो, मोटरें हो, सुख-साज के समस्त साधन हो, और जो दूसरो के ठोकर मारकर चलता हो। भला दूसरे का लिहाज किस बात का! लिहाज करना तो कायरता की निशानी है। अपने सुख के पथ में किसी भी तरह की बाधा हम सहन नही कर सकते।

आज लोग पाश्चात्य देशो की दुहाई देते हुए भी दिखाई देते है। उन मुल्को की चमक-दमक मे विमोहित हम अपनापन तो खो बैठे है, लेकिन उनकी खूबियो को ग्रहण नही कर सके है। पाश्चात्य देशों मे वैभव के साथ-साथ नैतिकता है, देश-प्रेम है, आपस की सौजन्यता है, सच्चाई है, परिश्रम है। उनके ये गुण तो हमें दृष्टिगोचर हो नही पाते—हम तो केवल ऊपर-ही-ऊपर की नकल करके राजी हो जाते है। उनके वैभव की चकाचौंध में हम अपनी सस्कृति को भी ठोकर मार बैठे है। यहाँ तक कि हम तो सही सोच बैठे है कि हमारी सस्कृति ही हमारे पतन का कारण बनी है। अपनी निष्क्रियता का हमें भान तक नही। दूसरे पर दोष मँढ देना ही हमारा स्वभाव हो चला है, और हम अपनी बरबादी का कारण स्वय को नही—दूसरों को ही ठहराते है। इस प्रकार की विचार-धारा मे हम बह चले है, फिर हमारा बेडा गर्क न होगा, तो किसका होगा?

तामस से पराच्छन्न मनुष्य समझ ही नही पाता कि कोई किसी का बाधक नही बनता—प्रकृति ही इस रूप में आकर अपना काम करती है। सुकर्मी पुरुष की प्रशसा करनेवाला भी तो मनुष्य ही होता है—उस रूप में भी प्रकृति ही मुखरित हो उठती है। क्रिया की प्रतिक्रिया होना तो प्रकृति का अटल नियम है। अगर ऐसा न होता, तो ससार-चक्र ही न चल पाता। अग्नि मे पडने से

लकडी जलेगी ही , ज्यादा ताप पाने से लोहा अग्नि-रूप होगा ही , पानी में पडने से कोई भी वस्तु क्यो न हो, शीतलता प्राप्त करेगी ही । दुर्गन्ध से दुर्गन्ध और सुगन्ध से सुगन्ध ही आयेगी---इस बात को आज का मनुष्य स्वीकार करने को तैयार नही। आज पैसे का क्रीतदास इस रहस्य को कैसे समझे ? भगवान ही इस स्थिति से हमारी रक्षा करेंगे । अगर वह अच्छी स्थिति नही रही, तो यह बुरी स्थिति भी ठहरनेवाली नही । परिवर्तनशील ससार में इस प्रकार के चक्र चलते रहते है, और रहेगे । ससार में द्वन्द्व का खेल कभी बन्द होने का नही---निरन्तर चलता रहेगा । इसमें घबडाने की आवश्यकता नही । जहाँ रावण था, वहाँ राम भी थे । रावण ने राम को कभी अच्छा नही कहा---अपने कुकृत्य पर उसे कभी पश्चाताप हुआ ही नही । अगर वह ऐसा कर पाता, तो राम के बाणो का शिकार बनता ही नही, और न बानर-रीछो से अपमानित ही होता, और न उसका सहोदर उसका दुश्मन ही बनता । पति-परायणा मन्दोदरी ने साहस करके अपने पति को सत्पथ पर लाने की बडी कोशिश की, लेकिन यहाँ तो प्रकृति का नियम काम कर रहा था । रावण सुनता कैसे---उसे तो अपने पापो का फल भोगना था । ये पाप ही उसे अपने पैरो तले रौदने के लिए और अधिक निःशंक बना रहे थे ताकि उसके पापो का घडा भरे और पृथ्वी का उद्धार हो । ऐसा ही अटल नियम है इस प्रकृति देवी का ।

मेरी चुँदड़ी मे कितना वल है !

०

इस बाँदीकुई में १८ दिन रहकर घर आ गये। मैं निमोनिया से तो त्राण पा चुका था, लेकिन खाँसी ने मेरा पिंड नहीं छोड़ा। खाँसी बढ़ती चली गई—साथ-साथ कमजोरी भी। चलना-फिरना भी कठिन प्रतीत होने लगा। कोई दवा कारगर नहीं हो रही थी। मुझे इलाज के लिए वीकानेर जाना पड़ा, लेकिन वहाँ से भी निराश होकर ही लौटना पड़ा। जब मैं वीकानेर जा रहा था तो रेलगाड़ी में यात्री लोग डॉक्टर ल्युईकोनी की जल-चिकित्सा का जिक्र कर रहे थे। मैं दत्तचित्त होकर सुन रहा था। मैंने उनसे उस स्थान का पता भी प्राप्त कर लिया, जहाँ से तत्सम्बन्धी पुस्तकें एव टब वगैरह उपलब्ध हो सकते थे। मैंने उसी क्षण निश्चय कर लिया कि अगर कोई इलाज न वैठा, तो इसी को आजमाइश करके देखूँगा। वीकानेर से निराश वापस लौटने पर मैंने मुरादावाद पत्र लिख दिया और १०-१५ दिन में ही वहाँ से किताबें और जल-चिकित्सा के अन्य सब साधन मुझे प्राप्त हो गये।

वीकानेर से आने के वाद एक दिन मैं ऊपरवाले कमरे में कुछ हताश वैठा हुआ था। उस समय मेरी वड़ी लड़की, जो करीब ३॥ वर्ष की थी, मेरे पास थी। इतने में मेरी स्त्री भी आ गई। मैं वोल उठा, 'देखो, मेरे कहने से घर के इन वच्चों में से किसी एक लड़के को अपनी तरफ कर लो—तुम कहोगी तो भइया से वात मैं कर लूँगा।'

मेरी वात सुनकर उसका चेहरा लाल हो उठा। आँचल के कोने को चिमटी में दबाकर उसने तमतमाकर कहा, 'जानते नही, मेरी इस चुँदडी में कितना बल है। मेरा सुहाग अमर है। बाँदीकुई मे जेठजी भी इतने कातर हो उठे थे, लेकिन मैं तो तब भी बिलकुल नही हिली थी। आपकी तकलीफ देखकर मुझे मानसिक कष्ट अवश्य हो रहा था, लेकिन मेरे प्रभु में मेरा विश्वास अटल था—और है। मैं कहती हूँ, आप जल्दी ही स्वस्थ हो जायेंगे। खयाल रखना, फिर कभी इस प्रकार की कायरता भरे शब्द तुम्हारे मुँह से न निकलें।'

यह कहती और आँखें पोछती हुई मुझे छोडकर नीचे चली गई। मैं सोचने लगा—क्या भारत में आज भी स्त्री अपने मनोबल मे अपने पति को असाध्य रोग से मुक्त करा सकती है? क्या मैं इस विषम रोग से मुक्ति पा जाऊँगा? क्या मैं फिर अपने काम पर जा सकूँगा? क्या मेरी स्त्री स्वय को दूसरो की मुखापेक्षी होने से बचा सकेगी? क्या इस अबोध बालिका का कन्या-दान इसी के पिता से हो सकेगा? क्या ये दोनो जीव इतने सौभाग्यवान है कि मैं सचमुच अच्छा हो जाऊँगा? क्या इस दुरूह रोग से मुक्ति पा लूँगा?

मैं इस विचार-धारा मे बह गया। इतने में भइया की आवाज सुनकर मैं चौक उठा। भइया कह रहे थे, 'अरे निरजन, तेरा सारा सामान मुरादाबाद से आ गया है।'

मुझे पूर्ण विश्वास हो गया उसी क्षण कि यही इलाज मुझे लागू पडेगा। अब निश्चय ही मैं इस रोग से त्राण पा जाऊँगा। ईश्वर का नाम लेकर मैंने दूसरे ही दिन से जल-चिकित्सा चालू कर दी। ४-५ दिन मे चमत्कार रूप से लाभ होने लगा। रात को सुख से सोता। चलने-फिरने में जो तकलीफ होती थी, वह भी कम होती चली गई।

तभी मेरी लडकी को मियादी बुखार ने धर दबाया। मेरी भाभी दिन-रात उसकी देख-रेख करती रहती। भइया ने अपना इलाज न कर, एक नाडी-वैद्य का इलाज कराना शुरू कर दिया। वह रोज आता, दवा दे जाता—मैं कभी-कभी दूर से इसे देख लेता। उस समय अपनी संतान से अपने बडो के सामने बात-चीत की प्रथा न थी। जब कभी मेरी स्त्री उसके पास बैठी होती, तो पास आकर पूछ-ताछ कर लेता। मेरा चित्त चिन्तित रहने लग गया कि कही कुछ हो गया तो मेरी स्त्री को अपार दुःख होगा, लेकिन इलाज ठीक साथ हो रहा था—यही आशा की बात थी।

मेरे इलाज मे घी और दूध वर्जित था—सिर्फ गेहूँ का दलिया, रूखी रोटी और बिना मसाले के हरे साग खा सकता था, तथा ताजा फल और मेवा खाने

पर ज्यादा जोर दिया गया था। इन दिनो चूरू मे ताजा फल हर समय नही मिलते थे। फल दिल्ली से ही आते, तब भी भइया ने अच्छा इन्तजाम कर लिया था। मेवो में सिर्फ बादाम और किसमिस ही लेता—वह भी बढिया किस्म के मँगा देते। मैं सोचता रहता—हे प्रभो, मैं कब तक इनके ऊपर भार बना रहूँगा ? लेकिन इनको ये बातें छू तक नही गई थी। महान् आत्माओ की महान् बातें !

इन्ही दिनो, मेरे बडे भाई गौरीशकरजी का सबसे बडा लडका आतिशबाजी छुडाते समय जल गया। भइया को तुरन्त बुलाया गया। भइया मुझे लेकर तुरन्त दौडे गये। बीकानेर पहुँचे। जाकर देखा—धनुष-टकार हो जाने का शक हुआ। डॉक्टर बुलाये गये। २-४ घंटो में ही बीमारी जोर पकड गई, तो बच्चे को अस्पताल ले गये, लेकिन रात्रि में ही उसका प्राणात हो गया। यह बीमारी बडी कष्टदायक होती है। मरीज की हालत देखी नही जा सकती। मरीज को असह्य यत्रणा होती है। लेकिन उपाय भी क्या था ! थोडे दिन रहकर हम लोग वापस आ गये। गौरीशकरजी को इसका बडा भारी आघात पहुँचा—वर्षो वे उसे भुला नही पाये।

वापस जैरामपुर कोलियरी

०

इधर मेरे स्वास्थ्य मे काफी सुधार हो चला था, उधर कोलियरी का काम भी बिगडता चला जा रहा था। इतने मे भाई किशनलालजी का तार आ धमका कि मैं तुरन्त रवाना हो जाऊँ। मैं भी जाने को उद्यत हो गया, लेकिन भइया मुझे भेजने के लिए राजी नही हो रहे थे। उनका विचार मुझे एक मास और रखने का था, लेकिन मैं नही माना और मैंने रवाना होने का विचार पक्का कर लिया। अब प्रश्न उठा कि मेरे साथ जाये कौन ? भइया को यह बिलकुल स्वीकार नही था कि मैं अकेला ही जाऊँ। मेरी स्त्री ने जाने से साफ इन्कार कर दिया। तब भइया ने कहा, 'बीनणी से कह दो कि वह चली जाये। बच्ची की देख-भाल तो हम कर ही रहे है—उसे इसकी क्या फिक्र है।'

मेरी लडकी मेरी भाभी से काफी हिली हुई थी। वह मेरी भाभी को माँ कहकर पुकारती और मेरी पत्नी को चाची कहा करती।

मेरी पत्नी ने भीतर से कहला भेजा, 'अगर लडकी बीमार नही भी होती, तो भी मैं नही जाती। अब इनकी तबियत ठीक है। खाने-पीने का इन्तजाम कोलियरी पर अच्छा हो ही जायेगा। जेठजी चिन्ता न करें।'

भइया बुद्धिमान तो थे ही—फिर ठहरे डॉक्टर, बात मान गये, लेकिन जिद्द यह पकड ली कि मैं अपनी भाभी को ही साथ ले जाऊँ।

मैंने कहा, 'यह कैसे हो सकता है ? आपकी देख-भाल कौन करेगा ? इस गृहस्थी को कौन चलायेगा ?'

इतने में तो भइया आँसू ले आये। मैंने कहा, 'अब तो मेरी तबियत बहुत सुधर चली है, जल-चिकित्सा जारी रखूँगा। आप कोई चिन्ता न करें। बैठे-बैठे मन भी तो नही लगता। बाल-बच्चे पीछे आते रहेंगे। उनकी ऐसी कौन-सी जल्दी है ?'

तब भइया शान्त हो गये, और अच्छा दिन दिखाकर मुझे रवाना कर दिया।

जैरामपुर पहुँचकर मैंने वही इलाज चालू रखा। तबियत काफी सुधर गई थी। वैसे खाँसी बनी रही लेकिन कफ जल्दी ही निकल जाता। प्रातःकाल का भ्रमण बराबर करता और खान में जाना भी बराबर जारी रखा। अभी तक मुझे १५०) मासिक मिलते थे—चूरू से वापस आने पर १७५) मासिक कर दिये गये। जब से मैं झरिया आया था, मासिक १००) नियमित रूप से भइया को भेजता रहा। यह नियम १९३० के दिसम्बर महीने तक चलता रहा। इसके बाद रुपये भेजने बन्द कर देने पड़े—कारण यथास्थान पर ही लिखेंगे।

मेरे जैरामपुर आने के ३-४ मास बाद ही मेरे बाल-बच्चे मेरे पास आ गये। इधर, मेरे भाई अशर्फीलालजी की लड़की बड़ी हो चली थी। सगाई हो नही पा रही थी। जब हम बाँदीकुई ठहरे थे, तभी से भइया को इस लड़की के बारे में चिन्ता लग गई थी। आखिर इन्होंने ही चूरू-निवासी श्री जीतमल बजाज के साथ सगाई कर दी और विवाह सन् १९२७ के फरवरी मास में सम्पन्न हो गया। विवाह भइया ने ही किया था। आज ये दोनो सपरिवार बहुत सुखी है।

शादी में जाते समय मैं बाल-बच्चों को साथ ही ले गया था, लेकिन वहाँ से लौटा अकेला ही था। शादी करने के बाद भाईसाहब प्रैक्टिस करने कलकत्ता चले गये। मारवाड़ी समाज में इनकी प्रसिद्धि तो पहले से ही हो चुकी थी, इनकी प्रैक्टिस वहाँ काफी अच्छी चलने लगी।

सन् १९२७ के अगस्त या सितम्बर महीने में चूरू में ही मेरे लड़का हुआ। भइया को बड़ी खुशी हुई थी—मेरी भाभी इसी कारण चूरू ही रह गई थी, लेकिन १ मास का होकर वह लड़का जाता रहा। भइया को बहुत दुःख हुआ। मेरी स्त्री नवम्बर मास में मेरे पास आ गई, और भाभी कलकत्ता चली गई।

षड्‌यंत्र के विकट चक्रव्यूह में

०

हम पहले ही लिख चुके है कि हरगोपालजी को मैं फूटी आँख नही सुहाता था। मनुष्य को शुरू-शुरू मे ऐसा भ्रम होता है कि कूटनीति का माध्यम अपनाने से ही उसे सफलता मिल रही है, और मिलेगी, लेकिन इसका अन्तिम परिणाम अच्छा नही होता, बल्कि उसे असफलता ही मिलती है। कूटनीति अपनानेवाले व्यक्तियो को सहायता के लिए अपने अधीनस्थ कर्मचारियो पर निर्भर रहना पडता है। आगे चलकर उनकी कूटनीति षडयन्त्र का रूप धारण कर लेती है। इस तरह सत्य का हनन होता रहता है, हृदय मे राग-द्वेष घर कर लेते है। जिस व्यक्ति के विरुद्ध षडयन्त्र रचे जाते है, उसके साथ षडयन्त्र करनेवाला साफ दिल से कभी नही मिल पाता। फल यह होता है कि हमारे व्यवहार में उसी तरह से दुर्गन्ध आने लगती है, जिस तरह कि पायरियावाले मुख से। षडयन्त्र कभी छिपाये नही छिपता।

हरगोपालजी का सिद्धान्त था कि मालिक को अन्धकार में रखकर अपने चगुल मे दबाये रखना चाहिए, और समय-समय पर अपनी विशेषता का प्रदर्शन करते रहना चाहिए ताकि मालिक की दृष्टि मे अपनी उपस्थिति अनिवार्य बनायी जा सके। अभाग्यवश शिक्षित तो वे थे नही—अपने मारवाडी काम-काज में जरूर दक्ष समझे जाते थे। अँग्रेजी का ज्ञान उन्हें नही के बराबर था, इस पर भी वे

अपने को अँग्रेजी का बडा भारी ज्ञाता दिखाने का प्रयास करते रहते थे। मैं ठीक पाँच वर्ष इनके साथ रहा। ये पहले दिन से आखिरी समय तक मेरी बुराई करने मे रत रहे, हालाँकि कलकत्तावालो पर इसका असर उल्टा ही पडता गया। मेरी तरफ से मालिकों के पास एक बार भी कोई शिकायत नही गई। ये खोज-खोजकर मेरे अनुभव की कमियाँ बताते, और मैं इनकी आलोचनाओ का समादर स्वागत करता, और उनको दूर करने का भरसक प्रयत्न करता। लोग मुझसे कहते—'क्या बात है कि वे हरदम आपकी बुराई करते रहते है, और आप है कि प्रतिवाद के रूप मे अपने मुख से एक शब्द भी नही निकालते ?'

मैं उत्तर देता, 'मैं तो उनको अपना शुभ-चिन्तक मानता हूँ क्योकि वे मेरी गलतियाँ निकालते है और मुझे उनको ठीक करने का मौका प्रदान करते है। इसलिए मैं उनको अपना गुरु मानता हूँ। दुश्मन तो उनको तब मानता अगर वे चुप्पी साधे रहते और मैं मूर्ख ही बना रहता।'

जब वे झरिया से जैरामपुर आते, तो हम दोनो घटो बात करते रहते। अन्त में वे बड़े प्रेम से विदा होते। एक बार उन्होंने मुझसे कहा भी था कि आज मैं लडने को आया था, लेकिन न जाने क्या बात है, कि तुमसे बात करना शुरू करता हूँ, तो मेरा भाव ही बदल जाता है।

मैं हँस देता और कह देता, 'आप मालिक है , जो चाहें, सो कर सकते हैं।'

मैं तो उन्हीं को अपना अफसर माने हुए था। मैंने एक बार भी यह विचार अपने मन में नहीं आने दिया कि जब कलकत्तावाले मुझे चाहते है, तो मैं इनकी क्यों परवाह करूँ।

मेरे यहाँ आते ही इन्होने मेरे साथ एक कूटनीतिक चाल चली—मुझे बताया कि यहाँ के नियमानुसार टूर पर जाते समय ऑफिसर-ग्रेड के कर्मचारियो को सेकण्ड-क्लास का रेलवे-किराया और ४ रुपये रोज का भत्ता मिलता है।

इसके १५-२० दिन बाद ही इन्होंने मुझे भागलपुर उस कोयले को देखने के लिये भेजा जो कि हमारे यहाँ से गया था, और खरीददार ने जिसके सम्बन्ध में शिकायत कर दी थी। भागलपुर से लौटकर मैंने शिड्यूल मुताबिक बिल बना दिया जो करीब ७५) का बना था। उन्होने पास कर दिया। मुझे रुपये भी मिल गये।

एक दिन भाई किशनलालजी कलकत्ता से आये हुए थे। हरगोपालजी ने मुझे बदनाम करने के लिए उनके सामने वह बिल पेश कर दिया। उन्होने मुझसे पूछा कि इस बिल में जितना रुपया लिखा है, क्या सचमुच उतना खर्च हुआ था ? बडो नम्रता से ही पूछा था उन्होने।

मैंने उत्तर दिया, 'जी नही, मुझे जो शिड्यूल बताया गया था, उसी के अनुसार मैंने बिल बना दिया था, वरना मैं ५) रोज तो किसी तरह भी नहीं खा सकता।'

उन्होने सिर्फ इतना ही कहा, 'भविष्य मे असली खर्चा ही लिखा करें—चाहे कितना भी क्यो न हो।'

मैंने आजन्म इसी परिपाटी का पालन किया।

मेरी बीमारी के समय जब भइया मेरे पास आये हुए थे, तो हरगोपालजी एक दिन उनसे कहने लगे, 'निरजनलाल बडा ही अबोध है। जब किशनलालजी यहाँ आते है, तब कोलियरी की सारी बातें उन्हें बताता रहता है। इसे ऐसा नही करना चाहिये। मालिक जितना अधकार में रखा जाये, उतना ही वह अपने काबू मे रहता है।'

बाद मे जब भइया ने मुझे यह बात बताई, तो मैंने उत्तर दिया, 'मालिक को अधकार में रखना तो सरासर धोखेबाजी है। मालिक को अगर सारी बातें मालूम नही होगी, तो वह हमारी कठिनाइयो को कैसे समझेगा, और हमको उसका सहयोग कैसे प्राप्त हो सकेगा? दूसरे, वह हमारे काम के बारे में और हमारी कार्यकुशलता के बारे में निर्णय करने में कैसे सफल होगा? मालिक को तो आखिर किसी-न-किसी को रखकर काम कराना ही है, फिर हम अपनी वफादारी से उसके ऊपर क्यो न हावी हो? सत्य की हमेशा जय होती है। असत्य व्यवहार कभी नही फलता। इसके फल सदा ही कडवे रहेंगे। इस प्रकार की विचारधारा ने ही तो हरगोपालजी को मालिको की नजर में गिरा रखा है।'

मेरी बात सुनकर भइया बडे प्रसन्न हुए और मेरी पीठ ठोकने लगे। फिर बोले, 'तुम ठीक कहते हो, सत्य की ताकत के समान कोई ताकत संसार मे नही है। तुम अवश्य ही अपने जीवन में सफलीभूत होगे।'

मैंने कहा, 'भाईसाहब, मैं तो हरगोपालजी को अपना हितैषी एव गुरु ही मानता हूँ। गुरु क्या करता है? विद्यार्थी को वही बातें तो सिखाता है, जो कि वह नही जानता, और जहाँ-जहाँ वह गलती करता है, गुरू उसे सुधारता है। उद्दण्ड छात्र का शासन भी करता है और शासन-भग करने पर कठोर दड भी देता है, लेकिन यह सब है तो उस विद्यार्थी के हित के लिए हो। फर्क इतना ही है कि गुरू के हृदय मे दया और सद्भावना रहती है—इनके मन में द्वेष है। मैं द्वेष की परवाह नही करता। अपन लोग छानकर पानी पीते है, फल इत्यादि छीलकर खाते है, छिलको से कौन माथा मारता है, छिलको की तरफ ध्यान देना

तो निरी मूर्खता है। देखना यह है कि छिलके के अन्दर क्या छिपा हुआ है—अगर विष है, तो त्याग दें, और अमृत सदृश्य वस्तु है, तो ग्रहण कर लें। यदि मेरे जीवन में इनके द्वारा सघर्ष नही आते, तो कोलियरी के काम का मुझे इतनी जल्दी इतना अनुभव होना सम्भव ही नही हो पाता। इसलिये मैं तो इनका कृतज्ञ हूँ। लेकिन इनको द्वेषाग्नि इन्हें झुलसती रहती है—इस बात का दु ख मुझे अवश्य है, लेकिन इस पर मेरा वश ही क्या।'

इस द्वेषाग्नि का एक और उदाहरण उल्लेख्य है।

सन् १९२७ के फरवरी या मार्च महीने की बात है। मेरी भतीजी की शादी थी। पहले तो बडी मुश्किल से इन्होने मुझे जाने की छुट्टी दी, फिर शादी के एक दिन पहले ही मुझे तुरन्त वापस आने का तार दे दिया। मुझे शादी छोडकर ही आना पडा। भइया बहुत नाराज हुए, लेकिन कोई उपाय न था—नौकरी जो ठहरी। कर्तव्य-पालन जीवन का प्रधान अग होता है।

तार मिलने के तीसरे दिन ही मैं जैरामपुर पहुँच गया। हरगोपालजी ने मुझे देखते ही कहा, 'आ गये सो ठीक ही किया, मुकदमे की तारीख पड गई है।'

दरअसल एक जमीन का झझट था, मुकदमा चल रहा था। उसमें मेरी गवाही होनी थी। इनका ऐसा खयाल था कि अगर मैं समय पर नही पहुँचा और तारीख न मिली और कुछ खराबी हो गई, तो मालिको की नजर मे मुझे गिराने का मौका हाथ लग जायेगा। लेकिन इनकी इच्छा-पूर्ति न हो सकी।

मेरा ऐसा विश्वास था, और है, कि मनुष्य दूसरे का जितना बुरा करना चाहता है, उतना कर नही पाता—कारण प्रकृति बाधक बनकर खडी हो जाती है। अच्छा सोचो और अच्छा करो, तो प्रकृति से भरपूर सहायता मिलती है। प्रकृति का यही अटल नियम है। ऐसा नही होता तो सृष्टि कभी की नष्ट हो गयी होती। ऋषि ने ठोक हो कहा है—पूर्णमद पूर्णमिद पूर्णात्पूर्णमुदच्यते। इसी में तो सृष्टि की पूर्णता झलकती है। उस नियामक के राज्य मे अनैतिकता चल ही नही सकती—दुष्ट को दड मिलना अनिवार्य है। इसमें देर-सवेर हो सकती है, आज किये का फल तुरन्त मिले या १० दिन बाद, लेकिन क्रिया की प्रतिक्रिया अवश्य होकर रहेगी। बडे-बडे राजा-महाराजा, बडे-बडे साम्राज्य, अत्याचार के कारण ही नष्ट-भ्रष्ट हो गये—इतिहास इसका साक्षी है।

मुझे अभी तक खाँसी से पूरी राहत नही मिल सकी थी। इनको एक चाल सूझी, जिसके द्वारा ये मुझे मात देना चाहते थे। उन दिनो कोयला बेचने में कठिनाई हो रही थी। इन्होने भाई किशनलालजी को सुझाव दिया कि पूर्वी बगाल का मार्केट हाथ में ले लेना चाहिए। प्रश्न उठा—किसको भेजें? इन्होने

झट् मेरा नाम सुझाया। उधर से सन्देह प्रकट किया गया तो इन्होने सुन्दर शब्दो में मेरी योग्यता का वर्णन किया। मुझे लाभ यह हुआ कि मालिको के दिल में मेरे लिये स्थान और विस्तृत हो गया। वे प्रसन्न थे--मुझे भेजने के लिये अनुमति दे दी। मैं आजिजी करता रह गया कि मुझे न भेजा जाये—मैं तर वायु में स्वस्थ न रह सकूँगा और मेरा खाँसी का रोग जोर पकडे बिना न रहेगा।

अब इनके हाथ में दो अस्त्र आ गये—अगर मैं जाने से इन्कार करता हूँ, तो अवज्ञा होती है और मेरी कमजोरी साबित होती है, और चला जाता हूँ, तो बीमार पडकर घर का रास्ता नापूँगा—दोनो हाथ लड्डू। फिर क्या था—इनको अपनी चाल पार उतरती नजर आने लगी।

मैं बीमारी की हालत में चला गया—पर नारायणगंज पहुँचा ही था, इतने में कलकत्तावालो का वापिस लौट आने का तार मिल गया। मैं घबडा उठा कि हठात् ऐसी क्या बात हो गयी जिस कारण मुझे तुरन्त ही बुलाया जा रहा है। मुझे घरवालो की तरफ से चिन्ता होने लगी, क्योकि दूसरी बात तो मेरे जीवन में घबडाने की हो ही क्या सकती थी? मैं दूसरे ही दिन रवाना हो गया, कलकत्ता पहुँचा, सीधा गद्दी गया, भाई किशनलालजी वही बैठे थे। मुझे देखकर बोले, 'हरगोपालजी की तबियत बहुत खराब हो गई है। आप तुरन्त कोलियरी चले जाइये और ठीक साथ काम सँभाल लीजिये—उसका भी पूरा खयाल रखियेगा।'

मैं उसी दिन झरिया पहुँच गया। उनके लीवर में कुछ तकलीफ उठ खडी हुई थी। इलाज कराया गया और वे ठीक हो गये, लेकिन उन्होने देश जाने की ठान ली। इधर कुछ मुकदमे चल रहे थे, इसलिए मालिक लोग नही चाहते थे कि ये इतनी लम्बी छुट्टी पर चले जायें। मुकदमे न जाने कब क्या रुख ले लें। पुराने जानकार यही थे। और किसी को भीतरी बातें मालूम नही थी। इनके हृदय में यही भावना थी कि इनकी गैर-हाजिरी मे अगर मेरे द्वारा मुकदमे गडबड हो जायें, तो मैं गया काम से, और इनकी धाक जम जायेगी। फिर तो मालिक लोग सीधे हो जायेंगे। उधर इनको तीन मास आराम करने का मौका भी मिल जायेगा। इनको इस बात का भान तक न था कि मुझे भी कानूनी अनुभव रह चुका है। मैं अपने बारे में कभी किसी से कुछ जिक्र नही करता था। मैं इसे हल्की बात समझता हूँ। अपने लिये अपने मुख से अपनी योग्यता का वर्णन करना अहकार की सृष्टि करता है, जो आगे चलकर पतन का कारण बन सकता है।

इनके छुट्टी पर जाने के २ दिन पहले रामचन्द्रजी और भाई किशनलालजी झरिया आ गये। उन्होने सारे बही-खाते देख-भालकर सारे कागजात मेरे हवाले

मैंने कहा, 'ऐसी बात तो नही है, लेकिन पहले से ही तैयारी बनी रहे तो ठीक है।'

वे मुस्कराकर चुप हो गये। मैं उनके भाव को नही पकड सका।

हरगोपालजी को अपनी डाँवाडोल परिस्थिति का ज्ञान हो चला था, लेकिन फिर भी वे अपनी आदत से बाज नही आते थे। मुझे अपने लपेटे मे लेने का उन्होने एक अन्तिम प्रयास और किया।

एक दिन साँझ को कोलियरी आये, डिपो गये। मैं साथ में ही था। पहले जिस जमीन के बारे मे मुकदमेबाजी हो चुकी थी, उस तरफ गये। उस जमीन के पास उसी कोल्यिरी का कोयला जमा हो रहा था जिससे झझट हो चुका था। उधर सकेत करते हुए उन्होने मुझसे पूछा, 'तुमने अपनी इस जमीन पर उनका कोयला कैसे स्टॉक होने दिया?'

मैंने बडी नम्रता से उत्तर दिया, 'जी, यह कोयला उनकी जमीन पर है—हमारी जमीन पर नही।'

वे जरा मुस्कराये और चुप्पी साधकर चल दिये। फिर उसी रात को वे कलकत्ता चले गये और रामचन्द्रजी के कान भर दिये कि, 'जिस जमीन के बारे में इतनी खून-खराबी हुई, मुकदमेबाजी हुई, हजारो रुपये फूँक दिये गये—वही जमीन निरजनलाल ने दुश्मन को दे दी है, और मुझे खबर तक नही की। यह तो मैं अचानक उधर चला गया, तब पता चला, नही तो थोडे दिन बाद यह जमीन कानूनन फिर हाथ न आती।'

यह कान भरे मध्याह्न के उस समय जब कि मेरा खदान से उठने का समय हो चला था। शायद इसके पीछे उनकी यही मशा थी कि मैं उस समय काम से थका-हारा रहूँगा, और ऐसे समय मेरे ऊपर कलकत्तावालो की डाँट पडेगी तो मैं भी गरम हो जाऊँगा, और उनका काम बन जायेगा।

तो मैं खदान से उठ ही रहा था कि तभी कलकत्तावालो का फोन आ गया। ऑफिस से आदमी मुझे बुलाने दौडा आया। मैं उसी समय ऑफिस आया। मैंने फोन पकडा तो उधर रामचन्द्रजी को फोन पर पाया। बोली के रुख से स्पष्ट मालूम पडता था कि वे बहुत क्रुद्ध थे। बोले, 'मैंने सुना है कि जो जमीन हमने जिनसे जीती थी, वह तुमने उन्ही को वापस दे दी है। यह क्या किया? इतनी खून-खराबी के बाद फिर यही नतीजा?'

मैंने नम्रतापूर्वक उत्तर दिया, 'आपको जो खबर मिली है, वह गलत है। अपनी जमीन अपने ही कब्जे मे है। मैं उस जमीन पर आज, बल्कि अभी, पिलर्स बनवाकर ही भोजन करूँगा, और आपको आज ही रात में फोन द्वारा इसकी

सूचना दे दूँगा।'

मेरी बात सुनकर वे शान्त हो गये और 'अच्छा' कहकर उन्होंने फोन छोड़ दिया।

मैंने इसी समय उस जगह जाकर फिल्में बनवाने शुरू कर दिये। शाम तक फिल्में बनने के बाद ही मैंने भोजन किया, और कलकत्तावालों को फोन पर इसकी सूचना दे दी।

दूसरे दिन हरगोपालजी ९ बजे सवेरे आये और १ घंटा इधर-उधर की बात करके वापस चले गये—डिपो नहीं गये। जैसे ही वे वापस गये, मैंने कलकत्ता चिट्ठी लिख दी। मेरी ओर से यह चिट्ठी पहली और अन्तिम थी—हरगोपालजी को लेकर। मैंने लिखा था कि, 'आज हरगोपालजी आये, घंटे भर रहे, इधर-उधर की बात-चीत करके चले गये—डिपो तक नहीं गये। उनको आकर देखना चाहिये था कि फिल्में कहाँ बनाये गये हैं, वह अपनी झगड़ेवाली जमीन पर ही बने हैं, या नहीं। उन्होंने इसके बारे में कुछ बात-चीत भी नहीं की, मानो वे कुछ जानते ही न हों। मैं आशा करता हूँ कि वे इस बारे में आपको कुछ भी नहीं लिखेंगे और न कुछ लिख पायेंगे ही, क्योंकि उनको मालूम ही नहीं है कि कल वहाँ पर क्या हुआ, क्या नहीं हुआ।'

यह चिट्ठी कलकत्ता पहुँची, तो भंडा-फोड़ होना ही था। उनको कलकत्ता बुलाया गया और इस प्रकार की गलत बातें करने का कारण पूछा गया। वे चुप ही रहे होंगे—उनको नीचा देखना पड़ा होगा ही, क्योंकि असत्य टिकता नहीं—टिक सकता नहीं।

वे दूसरे दिन भिन्नाते हुए मेरे पास आये—मुँह एकदम लाल था, आँखों से खून बरस रहा था। आते ही बोले, 'देखो, जो दूसरे की रोटी को तकता है, वह ...' (अपशब्द ये जिन्हें यहाँ लिखना मैं उचित नहीं समझता।)

मैंने नम्रता से ही उत्तर दिया, 'बाबूजी, आप यथार्थ ही कहते हैं, इसमें दो मत नहीं हो सकते।'

वे चुप हो गये और थोड़ी देर बाद चलते बने।

सन् १९२८ के दिसम्बर मास की बात है। हरगोपालजी को बही-खाते लेकर कलकत्ता से बुलाहट आई। जब वे सारे बही-खाते लेकर कलकत्ता पहुँचे, तब रामचन्द्रजी ने उन्हीं से मुझे फोन करवाया। शाम का समय था। हरगोपालजी फोन पर मुझसे कहने लगे, 'भाई रामचन्द्रजी तुमसे बात करेंगे।'

फिर रामचन्द्रजी बोले, 'देखो, हमने हरगोपाल को आज से छोड़ दिया है—यह कोई कागज-पत्र न ले जाने पाये, और न कोई अन्य सामान ही। झरिया से

सारे पुराने रेकार्ड अभी अपने पास ले आओ, और चौकस रहना कि इसके हाथ में कुछ न पडने पाये।'

उसी समय जाकर मैं रेकार्ड तो ले आया, लेकिन मैंने और कोई सामान छूआ तक नहीं।

दूसरे दिन हरगोपालजी झरिया आ गये। झरिया और कोलियरी के बीच दो डाक-चपरासी थे। एक चपरासी का नाम लाला था जिसे हरगोपालजी ज्यादा चाहते थे। मैंने उसे हिदायत दे दी कि वह झरिया में हरगोपालजी की सेवा में तैनात रहे, अगर जरा भी शिकायत सुनी गई, तो वह बरखास्त कर दिया जायेगा।

यह लाला झरिया पहुँचा ही था कि हरगोपालजी ने उससे कहा, 'लाला, तुम यही रहो और कोलियरी में गोयनकाजी से कह दो कि तुम्हें बुखार आ गया है, इसलिए तुम आना-जाना नही कर सकोगे।'

लाला से उन्होने ऐसा इसलिए कहा था कि उनके दिल में यह भय था कि अप्रेल-मई महीने में भाईसाहब के प्रति उनके द्वारा जो अशिष्ट व्यवहार हुआ था, कही उस कार्य की प्रतिक्रिया मेरे दिल में न हो जाए।

उनकी बात सुनकर लाला बोला, 'अजी, हमको तो पहले से ही यहाँ आपकी सेवा मे रहने का आदेश हो गया है, इस प्रकार झूठ बोलने की आवश्यकता ही नही।'

हरगोपालजी इसके बाद भी १०-१५ दिन उसी घर मे रहे, लेकिन मैं एक दिन भी वहाँ नही गया। जब ये वहाँ से चले गये तब मैंने जाकर देखा--पीतल के फूटे बर्तन थे, गद्दियाँ बिना चाँदनी की थी, और बाकी सारा सामान नदारत, फर्नीचर तक नदारत।

मैं घर मे ताला लगाकर वापस आ गया--मैंने कलकत्ता कोई समाचार नही दिया। सिर्फ इतना ही लिख दिया कि हरगोपालजी चले गये है।

भइया की बीमारी और उनका सान्निध्य

०

हमारे भाईसाहब इन दिनो कलकत्ता में ही प्रैक्टिस कर रहे थे। सन् १६२८ के अप्रैल या मई मास में उनको डेंगू फीवर ने आ दबाया। बडा कष्ट होने लगा। रोग से ये बडे घबराते थे। भाई किशनलालजी ने डॉक्टर विराट को बुलाकर इलाज शुरू करवा दिया। उसने कह दिया कि हार्ट पर असर हो गया है, इसलिए जमीन पर ही लेटे रहें, और किसी तरह की हरकत न करें। सिर्फ अनार का रस या डाब का पानी लें।

इतना कहकर डॉक्टर तो चला गया। इधर घर में चिन्ता और घबराहट फैल गयी। भाई किशनलालजी बुलाये गये। भाईसाहब ने मुझे तुरन्त बुला देने को उनसे कहा। रात को १२ बजे मेरे पास फोन आया, तब मुझे सारा हाल मालूम हुआ। मैं भी कम नहीं घबराया। मुझे ऐसा खयाल होने लगा कि शायद दर्शन हो, या न हो।

मैं भोर की गाडी से ही रवाना हो गया। हबडा पर मुझे लेने कोई नही आया। मेरे पैर तले की धरती धसकने लगी। किसी तरह घर पहुँचा। सशक कदमो से धीरे-धीरे ऊपर चढा। भाभी को देखा तो धीरज बँधा। भर्राई आवाज में मैंने पूछा, 'भाईसाहब कहाँ है ?'

वह मुझे उनके कमरे में ले गई। भाईसाहब जमीन पर लेटे हुए थे—एकदम हताश। मुझे देखकर उनकी आँखें डबडबा आईं। मैं और कुछ न बोला, बस इतना ही कहा, 'मैं अब आ ही गया हूं तो फिर आपको चिन्ता कैसी? मैं तो कुछ खराबी देख नही रहा हू, आपका बुखार उतर ही गया है, कमजोरी है सो शनै शनै दूर हो जायेगी। डॉक्टर की बात पर मुझे विश्वास नही होता—यह सब आपको यहाँ से भगाने की चाल है, क्योकि यहाँ आते ही आपकी इतनी प्रतिष्ठा जो जम गई, सो यहाँ के डॉक्टरो को सहन नही हुई है।'

मेरी बात सुनकर उनको बडी ढाढस बँधी। बोले, 'तुम्हारी यह बात ठीक हो सकती है। इसलिए अच्छा हो कि किसी दूसरे डॉक्टर को बुलाकर सलाह कर ली जाय।'

मैंने कहा, 'जरूरत समझेंगे, तो बुला लेंगे—यह कौन-सी बडी बात है, लेकिन मैं महसूस करूँगा, तभी बुलाऊँगा।'

मेरे आने मे भाभी को भी बडी हिम्मत बँधी।

फिर भइया ने मुझे खाने-पीने का आदेश दिया। शौचादि से निवृत्त होकर मैं उनके पास ही खाने बैठ गया। दोपहर हो चली थी। मैंने उनके लिए पलँग बिछवा दिया और उन्हे पलँग पर लेटने को कहा, लेकिन उनमें उठने की हिम्मत ही नही थी। फिर हम इधर-उधर की बातें करते रहे। इतने में उनका मन जरा हल्का प्रतीत होने लगा, और उनके खयाल बदलने लगे। तब मैंने सहारा लगाया और वे उठकर पलँग पर लेट गये। उनको कुछ भूख-सी भी लगने लगी। मैंने छिलकेदार मूँग की दाल बनवाई और उनको दी। कुछ दूध भी दिया। उन्हे ताकत महसूस होने लगी। वे बातों मे लगे रहे। शाम को फिर दाल के साथ एक रूखा फुलका और परवल का साग दिया। रात में उन्हें नीद सुख से आई। दूसरे दिन वे बडे प्रसन्न थे। इस दिन भी पथ्य देते रहे और कमला नीबू, सेव, अनार भी दिये गये। फिर तो उनके मुख पर हँसी खेलने लगी। उठकर शौच इत्यादि शौचालय मे ही जाकर किया।

इसके तीसरे दिन हम लोग जैरामपुर आ गये। यहाँ पर ५-७ दिन में ही भइया चलने-फिरने लग गये। वे बडे प्रसन्न थे।

इसी समय मुझे कोयला बेचने को बीकानेर जाना पडा, वहाँ ८-१० दिन लग गये। मेरे पीछे हरगोपालजी ने मेरा सामान बाजार से लाने के लिए चपरासी लोगो को मना कर दिया तथा इतना और कह दिया कि लुक-छिपकर भी सामान लाये तो डिसमिस कर दिये जाओगे।

फलस्वरूप डाक-चपरासियो ने झरिया-बाजार से मेरा दैनिक सामान लाना

बन्द कर दिया। हमारे खाने-पीने का सामान झरिया से ही आता था जो जैरामपुर से ४ मील दूर था। लेकिन शिवजी सिंह—डिपो-चपरासी—इस आदेश के बावजूद सुबह सात बजे के पहले ही हमारा सामान ला देता था। वह बडा वफादार था और अपने काम में बडा पक्का था। उसको भी मेरे द्वारा काफी मान तथा प्रेम मिलता। मैं उसे होली-दीवाली साथ लेकर भोजन करता, लेकिन वह मेरे मुँह नही लग पाया था—मुझसे आदर-मिश्रित-भय करता। मैं उसे अपने छोटे भाई जैसा मानता था। इस शिवजी सिंह के बारे में और भी कई ऐसे प्रसग है जिनसे मेरे प्रति उसकी वफादारी का पता चलता है, लेकिन मैं विस्तार भय के कारण उनका यहाँ उल्लेख करना नही चाहता।

भइया को हरगोपालजी के इस अशिष्ट व्यवहार से काफी चोट पहुँची, लेकिन वे चुप रहे।

लौटने पर मुझे यह बात मालूम पडी। हरगोपालजी ने भी बाद मे अपनी गलती को महसूस किया, लेकिन हाथ से तीर निकल चुका था। दूसरे दिन वे मुझसे मिलने आये और आते ही बोले, 'देखो, इन चपरासियो पर कोई एक्सन न लेना—ये लोग गलतफहमी के शिकार बन गये और मेरी बात समझ न पाये ।'

बीच ही मे बात काटकर मैं बोला, 'ठीक ही है, ये बेचारे निपट अनाडी जो ठहरे। अगर इतने ही व्यवहार-कुशल होते, तो यहाँ चपरासी का काम करने क्यो आते ? ये तो नट क बन्दर हैं—इनका कोई दोप नही। अब इस बात को यही खत्म करिये।'

इसके बाद वे मुझसे बीकानेर की बातें करते रहे और थोडी देर बाद चले गये।

अपने इसी व्यवहार के कारण उनको डर था कि उनके जाते समय कही मैं भी बदला लेने की भावना से उनके साथ वैसा ही व्यवहार न कर बैठूँ। इसीलिए उन्होने लाला चपरासी को बुखार का बहाना करके छुट्टी माँगने की बात सुझाई थी।

लेकिन उनको शायद इस स्वर्णिम नियम का पता नही था कि वस्तुत वास्तविक और उच्चस्तरीय बदला तो वह होता है जिससे प्रतिपक्षी के हृदय को जीता जाए, और वह स्वय हमारे प्रति कृतज्ञता अनुभव करे।

हरगोपालजी के चले जाने के बाद मैं जब बँगले पर गया, तो भइया बोले, 'कहो, क्या-क्या बातें हुईं ?'

मैंने कहा, 'हरगोपालजी अपनी गलती महसूस कर गये, तो फिर मैंने बात को बढाना ठीक नही समझा, क्योंकि कटुता के साथ महसूस कराने में कटुता और भी बढती ही है—फिर तो दोनो पक्ष दाह के शिकार बन जाते है।'

हम दोनो भाई इस प्रकार बातें करते रहे। मेरे इन विचारो से भइया बडे ही प्रसन्न थे। मैं उनका मूक आशीर्वाद पा रहा था। फिर वे प्रकट रूप में बोले, 'तुम्हारा मार्ग निष्कटक है, प्रशस्त है, सीधा है, सुगम है। इसे अपनाये चले चलना—फिर तुम्हारी उन्नति में कोई भी बाधक नहीं हो सकेगा।'

बात-चीत के प्रसग में ही भाईसाहब पूछ बैठे, 'मैंने सुना था, तू माईनिंग की परीक्षा की तैयारी कर रहा है। तू इन्जीनियर हो जाता, तो मुझे बडी खुशी होती।'

मैंने कहा, 'भाईसाहब, आपके आशीर्वाद से अनुभव तो हो ही गया है, और दिन-दिन उसमें वृद्धि भी हो रही है, लेकिन पढाई में अधिक समय लगाने से मैं अपने कर्तव्य के कार्य को पूर्णतया निवाह न सकूँगा, जो मुझे सहन नही। भगवान ऐसे ही मेरी उन्नति कर देंगे।'

वे बोले, 'तू रात में तो पढ ही सकता है—तब तो कोई नियम भग होगा -ही ?'

मैंने कहा, 'वैसे तो रात का समय मेरा है, लेकिन आवश्यकता पडने पर रात में भी काम करने चला जाता हूँ। दूसरी बात यह है कि रात में मैं अपने प्रिय विषयो का अध्ययन करता हूँ—इससे मस्तिष्क को काफी खुराक मिलती है, दिमाग तरोताजा बना रहता है। यार-दोस्तो के घर अड्डा मारने से तो यह अध्ययनवाली आदत अच्छी ही है। बचपन से आपने ही मेरी ऐसी आदत डाल दी है—मैं क्या करूँ ?'

वे कुछ देर हँसते रहे और बोले, 'मेरी कडाई तुम लोगो को उस समय तो जरूर अखरती रही होगी, लेकिन आज तुम सुख पा रहे हो।'

मैंने कहा, 'आपका शिक्षा-रूपी बीज ही तो आज इस रूप में प्रस्फुटित हो रहा है—सब आपके प्रताप का ही प्रसाद है।'

मेरी बात सुनकर वे बडे प्रसन्न हुए।

आज सोचता हूँ कि मेरे जीवन मे एक समय ऐसा भी था जब उस पीयूष-वाणी से मेरा हृदय-कमल सिंचित होता रहता था।

भइया २-३ मास रहकर चूरू चले गये—वापस कलकत्ता नही गये, क्योंकि वहाँ की जलवायु उनके अनुकूल नही थी। चूरू में जाकर उनकी प्रैक्टिस फिर से मजे में चलने लगी।

भइया का दूसरा प्रेरक पत्र

०

मैं एजेन्ट के पद पर तो आसीन कर दिया गया, लेकिन वेतन में वृद्धि नही हुई। मैंने अपनी ओर से अनुनय-विनय की नही, और मालिको ने अपने-आप विचार किया नही। हरगोपालजी को ३००) मासिक मिलते थे, मुझे भी वही मिलने चाहिये थे। लेकिन सच ही कहा गया है—बिना रोये माँ भी अपने बच्चे को दूध नही पिलाती।

मैंने सारे वृत्तान्त की चिट्ठी भइया को लिख दी। उनका उत्तर आना ही था। उन्होने लिखा—

'अधीर न होना। समय की प्रतीक्षा करते रहो। कर्तव्य-परायणता बडी मूल्यवान वस्तु है। काम करते चले जाओ, उसमें ढिलाई न आने पाये—प्रतिफल मय मुआवजा के एक दिन स्वय मिल जायेगा। प्रकृति बुरे कर्मो के फल को भुगताये बिना नही रहती, तो अच्छे कर्म निष्फल कैसे जा सकते है। चूँकि प्रकृति के रहस्य को हम समझ नही पाते, इसीलिये हम अधीर हो उठते है। हमें माली से निष्कर्म की परिपाटी सीखनी चाहिये। माली अपने काम की धुन में मस्त रहता है। वह जमीन को बीज बोने के पहले और पीछे नर्म बनाये रखता है—यह हुआ उसका अपने को कोमल बनाये रखना। क्यारी में घास जमने नही

देता—यह है उसकी सतर्कता। बरावर सीचता रहता है—यह है निरतर कर्म करते रहना। अधीरता को अपने पास फटकने नही देता, न समय के पहले फल की इच्छा ही करता है, वल्कि समय के पहले फल का लगना उसे पसन्द ही नही—वह तो पौधे को सेता है। मुर्गी अडे सेती रहती है—वह कहाँ परवाह करती है कि वच्चे अभी तक प्रकट क्यो नही हुए ? और ऐसा कहाँ होता है कि अगर अडे जल्दी न पकें, तो वह वीच मे छोडकर चल दे ? 'माली सीचे सौ घडा, रुत आयाँ फल होय'—यह एक राजस्थानी कहावत है, जो वहुत सारगर्भित है। मेरी इस शिक्षा को हृदयाकित कर लेना—फिर देखो, भविष्य कितना भव्य वनता है। पूर्ण विश्वास रखो। मैं इस पथ का अनुगामी रह चुका हूँ—फल भी प्राप्त कर चुका हूँ।'

इस पत्र को पढकर ऐसा प्रतीत होने लगा जैसे दीपक मे तेल सीच दिया गया हो , लेकिन यह रास्ता जरा कठिन पडता है, अधीरता को पदस्थ रखना पडता है, हालाँकि इसमे अतिम लक्ष्य-पूर्ति अवश्य प्राप्त होती है। मुझे भी फल मिले विना न रहा। आज मुझे भाई किशनलालजी के साथ रहते ४३-४४ साल वीत गये है, एक कोलियरी मे आठ आना साझीदार हूँ, उनके कोयले का सारा काम मेरे और मेरे पुत्र राजेन्द्रकुमार द्वारा ही सचालित हो रहा है। भाई किशनलालजी मुझे अपना वडा सहोदर मानकर समादर-सम्मान प्रदान करते है। उनके वाल-वच्चो की तो वात ही क्या कहूँ। लेकिन सारा श्रेय है मेरे भइया के सदुपदेश को ही।

रामचन्द्रजी के साथ भेंट और वार्ता

०

सन् १६२६ के जनवरी या फरवरी मास की बात है। कलकत्ता से रामचन्द्रजी के लगभग एक ही साथ दो तार आये। पहले मे लिखा था कि वे फलाँ गाडी से देश जा रहे है, स्टेशन पर आकर मिल लेना और साथ दूव लेते आना। थोडी ही देर वाद दूसरा तार आया, जिसमे लिखा था—स्टेशन पर पानी लाना। मैं दुविधा में पड गया कि दूध ले जाऊँ या सिर्फ पानी ?

आखिर मैं दोनो वस्तुएँ ले गया। मैंने गोमो तक की सेकण्ड-क्लास की टिकट भी ले ली—शायद वात-चीत के सिलसिले में उनके साथ गोमो तक जाना पडे। गोमो दूसरा ही स्टेशन था।

मैं दोनो वस्तुएँ लेकर स्टेशन पहुँचा। रामचन्द्रजी ने स्वय दूव पीया और अपने वच्चो को भी वडे प्रेम से पिलाया। वडे प्रसन्न हुए।

गाडी सिर्फ ५ मिनट ही रुकती थी। गाडी ने सीटी दे दी। वात तो कुछ हो ही नही पाई थी। उन्होने मुझे साथ चलने का आदेश दे दिया। मैं झट गाडी में उनके साथ वैठ गया।

उनका पहला प्रश्न था, 'अगर अगले स्टेशन पर उतरते समय तुम्हें पकड लिया गया, तो ?'

मैंने उत्तर दिया, 'टिकट मेरे पास है।'

सुनकर बड़े प्रसन्न हुए, लेकिन बोले कुछ नहीं। कुछ देर बाद फिर पूछा, 'हरगोपाल कुछ सामान तो नहीं ले गया ? बन्दूक कहाँ पर है ? पावरनामा कैंसिल कराया कि नहीं ? कोई कागजात तो उसके पास नहीं रह गये ? कुछ बेजा हरकत तो नहीं करता ?'

मेरा उत्तर इस प्रकार था, 'सामान तो वे क्या ले जाते—सिर्फ थोड़े-से बर्तन-भाँडे, थोडा-सा काठ-कबाड, या गद्दी की चाँदनी आदि ही न। इससे उनका तो पूरा पडने से रहा, और ताराचद घनश्यामदास को कुछ घाटा नहीं पडने का। दूसरी बात यह कि मैंने इन तुच्छ चीजो पर ध्यान देना उचित भी नही समझा। हाँ, बदूक की बात ऐसी है कि बदूक उनके ही नाम से थी, इसलिए बदूक लेने से हमका कुछ लाभ होता नही, हमें तो पुलिस में जमा दे देनी पडती और उनके हाथ से भी जाती। कोई विशेप दामो की चीज भी नहीं थी। पावरनामा कलकत्ता से ही कैंसिल कराना चाहिए, क्योकि पावरनामा आप लोगो के द्वारा ही दिया हुआ है। अगर कैंसिल करवाने में देर भी होगी तो मुझे विश्वास है कि वे कोई बेजा हरकत नही करेंगे। रही कागजातो की बात, सो वे तो आपने सन् १९२७ में ही उनके छुट्टी जाने के समय उनसे लेकर मुझे दे दिये थे। वे मेरे पास सुरक्षित है और मैंने उनकी लिस्ट बना ली है। उक्त लिस्ट की एक कॉपी मैंने आपको भेजी ही थी—वह आपके पास होगी ही।'

इस पर उन्होंने कोई प्रत्युत्तर नही दिया। मैं भी चुप रहा।

तभी वे पूछ बैठे, 'डॉक्टरजी को हमारे चूरू पहुँचने का समाचार तो तुमने नही दे दिया है ? मैं उनको कष्ट देना नही चाहता।'

मैंने कहा, 'समाचार तो तार द्वारा दे चुका हूँ—वे चूरू स्टेशन पर आपसे मिलने के लिए अवश्य ही आयेंगे। आप तो चूरू उतरकर ही रामगढ जायेंगे न, क्योकि देपालसर तो गाडी ज्यादा देर रुकती नही—इतना सामान उतारने में भी तो पूरी दिक्कत होगी—चूरू स्टेशन पर आपको पूरा आराम रहेगा।'

इस प्रकार बातें करते-करते गोमो स्टेशन आ गया और मैं धोक देकर उतर गया। गाडी रवाना होने पर वेटिंग-रूम में चला गया और दूसरी गाडी से वापस धनबाद पहुँचा और कोलियरी आ गया।

कुछ ही दिनो बाद रामगढ से रामचन्द्रजी का एक पत्र मिला—भइया ने उनके लिए जो इन्तजाम कर रखा था, पत्र मे उसकी उन्होंने बडी प्रशसा की थी।

थोड़े दिन बाद भइया की भी चिट्ठी आई। उसमें लिखा था—

'तुम्हारे और रामचन्द्रजी के बीच जो प्रश्नोत्तर हुए, उस सब का विवरण उन्होने मुझे कह सुनाया। वे तुम्हारे उत्तरो से बडे मुग्ध थे, और कह रहे थे कि उन्होने तुमसे जो प्रश्न किये थे वे तुम्हारी गम्भीरता एवं शिष्टता की थाह लेने के वास्ते ही थे। तुम सफलतापूर्वक उत्तीर्ण हुए—इससे मुझे भी बडी प्रसन्नता हुई है। तुम्हारी व्यवहार-कुशलता की जाँच के लिये ही तुमको उन्होने दो तार दिये थे, और तुम उसमें उत्तीर्ण हुए। तुम गोमो तक का टिकट साथ ले गये, इस पर तो वे लट्टू हो रहे थे—यह तुम्हारी दूरदर्शिता की द्योतक थी।

मैं इधर कई दिन से तुम्हारे बारे मे सोचता रहा हूँ कि आखिर तुम्हारे अन्दर ये सब बातें आई कहाँ से ? सोचते-सोचते मुझे खयाल आया कि बचपन से ही तुम्हारे अन्दर अपनी गलतियो को स्वीकार करने में कभी झिझक नही रही है। तुम्हारे बचपन की कई घटनाएँ याद आ गई। अपनी गलतियो को स्वीकार कर लेना तुम्हारा सहज स्वभाव ही था। अपने दोषो को स्वीकार कर लेने से वे दोष ठहरते नही—हृदय का परिक्षालन हो जाता है, आत्मिक बल की वृद्धि होती है। दोषो को छिपाने से दोषो को प्रश्रय मिलता है, भय और द्वेष की सृष्टि होती है, आत्म-बल का हनन होता है, दोषो की पुनरावृत्ति का क्षेत्र विस्तृत हो जाता है, भय और शका बढते जाते है, एव सत्य की सृष्टि नही हो पाती, लेकिन मनुष्य इस तथ्य को कहाँ समझता है ? यही कारण है कि आज हम इस अधोगति को पहुँच गये है।

हरगोपालजी तुमसे पुराने थे—काफी पुराने थे। इसके अलावा मालिकों के ही गाँव के थे, आपस में पीढियो का सम्बन्ध था। मालिको को तो काम करने के लिये आदमी की जरूरत थी ही, और ये पहले से थे ही, इधर अपने साथ परिचय एकदम नया था, लेकिन तुम रह गये और ये चले गये। यह तुम्हारी ईमानदारी और सच्चाई का ही सुफल है। मेरा माथा ऊँचा हुआ, अपने घराने की प्रतिष्ठा बढी, मेरा चित्त बडा प्रसन्न हुआ।

छिद्रान्वेषण बडी बुरी चीज है—इससे बचकर ही रहना चाहिए। ऐसा करने से दूसरो के दोष हमारे मन में भी घर कर जाते है। हमें पता तक नही चलता और उनमें वृद्धि होती चली जाती है।'

भइया का इस प्रकार का पत्र पाकर मुझे बडी खुशी हुई, मेरा साहस बढा और मेरे मन में सत्पथ की महिमा और भी दृढ हो गई।

चेतन और सुप्त मन

०

भाईसाहब के पौत्र मोतीलाल का विवाह मार्च मास में होना निश्चित हो गया। शादी मे मेरे शामिल होने के लिए भइया का बडा जोर था। मेरी इच्छा भी जाने की थी, लेकिन कलकत्तावालो ने अवकाश देना स्वीकार न किया। जब भइया ने कलकत्ता पत्र लिखा, तब मुझे सात दिन की छुट्टी मिली, और मैं एक ही दिन पहले वहाँ पहुँच पाया। मेरा बडा इन्तजार हो रहा था। लडका बहुत उदास था। मेरे पहुँचते ही सबको बडा हर्ष हुआ। मोतीलाल भइया का ज्येष्ठ पौत्र था और भइया तथा भाभी का प्रेम इसमें विशेष रूप से केन्द्रित था। बडे उत्साह से विवाह सम्पादित होना था—उसमें भला मेरी कमी कैसे सहन होती! सारे घरवालो से एक साथ मिलना-जुलना हो गया। परदेश मे रहनेवाले के लिए एक साथ सबसे मिलना समस्या ही होती है।

एक दिन भइया फुरसत में थे, पूछ बैठे, 'कहो, हमारी चिट्ठी मिली और ध्यान से पढी ?'

मैंने उत्तर दिया, 'जी, पढी ही नही, उसका तो बराबर स्वाध्याय होता रहता है।'

इस पर भइया बोले, 'मैं और भी काफी-कुछ लिखना चाहता था, लेकिन पत्र पहले ही लम्बा हो चुका था, और यह भी देखा कि ज्यादा खुराक देने मे कही अजीर्ण न हो जाये।' यह कहकर हँसने लगे।

मैंने उत्तर दिया, 'भाईसाहब, गरिष्ठ भोजन तो सुपाच्य नही होता, लेकिन स्वादु रस तो त्रिदोष-नाशक है—आपकी सुन्दर शिक्षाएँ तो मेरी पथ-प्रदर्शक बनी हुई है। इन्ही के बल पर तो मैं अग्रसर हो सका हूँ।'

भइया कहने लगे, 'तो सुन, आज तुझे एक बहुत गभीर बात बताता हूँ। मन के दो भाग होते हे—यो तो तीन है, लेकिन हम सीमित रहते है इन दो तक ही। एक तो है चेतन मन, जिसे अँग्रेजी में 'काशस माइण्ड' कहते है। दूसरा है सुषुप्त मन, जिसे 'सब-काशस माइण्ड' कहते है। चेतन मन में जो विचार उठते है उनका पता चलता रहता है, लेकिन जब ये विचार 'सब-काशस माइण्ड' मे जा उतरते है, तो पता नही चलता कि कौन-कौन-से विचार 'सब-काशस माइण्ड' में जा उतरे। ऐसा समझो कि जैसे वीर्य का सूक्ष्म अणु गर्भ में प्रवेश कर भ्रूण बनना शुरू हो जाता है, और समय पाकर परिपक्व होकर बालक की शक्ल मे पैदा हो जाता है, लेकिन पेट में चल रही प्रक्रिया का माता को भान नही होता, उसी तरह हमारे अच्छे-बुरे भाव जब कभी भी बीज-रूप में हमारे 'सब-काशस माइण्ड' में जा घुसते हे, तो वहाँ परिपक्व होते रहते है—उनकी प्रक्रिया पर हमारा कोई वश नही चलता। तुमने देखा होगा कि बिना कोई ज्ञात कारण के ही हमसे ऐसी हरकते हो जाती है जिनको हम अपनी सज्ञान अवस्था में कभी नही कर सकते।

'ऐसी स्थिति में हम कह उठते है कि हठात् ही ऐसा हो गया, अब तो हम बहुत पछताते है, लेकिन अब क्या करें, जो होना था, सो हो गया। ये सब घटनाएँ 'अनकाशसली' हो जाती है—ऐसा कहकर हम अपने को सान्त्वना दे लेते है, लेकिन वस्तुत ऐसी बात है नही। ये सब घटनाएँ तालाब मे 'रिपलस' के सदृश है, और बिना किसी खास कारण के तालाब में 'रिपलस' बन नही पाती। पत्थर फेंक दो, 'रिपलस' बननी शुरू हो जायेंगी। ये 'रिपल्स' एक के बाद एक बनती ही चली जाती है, और इनका व्यास बढता ही चला जाता है—अन्त होता है किनारे पर टक्कर खाकर, पहले अन्त हो नही सकता। प्रकृति का ऐसा ही नियम है। आजमाकर देखो, सूखे तालाब में 'रिपल्स' बन पाती है क्या? इसी प्रकार हमारे हृदय-रूपी तालाब मे प्रत्येक कर्म, चाहे वह कैसा भी क्यो न हो, अपनी प्रतिक्रिया करना शुरू कर देता है। क्रिया-प्रतिक्रिया, प्रतिक्रिया-क्रिया होती रहती है और हमे पता तक नही चलता। फिर परिपक्व होकर इनका विस्फोट होता है। अगर मन में एक बार दुर्भावनायें घर कर जाएँ, तो फिर ये भयकर रूप धारण करके इस प्रकार व्यक्त हो जाती है, जिन पर हमारा काबू नही चलता, और ऐसे कर्म होने लगते है, जिनको हम करना नही चाहते, लेकिन बरबस मन

करा डालता है—परिणाम चाहे जैसे भी भोगने पडें।

'तुमने लोगो को कहते देखा होगा कि आज तो कर लो, कल की खुदा जाने। ऐसे लोगो को कितना भी समझाया जाये, लेकिन ये माननेवाले नही। इन सब की जड में एक ही बात है—ज्ञात अथवा अज्ञात अवस्था में इस प्रकार के भावो को मन में प्रश्रय मिल जाया करता है, फिर तो भ्रूण की तरह अन्दर-ही-अन्दर पल्लवित होकर ये अपना अखाडा जमा लेते है। इस अखाडे में दो पहलवान जुट जाते है—ये दो पहलवान कौन है, सो सुनो! ये दो पहलवान मन की दो वृत्तियाँ है—एक सात्विक, दूसरी तामसी-मिश्रित-राजसी। सात्विक वृत्ति निवृत्ति की तरफ ले जाने को प्रयत्नशील रहती है, दूसरी वृत्ति प्रवृत्ति की ओर घसीटती है। जो बलवान होती है, उसकी विजय होकर रहती है। इनकी पहचान क्या है, सो भी सुनो! जब हृदय में पश्चाताप रहता है, तो समझो, सात्विक वृत्ति जोर लगा रही है, लेकिन जहाँ जिद्द काम करती है, वहाँ समझो कि दूसरी वृत्ति काम कर रही है। पश्चाताप ही काफी नहीं होता—पश्चाताप करते जाते है, और तामसी वृत्ति के क्रीतदास बने रहते है। यह पश्चाताप जब तक निश्चयात्मक नही होता, तब तक विशेष बलवान नही हो पाता। निश्चयात्मक पश्चाताप का अर्थ है कि हम उस कार्य को घृणित समझने लगें, हमें उससे बदबू आने लगे, और दिल से पुकार उठें कि हे प्रभो! मुझे इससे बचाओ—इससे बचने का मुझे बल प्रदान करो···तब कही इससे पिंड छूट पाता है। इसीलिये तो कहा गया है—सत्सग करो, धार्मिक पुस्तकें पढो, किसी का बुरा न चीतो, द्वेष न करो। द्वेष के साथ जब राग मिल जाता है, तो यह राग ही प्रेम के रूप मे दिखाई पडने लगता है, और यही विनाश का कारण बन जाता है।

'तुम कहोगे कि प्रेम की महिमा तो सब ने गाई है, फिर प्रेम बुरा कैसे हुआ? बात यह है कि द्वेष ही तो जीवन में सारे कलह का कारण बनता है—क्रोध की जननी तो यह है ही। विषयो की प्राप्ति मे बाधा डालने पर भी क्रोध आता है, लेकिन यह क्रोध भडकता है द्वेष-रूपी जल से सिंचित होने पर ही। बाधक को हम भली दृष्टि से देख लें, तो बेडा पार ही हो जाय। मैंने तो अपने जीवन में बडे-बडे भयकर काण्ड देखे है—स्त्री पति को, पति स्त्री को, माँ पुत्र को, पुत्र माँ को, भाई भाई को, मित्र मित्र को जहर तक देते देखा है। यह सब करतूत है इसी तामसी-मिश्रित-राजसी प्रवृत्ति की। मन की चेतन अवस्था मे ऐसे घृणित-अमानुषिक कर्म करने की हम कल्पना तक नही कर सकते, करने की बात तो दूर रही। इसी तरह जो आत्महत्या करते है, उनके मन में भी यह भावना पहले 'सब-कांशस माइण्ड' में बलवती बन जाती है, तब बेकाबू होकर आदमी

अपनी जान ले लेता है, जीवन में अपनी जान से प्यारा पुत्र भी नहीं, ऐसी प्यारी चीज को भी वह नष्ट कर देता है।

'यह विस्फोट ज्वालामुखी के सदृश होता है। जब ज्वालामुखी फटता है, तो जानते हो क्या होता है?—भूकम्प आ जाते हैं, सैकड़ों-हजारो की जानें चली जाती हैं, शहर-के-शहर तबाह हो जाते हैं, समुद्र तक में तूफान आ जाते हैं, यहाँ तक कि टापू-के-टापू गायब हो जाते हैं। इसलिये प्रभु का भजन, धार्मिक पुस्तकों का स्वाध्याय, सत्संग, बुराइयों का त्याग, अश्लील साहित्य को छूना तक नहीं··· तब कहीं अच्छा जीवन बनने की आशा की जा सकती है, अन्यथा नहीं। भावनायें अच्छी या बुरी जितनी तीव्र होंगी, उनकी प्रतिक्रियायें भी उतनी ही तीव्र होंगी। एक भावना कितनी भी अच्छी हो, लेकिन अगर तीव्र नहीं, तो ज्यादा फलवती नहीं हो पायेगी। इसी तरह एक भावना इतनी बुरी है कि उसका विचार आते ही हृदय काँप उठता है, लेकिन वह क्षीण है, तो प्रतिक्रिया क्षीण होकर रह जायेगी।'

आज मैं समझता हूँ कि भइया की ये बातें कितनी सारगर्भित थी—उन दिनो तो मैं इन बातों की तह मे पहुँच नही सका था, क्योंकि जीवन में अनुभव हुए बिना इन बातो का महत्त्व ठीक से समझ में नही आता। मेरी किशोरावस्था में भी एक ऐसी घटना घटी थी जिसका कारण मैं खोज नही पा रहा था, यही सोचकर रह जाता कि बचपन की अबोध अवस्था ही कारण रही होगी। घटना इस प्रकार है।

मुझे अपनी बड़ी भावज का वात्सल्य सदा ही मिलता रहा, फिर भी मेरे द्वारा मेरी किशोरावस्था में इनके प्रति कुछ कटु व्यवहार हो गया था। यह बात मेरे जीवन में बराबर ही सूल की तरह खटकती रही—मैं उसका निराकरण नही कर पा रहा था। आगे चलकर, जब मैंने एडलर, युग जैसे मनोवैज्ञानिको की किताबें पढ़ी, तो मेरी आँखें खुल गईं, और मैं उस व्यवहार के कारण की तह तक पहुँच गया। उन किताबों में तो यहाँ तक लिखा था कि औरो की तो बात ही क्या, माता का भी कटु व्यवहार बचपन में बच्चे के दिल पर बड़ा आघात कर जाता है, और समय पाकर उसका विस्फोट हुए बिना नही रहता।

मेरे जीवन में ऐसी घटना उस समय घटी थी जब मैं ६-७ साल का था। हमारे मकान के सामने एक पड़ौसी का मकान था जिसमें एक युवा-दम्पति रहते थे। उनके साथ एक ६-७ साल का बच्चा भी था, जो उस स्त्री का देवर था। इस बच्चे की माँ मर चुकी थी। सास का व्यवहार बहू के साथ अच्छा नही

रहने के कारण अब बहू इस बच्चे से उसका बदला लेना चाहती थी। इसलिए वह इस छोटे-से बच्चे को घर के सारे काम-काज मे अपने साथ जुटाये रहती।

मेरी उम्र भी उस समय इसी बच्चे के समान थी।

एक बार मैंने देखा कि उसकी भाभी ने गर्म-गर्म चीमटा लाकर बच्चे के चेंटा दिया। लडका बिल-बिलाकर रो पडा। यह सब देखकर बच्चे को सवेदना मे मैं भी तिलमिला उठा, लेकिन मैं अबोध कर ही क्या सकता था। पर यह घटना मेरे मानस-पटल पर गहरी अकित हो गई, और बडे होने पर भी मैं इस घटना को विस्मृत नही कर पाया।

इसी घटना का विस्फोट मेरी किशोरावस्था में भाभी के साथ उस कटु व्यवहार के रूप में हुआ।

यह है करतूत इम 'सब-काशस माइण्ड' की।

१ ०) रुपयो मे से कटौती नही करूँगा। एक समय आयेगा जब मेरे पास पैसा होगा, लेकिन भइया न रहेगे—तब मेरे पश्चाताप का ठिकाना न रहेगा। मैं इनका ऋणि हूं, मुझे ऋण चुकाना है। इनका ऋण केवल मेरे ऊपर ही नही है, तुम्हारे ऊपर भी है। ये तुम्हारे सुहाग के दाता है। अगर ये मुझे होशगाबाद से खोजकर घर वापिस न ले आते, तो न जाने आज तुम्हारी क्या हालत होती। दूसरी बात यह है,' मैंने हँसते हुए आगे कहा, 'कुछ गलती तुम्हारे पिताजी भी कर बैठे! एक बालक के साथ अपनी लडकी ब्याह दी। सगाई के समय तो यह बालक सिर्फ छठवी कक्षा में ही पढता था। इस पर पितृ-हीन, घर-हीन, धन-हीन भी था। आखिर उन्होने देखा तो क्या देखा ?'

मेरी पत्नी ने बनावटी गुस्मा दिखाते हुए कहा, 'तुम्हारी ऐसी बातें मुझे अच्छी नही लगती। मेरे पिता ने जो देखा था, वह नजर के सामने प्रत्यक्ष है। फिर इसे उनकी गलती कैसे मान लूँ!'

इसके बाद उसने हँसकर फिर कहा, 'देखो जी, मैं तुम्हारे पथ मे न कभी बाधक बनी हूँ, और न कभी बनूँगी। मुझे तो मेरी माँ की बात याद है, और सदा रहेगी। मेरे मुकलावे के समय मेरी माँ ने कहा था कि बेटी, कुँवरजी बिना माँ-बाप के है—कभी कोई चीज मॉग न बैठना। वही मत्र मेरे जीवन मे आज तक काम करता रहा है, और करता रहेगा। वह २५) वाली बात तो मैंने योही भविष्य की चिन्ता मे कह दी थी, लेकिन जब आपकी इस प्रकार की निष्ठा है, तो इसका फल भी मिलकर ही रहेगा। तब आनन्द भोग लेंगे, लेकिन आज भी मुझे कम आनन्द नही है। आपकी सद् कमाई की इन कट-पीसवाली साडियो में जो आनन्द मिलता है, वह दिव्य आनन्द कितनो को नसीब होता है ? यह तो प्रभु की ही कृपा है। मुझे नमक से रोटी खा लेना स्वीकार है, लेकिन अन्य प्रकार से न सोना-चाँदी चाहिए, और न रेशमी जरीदार साडियाँ।'

मेरी पत्नी को गीता और रामायण पढने का शौक बचपन से ही था। गीता बहुत शुद्ध बाँच लेती थी। जब कभी मैं गीता पढते-पढते अटक जाता या अशुद्ध बोल जाता, तो यह चुप हो जाती, न कभी मुस्कराती और न सुधारने की कोशिश ही करती। मै अगर कहता कि मैं अशुद्ध बोला करूँ तो तुम ठीक कर दिया करो, तो हल्की-सी मुस्कराहट जरूर मुँह पर खेल जाती। लेकिन तब भी चुप ही रहती।

मेरी स्त्री हमारे अधूरे और पूरे-पूरे पुत्रो के गुजर जाने पर भी कभी खिन्न-मना या सतप्त नही दिखाई पडी। इससे हमारा जीवन बडी ही शान्ति से व्यतीत

हुआ। सहिष्णुता की तो मूर्ति ही थी वह। अन्तिम काल में पीडा-ग्रस्त रही, लेकिन धीरज से सब सहती चली गई। अन्त समय तक उसके धीरज ने साथ न छोडा। मृत्यु के समय उसकी आयु ६३ साल की थी। तब तक सासारिक सुख सभी उपलब्ध हो चुके थे। ईश्वर की कृपा से सर्व-सम्पन्न घर को छोडकर परम-धाम गई। उसकी स्मृति ही मेरे जीवन का आधार बनी हुई है। मेरे जीवन में मेरे आत्मिक बल की वही प्रधान स्रोत थी। इसका एक उदाहरण और उल्लेख्य है।

एक दिन मैंने धवडे (कुलियो के रहने का मकान) से मक्का मँगाई। जब मेरी पत्नी ने मुझे वह भूँजकर दी, तो मैं खाने लगा, और साथ-साथ मैंने उससे भी खाने को कहा। उसने कहा कि वह तो कुलियो-मजदूरो की मकई नही खायेगी, क्योकि मकई उन्होने अपने लिए उगाई है, न कि हमारे लिए। वह उनकी चीज मुफ्त में कैसे खाये! उसकी बात ने मेरी आँखें खोल दी। मुझे तो अपनी ईमानदारी का अब तक झूठा ही गर्व बना हुआ था। मैंने तुरन्त उस मजदूर को बुलवाया, जिससे मकई मँगवाई थी, और उसे मकई के पूर पैसे दे दिये।

आज वह नही है, लेकिन उसकी मधुर स्मृति आज भी बनी हुई है, और जीवन को पावन बनाये रखने मे समर्थ है।

बाई भगवती की शादी के सन्दर्भ मे

०

हम पहले कह आये है कि हमारा पहला लडका सन् १९२७ मे चूरू में हुआ था और १-१॥ मास का होकर जाता रहा था। भइया का विचार था कि अब की बार जापा जैरामपुर में ही कराया जायेगा, और ऐसा अवसर आने पर उन्हे सूचना देने का भी मुझे आदेश हो गया था। सन् १९३० की फरवरी के आस-पास उनको सूचना दे दी गई। भाभी तथा मोतीलाल को साथ लेकर भइया अप्रैल मास मे जैरामपुर पहुँच गये। यथासमय लडका हुआ, लेकिन थोडे दिन बाद ही बीमार पड गया और चार-पॉच महीने का होकर गुजर गया। सबको कष्ट होना ही था।

मेरी लडकी ८ साल की हो चुकी थी। भइया को अभी से इसकी शादी की फिक्र होने लगी। मैं कहता कि इतनी जल्दी करने की क्या जरूरत है? तो वे कहते, 'तुम नही समझते, अभी से लडका तलाश करेंगे, तब कही साल दो साल में लडके का फैसला हो सकेगा। फिर सगाई होने के बाद शादी होने मे भी देरी लग ही जाती है। १३-१४ साल में तो विवाह कर ही देना होगा।'

इस लडकी की शादी भइया ही करेंगे, यह तो निश्चित था ही। मेरे पास तो रुपया था नही—मैंने रुपया बचाया ही नही था। भइया को तो इस बात का पूरा विश्वास था, किन्तु स्त्री होने के कारण मेरी भाभी के यह बात जल्दी से गले न उतर पायी। कारण, जिसके हाथ में इतना बडा काम हो, कर्त्ता स्वतत्र

खुद-मुखत्यार हो, और मालिक देखें तक नही, जो चाहे सो करे—वह थोडा-बहुत हाथ रँगे विना रह ही कैसे सकता है ? ऐसी धारणाओ का बन जाना स्वाभाविक ही है, क्योकि आम तौर पर यही होता आया है। इसलिये हमारी भाभी को शक बना रहता कि मैं ऊपर की कमाई को तो अपने पास रख लेता हूँ, और जो १००) माहवारी भेजता हूँ सो लडकी के शादी-मुकलावे मे निकलवा लूँगा, और इस तरह लेना-देना बराबर हो जायेगा। मैं भला भी बना रहूँगा, शादी मुफ्त में हो जायेगी, और पास का पैसा मेरे पास ही रह जायेगा। ऐसा विचार उनके माथे मे अगर काम कर रहा हो, तो मुझे कुछ अचम्भा नही।

आखिर एक दिन भाभी के मुख से निकल ही पडा, 'बडो की सेवा करना मखौल थोडा ही है !'

मैं कुछ सहम गया और चुप हो गया। रात भर सोचता रहा कि भाभी के मुँह से ये शब्द निकले, तो कैसे निकले ? जब मे ये लोग यहाँ आये है, मैं अपने वेतन के पूरे १७५) लाकर भाभी के हाथ में रख देता हूँ। घर-खर्च से या किसी भी और खर्च से मैं कोई मतलब नही रखता। खाकी ट्विल की ५-६ कमीजें और ४-५ धोती जोडे में मेरा साल भर का काम चल जाता। कोट वगैरह की मुझे जरूरत पडती ही नही थी। खदान और ऑफिस—यही मेरी जीवनचर्या के दो स्थान थे। बडे-बडे ऑफिसरो से मिलने की जरूरत पडती, तब भी मैं इसी ड्रेस में चला जाता। मेरी स्त्री भी कट-पीस की साडियो मे मस्त थी। बारह-चौदह आने फी पीस के लगते और हम मौज करते। इसीलिए भाभी की बात सुनकर मेरे हृदय को बडी ठेस लगी।

दूसरे दिन मैं भइया को एकान्त में ले गया और भाभी के पिछले दिन के रिमार्क का अर्थ उनसे समझना चाहा।

उन्होने मुझे समझाने की कोशिश तो बहुत की, लेकिन सफल न हो पाये। तब वे बोले, 'हमारे पास से भी इतने दिनो में सात-आठ सौ रुपये खर्च हो गये !'

सुनकर मुझे बडा आश्चर्य हुआ। क्योकि वह जमाना बडी ही सस्तीवाडी का था और हमारे घर मे गेहूँ, घी, चीनी, साग, दाल, और थोडे फलो का ही तो कुल खर्च था।

भइया ने हिसाब की कापी मेरे हाथ मे पकडा दी, और कहा, 'देख लेना।'

मैंने कापी उनको तुरन्त लौटा दी और कहा, 'आपके हिसाब की कापी देखनेवाला मैं कौन होता हूँ ? मैं तो आपका दास हूँ, लेकिन मेरे ऊपर से आप लोगो का विश्वास हट रहा है, यह मुझे असह्य है।'

वे चुप रहे। तब मैं समझ गया कि वे बेवस है।

फिर १-२ दिन बाद ही उन्होंने जाने का प्रस्ताव कर दिया। रोकने का तो वातावरण ही नही रहा था। उनके जाने के दिन यानी ६ दिसम्बर १९३० को मैंने चालू मास के पूरे १७५) और आगामी मास के २५) उठाकर कुल २००) विदा के समय उनको दे दिये। मेरी स्त्री भी उनके साथ चली गई—वह गर्भवती थी।

ये लोग पहले सीधे अजमेर गये। वहाँ से मेरी स्त्री तो अपने पीहर चली गई, और भइया अपने बडे साढू के यहाँ थोडे दिन रहकर और अपनी पोती की—जो ९-१० साल की रही होगी—सगाई करके चूरू चले गये।

जीवन मे अब फिर एक नया मोड आ धमका, जिसकी स्वप्न में भी आशका न थी। एक साथ तीन-चार समस्याओ ने आ घर दबाया, जिनमें लडकी की सगाई और शादी के लिए रकम की व्यवस्था प्रमुख थी। मासिक १००) जो भइया को भेजता था, वह बन्द कर दूँ, या जारी रखूँ? मेरा हमेशा यही खयाल रहा कि भइया जब मौजूद है, तो मुझे कैसी फिक्र? लेकिन वह बात तो अब रही नही। भइया तो रुष्ट होकर चले गये थे। मेरे जीवन मे यह पहला ही अवसर था कि भइया मुझसे रुष्ट हुए थे। लेकिन मैं यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक समझता हूँ कि भइया सचमुच भीतर से रुष्ट नहीं हुए थे। वे तो सारी बात जानते ही थे कि मेरा इसमे जरा भी दोष नही था। दूसरी ओर मैं भी यह महसूस कर रहा था कि इन लोगो का भी इसमे कोई कसूर नही था। इस उम्र मे हमारे भाई का पुरुषार्थ थक चला था। आशकायें सभी को होती है, और स्वभावत स्त्री जाति इसका ज्यादा शिकार बनती है।

मैंने सोचा, यदि रुपया देता चला गया, तो शादी के लिये मेरे पास रुपया कहाँ से आयेगा? भइया भी कह ही गये थे कि मुझे शादी के लिये रुपया इकट्ठा करते रहना चाहिए। उनका आदेश साफ था कि वे रुपये नही देंगे। भइया का आदेश मानकर मैंने उन्हें रुपये भेजना बन्द कर दिया और अपने पास जोडना शुरू कर दिया। शादी में कितना रुपया लगेगा, इसका मुझे कोई अंदाज नही था—मेरा कभी काम ही नही पडा था।

सन् १९३१ में पूरे वर्ष मैं अकेला ही रहा। २४-२५) मासिक अपने ऊपर खर्च करता, और १५०) बचा लेता। एक मेरा बाबू था—शिवप्रसाद नाम का। वह खाना बना लेता, और हम दोनो खा लेते। इस तरह मैं सावधानी से रुपये बचाता चला गया।

वे चिर-स्मरणीय दिन

०

अजमेर मे १८ जून १९३१ के दिन मेरी पत्नी से मिथिलेश का जन्म हुआ। मैं इन्हें लेने के लिये नवम्बर में अजमेर गया। फिर वहाँ से इन्हें साथ लेकर चूरू चला गया और वहाँ करीब १ मास रहा।

भइया के साथ बीता हुआ यह एक महीना मेरे जीवन मे चिर-स्मरणीय रहेगा।

हम लोग भोर में उठते। मैं, भइया और मोतीलाल दूर टीबो मे चले जाते—निबटने के लिये। वहाँ से नजदीकवाली बगीची में दाँतन-मजन करके स्नान करते।

वापस घर पहुँचते-पहुँचते करीब नौ बज जाते। रसोई चढी हुई मिलती। हम तीनो ही जीमने बैठ जाते। रसोई बनती जाती और हम लोग खाते जाते। इस प्रकार करीब २ घटे लग जाते।

जब खाकर उठते तब भइया का 'रिमार्क' होता, 'निरजन, तू है पेटू!'

मैं तुरन्त ही उत्तर देता, 'देख भाभी, देख, पहले तो जोर दे-देकर खुद ही खिला देते है, और फिर मुझे पेटू कहते है!'

उस समय उनके मुख की हँसी देखते ही बनती—मानो प्रेम-रस से भरा कमल खिल गया हो।

शाम को भी खाने का सिलसिला ७ बजे ही चालू हो जाता, और काफी देर तक चलता रहता। सर्दी का मौसम था। गर्म-गर्म बडे बनते जाते, और हम लोग खाते जाते।

कभी-कभी साँझ को भइया का एलान होता कि वे खाना नही खायेंगे। इस पर भाभी कहती, 'अभी तो सात ही बजे है, सर्दी की रात है, निवटलो, फिर देख लेंगे। कई साग बने है, थाली पर बैठ जाना, अच्छे लगें, तो थोडा-बहुत खा लेना, वरना कोई बात नही। लल्लूजी भी साथ ही बैठ जायेंगे।'

हम दोनो ही निवृत्त होते, फिर अपने-अपने आसन पर बैठ जाते और भोजन करते। भाभी परोसने बैठती। मेरी थाली तो सामान्यतया आ जाती, रही भइया की थाली, सो भाभी कहती, 'देखोजी, मैं आपको थोडी-थोडी चीजें परोसे देती हूँ, अच्छी लगें तो और ले लेना। और नही रुचें, तो छोड देना।'

भइया कहते, 'मुझे तो भूख नही, यह सब तुम्हारी चकल्लसबाजी है। खैर, देखो, एक कौर बत्तीस दफा चबाऊँगा, तुम गिनती करती रहना।'

भइया आँखें मूँद लेते और खाना शुरू कर देते।

भाभी पूडी के टुकडे कर-करके थाली मे रखती जाती। जो साग कमती हो जाते, उनको और परस देती।

भइया कभी आँखें खोलकर देखते तो कहते, 'अरे, अभी आधी पूडी भी खतम नही हुई ?'

भाभी कहती, '३२ दफा एक ग्रास चबाया जाये, तो फिर पूडी खत्म हो कैसे ? खैर, जल्दी भी क्या है, आप धीरे-धीरे जीमिये। बताइये, कौन-सा साग दे दूँ ? जो अच्छा लगा हो, सो थोडा-सा दे दूँ।'

भइया कहते, 'नही, नही, साग तो सभी अच्छे बने है, लेकिन भूख होगी उतना ही तो खा सकूँगा। तुम्हारी जबर्दस्ती तो चलने से रही।'

भाभी कहती, 'यह लो, यहाँ जबर्दस्ती की बात ही कहाँ उठती है ? सब कुछ आपकी ही मर्जी पर तो छोडा हुआ है। अच्छा तो, आधी पूडी और दे दूँ ?'

इस प्रकार बात-चीत होती रहती, और भइया आँखें बन्द किये ही खाते जाते। हम लोग मुस्कराते रहते। बडा मजा आता।

भोजन समाप्त करके उठते तो भइया कहते, 'लखमा की चाची, सुनो, अब तो ऐसा मालूम होता है मानो चिराग मे तेल दे दिया हो।'

भाभी उत्तर देती, 'आपको भूख का तो पता चलता नही, खाली पेट भी आपको भरा-सा मालूम पडने लगता है। इसीलिये भोजन करने के लिए मना कर दिया करते हो।'

साँझ-सवेरे अक्सर ही इस प्रकार के प्रकरणो की पुनरावृत्ति होती रहती, और हम सब मजा लेते रहते। इस बात का जिक्र तो आज भी, जब हम लोग बैठ जाते है और भइया की बातो का प्रसग छिड जाता है, होता रहता है।

एक दिन की बात है। भाभी ने मेरे हाथ दूध भेजा और मैंने भइया को पिला दिया। कुछ देर बाद उनकी आवाज आई, 'अरे, दूध दे दो, तो मैं सो जाऊँ।'

मैं उठकर उनके पास गया और बोला, 'मैं आपको अभी तो दूध पिलाकर गया हूँ—खाली प्याला पलँग के नीचे ही तो रखा हुआ है।'

भइया ने प्याला देख लिया तो उन्हें सतोप हो गया, और वे कुल्ले करके सो गये।

बात यह है कि भइया को पढने का बहुत शौक था, और वे हरदम चिन्तन-मनन करते रहते थे, इसलिए अक्सर खाने-पीने की बात भूल जाया करते थे।

जब भइया आँगन में बैठे होते, और बहुओ को निकलना होता, तो भाभी कहती, 'अजी, पीठ मोडलो, बहुएँ निकलेंगी।'

भइया कहते, 'ठीक है, मैंने आँखें भीच ली है, उनको निकल जाने दो।'

मर्यादित दूरी की महिमा

०

दोपहर मे भइया खाना खाकर बेठक मे चले आते और फिर हम लोगो मे किसी-न-किसी विषय पर चर्चा छिड जाती।

एक दिन मै पूछ बैठा, 'भाईसाहब, आप आँगन मे बैठे हो, उस समय अगर बहुएँ आँगन में आयें, तो घूँघट से ही आती है, लेकिन आपको भी घूँघट करना पडे, तो यह बात समझ मे कम आती है। ये तो सभी आपकी बेटी के समान हे। एक ओर तो पर्दा रहता ही है, फिर आपको पर्दे की क्या आवश्यकता है ?'

भइया ने उत्तर दिया, 'देखो, इसका उत्तर उतना सरल नही, जितना तुम समझते हो। यह प्रश्न केवल मेरा और मेरी बहुओ का ही तो नही है, अगर यही तक सीमित होता, तो इसमें कभी का परिवर्तन आ गया होता। यह प्रश्न है उस रीति-रिवाज का, जो आज प्रचलित है। इसमें परिवर्तन लाने के पहले देखना होगा कि ऐसी रीतियाँ कब से चालू हुई, और किस लक्ष्य को लेकर ये प्रचलित हुई।'

'इस प्रकार के सामाजिक रीति-रिवाज समाज के दो-चार मुखियो द्वारा नही थोपे जाते, और न जा सकते है। समयानुसार और आवश्यकतानुसार ये रीति-रिवाज चालू होते है, धीरे-धीरे पल्लवित होते है और फिर दृढता से इनका पालन होने लगता है। जो इनका पालन करते है, वे समाज में आदरणीय समझे जाते

हैं। इनको ठुकरानेवालों की निन्दा होती है और वे हेय दृष्टि से देखे जाते हैं।

'यही बात पर्दे के साथ लागू होती है। हम यह मानने को तैयार नहीं कि पर्दा सदा से ही चला आ रहा है। यह जानना जरूरी है कि पर्दा-प्रथा अपनाने की आवश्यकता कब हुई, पहले-पहल पर्दे का क्या रूप रहा, और अब क्या रूप हो चला है, आज इसमें और क्या-क्या परिवर्तन होने चाहिएँ, हमारे परिवर्तन न करने पर भी स्वत ही क्या-क्या परिवर्तन हो जायेंगे—इन सब बातों पर ठंडे दिमाग से विचार करें, तब कहीं हम किसी खास निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं, अन्यथा नही।

'पर्दा करने का मतलब है, किसी भी चीज को गोपनीय अवस्था में रखना, यानी दूसरे की खराब नीयत से बचाकर रखना, ताकि उस चीज को देखकर देखनेवाले का मन अपनी धुरी से भाग न निकले, विचलित न हो जाये, मन अपनी सयत अवस्था में बना रहे और लोभायमान वस्तु की रक्षा होती चली जाये। इसीलिए समाज ने 'मर्यादित दूरी' नियत करदी ताकि समाज का कार्य सुचारु रूप से सम्पादित भी होता चला जाय, और समाज में सयतता भी बनी रहे।

'हम फूल की मिसाल लेकर अपने इस दृष्टिकोण को समझने की कोशिश करेंगे। आप बगीचे में चले गये। हवा के परो पर सवार किसी दिशा से सुगन्ध आ रही थी—उसी रास्ते हो लिये, और फूलों की क्यारियो तक जा पहुँचे। वहाँ आप इतनी दूरी पर खडे होकर फूल को देखते रहे कि आपकी साँस का गर्म भाप फूल को छूने न पाये, तो हम इस दूरी को 'मर्यादित दूरी' कहेंगे। अंग्रेजी मे इसे कहते हैं—'रेस्पेक्टफुल डिस्टेंस'। लेकिन अगर आपसे लोभ सवरण न हो पाये, और आप धीरे-धीरे फूल तक पहुँच जाते हैं और झट् फूल को तोडकर सूँघना शुरू कर देते है, तो थोडी देर में ही यह कोमल फूल आपके साँस की गर्म भाप मे सीजने लगता है और छटपटाकर गर्दन नीचे डाल देता है, और मुर्झा जाता है—बस, सुगन्ध काफूर हो जाती है। इसे हम मर्यादित दूरी का व्यतिक्रम कहेंगे। अब अगर आपने फूल को दोनो हथेलियो के बीच ले लिया, तो आपके हाथ की गर्मी उस कोमल फूल की पखडियो को झुलसा-कुम्हला देगी। यह दूसरी तरह का व्यतिक्रम हुआ उस मर्यादित दूरी का। तीसरा व्यतिक्रम वह होगा जब आप फूल को हथेलियो के बीच मसलकर सुगधमय रस को एक-बारगी ही पान करने की कोशिश करें, तो दुर्गन्ध ही हाथ में लगी पायेंगे। इस मर्यादित दूरी को ठुकराने का यही अनिवार्य दुष्परिणाम होता है। समाज में इसी मर्यादित दूरी को पर्दा कहते है।

'इस मर्यादित दूरी की जितनी रक्षा होगी, समाज उतना ही स्वस्थ, सबल, सुखी और सम्पन्न बना रहेगा। कारण यह कि संसार के जितने पदार्थ है वे एक या दो इन्द्रियो के ही विषय है, जबकि स्त्री-पुरुष के शारीरिक सम्बन्ध मे प्राय समस्त इन्द्रियो का समावेश हो जाता है, जिसके परिणाम भयानक होते है। इसलिए इन दोनो के बीच में इस मर्यादित दूरी का सरक्षण अनिवार्य है।

'लेकिन यह समझना गलत है कि केवल घूँघट, ओढना इत्यादि ही पर्दा है। भिन्न-भिन्न देशों की भिन्न-भिन्न जातियो में उनके देश-कालानुसार भिन्न-भिन्न प्रकार के पर्दे का रूप नजर आता है। उत्तर प्रदेश और राजस्थान मे ब्राह्मण और वैश्यो मे केवल घूँघट प्रचलित है, जबकि क्षत्रियो में पूर्णरूपेण पर्दा—उनकी स्त्रियाँ बाहर आती ही नही, और आती भी है तो कनात तानकर। बिहार मे, और खासकर वहाँ के शूद्रो में घूँघट का प्रचलन बिलकुल नही है—उनमे बडो से नही बोलना ही पर्दा है। लेकिन यह पर्दा भी उतना ही काम देता है जितना कि घूँघट। इसी तरह बोलना, लेकिन नजर नीची रहे, आँखें आँखो को देखने न पायें, यह भी पर्दे की मर्यादित दूरी का ही एक रूप है।

'रामायण-काल मे भी यह आँख का पर्दा ही विशेष देखने में आता है। राम-लक्ष्मण-सीता एक साथ चले जा रहे है। सीता और लक्ष्मण के बीच बातचीत होती है, लेकिन दोनो की आँखें कभी नही मिलती। सीता-हरण के पश्चात् जब राम लक्ष्मण को सीता के कर्ण-फूल दिखाकर पूछते है, तो लक्ष्मण उत्तर देते है—मैंने तो कभी सीता के मुख को देखा ही नही। चरणो के जेवर होते तो मैं पहचान जाता, क्योकि मेरी दृष्टि चरणो तक ही मर्यादित थी।

'कालिदास के काव्यो के अध्ययन से भी यही पता चलता है कि उस काल में भी आज जैसा घूँघट का पर्दा न था।'

मैं जिज्ञासावश बीच में ही बोल उठा, 'तो भाईसाहब, आज का सा रूप लिये हुए यह पर्दा कब से और कहाँ से आ टपका ?'

भइया फिर कहने लगे, 'यह पर्दा हम लोगो में कब से प्रचलित हुआ, इस बारे में इतिहास तो मूक है, लेकिन ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि मुसलमानो के आने पर ही यह घूँघट का पर्दा हमारे अन्दर घर कर गया। मुसलमानी देशो मे बुर्के का बहुत कठोर रिवाज है। जब यह लोग यहाँ आये, तो इनके साथ बुर्का भी आया। यह एक सर्वविदित तथ्य है कि शासित शासक के गुण व अवगुण दोनो को सहज ही ग्रहण कर लेता है। शासित शासक को विशेष गुणो का धनी मान बैठता है। जब अँग्रेज आये, और चूँकि उनमे पर्दा

लेकिन जिस वक्त इनको भोथरा बना दिया जाता है, तो प्याज और लहसुन में पके हुए माँस की गंध आमिषी के मुँह में पानी ले आती है, जबकि निरामिषी के मिचली पैदा कर देती है। इन्द्रियो के क्रीतदास बनने पर भले-बुरे का ज्ञान नहीं रहता। निरामिष-भोजी गाय के मुँह पर अपना मुँह रखकर उसमें से निकलनेवाली एक प्रकार की सौरभ को सूँघकर मुग्ध हो उठता है, जबकि आमिष-भोजी की दृष्टि उसी गाय के माँस की तरफ जाती है।

'एक समय था, जब हमारे यहाँ की देवियाँ पर-पुरुष के स्पर्श तक को सहन नहीं कर पाती थीं। अज्ञातवश अगर इनका पल्ला किसी पर-पुरुष से छू जाता, तो ये पसीने में नहा जाती थीं और पर-पुरुष की लोलुप दृष्टि से झुलस जाती थीं। इनको पर-पुरुष की अजगर-रूपी आँख का आकर्षण असह्य था। ये जानती थीं कि यह अजगर की दृष्टि है जो हमको समूल नष्ट किये विना नही रहेगी। जब मुसलमान बादशाह अलाउद्दीन खिलजी ने चित्तौडगढ की राज-महिषियो के ऊपर अपनी अजगर-रूपी दृष्टि डाली तो वे झुलस उठी और अपनी इस झुलस को शान्त करने के लिए उन्होने जौहर की शीतल प्रतीत होनेवाली अग्नि का आलिंगन कर लिया। सतीत्व की रक्षा करने मे इन्द्रियो का दमन और दूरी मर्यादित का पालन करना अनिवार्य है।

'लेकिन आज भौतिकवादी पाश्चात्य सभ्यता के अन्धानुकरण पर हमारे युवक-युवतियाँ कहाँ चले जा रहे है, इसका पता इस बात से चलता है कि जब कभी कोई विदेश-भ्रमण से लौटता है, तो उससे एक बात यह भी पूछी जाती है कि क्या उसने पेरिस के नाइट-क्लबो में यौन का नग्न ताडव-नृत्य देखा था ? हमारे लज्जाशील युवक इसके उत्तर को चबा जाते हैं, लेकिन उच्छृङ्खल तो यहाँ तक कह बैठते है कि ये नृत्य-घर तो उस जाति को शक्ति देने मे पावर-हाउस का काम करते हैं। अगर इन चीजो मे दोष होता, तो वह जाति कभी की नेस्त-नाबूद हो गयी होती। 'लेकिन वह जाति अभी तक क्यो जीवित है, यह उनको पता नही है। उस जाति के अन्दर रोमा रोलाँ जैसे प्रकाण्ड फिलॉस्फर पैदा होते रहे है और बडे-बडे जनरल भी, फिर भी फ्रास ने दोनो महायुद्धो में भारी मार खायी। पहले महायुद्ध में जर्मनी की एक नर्त्तकी ने जाकर अपने जाल में वहाँ के बडे-बडे जनरलो को फँसा लिया और उनका भेद लेकर अपने देश में पहुँचा दिया। फलस्वरूप यह जाति जर्मनो द्वारा पराजित हुई। भिन्न-भिन्न मुल्को के बडे-बडे ऐय्याश बादशाह ठोकरें मारकर अपने सिंहासन से हटा दिये गये। अगर दुर्योधन की कुदृष्टि द्रौपदी पर न पडती, तो शायद महाभारत होता ही नही। कौरव वश कामाग्नि में ग्रस्त होने के कारण ही नष्ट हुआ।

'हमारे देश में नई रोशनी के शिकार युवक कितने अधोगति मे वहते चले जा रहे है, इसका प्रमाण यह है कि जव दो मित्र अपनी-अपनी पत्नी के साथ एक ही कार में सैर करने निकलते है, तो एक-दूसरे की पत्नी के साथ बैठते हैं। रास्ते में हर मोड पर गाडी के मुडते समय यह मित्र-पत्नियाँ फुटवाल की तरह अपने पति के मित्र की ओर लुढकती रहती है। इसीको ये आधुनिक सभ्यता कहते है।

'यो एक समय हमारे यहाँ भी वाम-मार्ग ने कम अनाचार की सृष्टि नही की थी। भारतवर्ष के कई प्रदेशो में इसका काफी दौर-दौरा रहा, जैसे वगाल, आसाम, उत्कल, दक्षिण भारत, गुजरात, राजस्थान आदि, यानी यह वाम-मार्ग खासकर वहाँ ज्यादा तेजी से फैला जहाँ के लोग मद-माँस-भक्षी थे। 'लोकायन' जैसे ग्रन्थ लिखकर वाम-मार्ग की पुष्टि की गई और उपनिषद् जैसे शास्त्रो की निन्दा की गई। फिर धीरे-धीरे वास्तु-कला में जाकर इसने अपना घर कर लिया, जिसका परिणाम यह हुआ कि जगन्नाथ और कोणार्क मन्दिरो के गुम्वज पर वडी ही अश्लील मूर्तियाँ गढकर लगा दी गई और पत्थर की दीवारो पर हजारो की सख्या में अश्लील-से-अश्लील मूर्तियाँ खोद दी गई जो आज तक मौजूद है। इसी प्रकार की मूर्तियाँ नासिक, आवू और दक्षिण भारत के मन्दिरो मे भी पायी जाती है। मन्दिर के पुजारी और पडे कह देते है कि मन्दिर मे प्रवेश करने के अधिकारी केवल वही लोग है जिनका मन इन मूर्तियो के दर्शन करने पर भी चलायमान नही होता, लेकिन इससे यह तो सिद्ध हो ही जाता है कि मूर्तियाँ मन को चलायमान करने के लिये ही वनाई गई है। स्त्री-पुरुष जव इन्हें एक-साथ देखते है, तो उन पर वहुत वुरा असर पडता है।

'आज हमारे समाज की वनावट में एक विचित्र विरोधाभास है। हम अपने समाज का ताना तो प्राचीन रखना चाहते है, और वाना चाहते है आधुनिक। यानी हमारे सस्कार और मूलभूत स्थापनाएँ तो हमारी प्राचीन भारतीय सस्कृति के अनुरूप है, लेकिन रहन-सहन, खान-पान और पोशाक में हम आधुनिकता वरतना चाहते है, ताने और वाने की इस रस्सा-कशी में पता नही अन्तिम जीत किसकी होती है। आज आधुनिकता की धूम मची हुई है, लेकिन दुर्भाग्य-वश इस आधुनिकता का सही रूप आज तक कोई भी माई का लाल निर्धारित नही कर पाया हैं। एक कहता है कि तुम कोई भी नई चाल चल लो, नये ढंग की टोपी पहन लो, पैर के वल न चलकर सर के वल चलना शुरू कर दो, तो यह सव आधुनिकता में शुमार कर दिये जायेंगे।

'यानी सक्षेप में, पाश्चात्य देश की चाल ही भारत में आधुनिकता समझी

जाती है—दूसरे शब्दो में विदेश की नकल, यानी जूठन। वहाँ स्त्री-पुरुष सीने-से-मीना मिलाकर नाच करते है, तो यहाँ भी वैसा करनेवाले ही आधुनिक समझे जाते हे। आधुनिकता शब्द में तो वह ताकत है कि कुछ भी करते जाइये, लेकिन इसकी दुहाई देते जाइये—फिर कुछ दोप न लगेगा। यानी कुछ स्वच्छन्दता और उच्छृङ्खलता का मिला-जुला ताडव-नृत्य ही आधुनिकता माना जाता है।

'आज हमारे नर-नारी दूसरे देशो की जूठन खा-खाकर अध गति को प्राप्त हो रहे है। लेकिन दूसरी ओर, इनके सस्कार वही पुराने है, यानी ये अपना ताना वदल नही पाते, यानी हमारे समाज मे हिन्दू सस्कृति का ताना अभी तक मजवूत वना हुआ है। लेकिन जव तक यह विरोध वना रहेगा, और जव तक ताने एव वाने में सामजस्य की स्थापना नही होगी, तव तक हमारा समाज एक आदर्श समाज नही वन सकता। और ताने एव वाने के इस सामजस्य का एकमात्र उपाय हे 'मर्यादित दूरी' का पालन। मर्यादित दूरी ही आज इस तथाकथित आधुनिकता के विनाशकारी प्रभाव से हमारी रक्षा कर सकती है।'

बाई भगवती का विवाह

०

चूरू में भइया के सान्निध्य में दीपमालिका के पर्व को मनाकर जब मैं सकुटुम्ब जैरामपुर के लिए विदा हो रहा था, तो भइया अधीर हो उठे। अधीरता उनकी आँखो में झलक आई—मेरी आँखो में भी प्रतिक्रिया हुए बिना कैसे रहती। भारी मन से भइया का चरण-स्पर्श कर मैं घर मे चल पडा।

यहाँ एक बात कह देना आवश्यक समझता हूँ कि हमारे यहाँ ही क्या, पूरे हिन्दू-समाज में विधवा को शुभ-कार्य मे सामने नही लेते। मैं इस रिवाज को बहुत ही हेय-दृष्टि से देखता हूँ। मैं यात्रा पर जाते समय पहले सभी बडो के चरण-स्पर्श कर लेता और आखिर में विधवा भाभी (यानी मेरे स्व० भाई अनन्तरामजी की पत्नी) के चरण-स्पर्श करके ही रवाना होता, और मुझे इस बात की खुशी है कि मेरी मुसाफिरी सदा शुभ रही।

सन् १९३२ का वर्ष बिना किसी विशेष घटना के ही बीत गया।

मेरी लडकी भगवती करीब ११ वर्ष की हो चली थी। मेरी स्त्री को उसकी सगाई की बडी चिन्ता रहती। मेरी जान-पहचानवालो का दायरा बहुत ही सकीर्ण था। एक-दो से मैंने जिक्र भी किया। चुभता हुआ ही उत्तर मिला। उस समय मुझे अपनी लाचारी का अनुमान हुआ और जिन्दगी में पहली बार मैंने अनुभव किया कि गरीबी भी कितनी अपमानजनक वस्तु है!

लेकिन इस अनुभव ने मेरा उपकार ही किया। ज्यादा पैसा कैसे अर्जित करूँ, पहली बार मन मे यह प्रश्न उठ खडा हुआ। इस नौकरी मे मालिक तो कुछ बढाते दीखते नही। अगर माँग बैठा, और उत्तर 'ना' में मिला, तो और अधिक दु ख ही होगा। तो फिर इस नौकरी को छोड दूँ ? लेकिन छोडकर जाऊँ, तो कहाँ जाऊँ ? कलकत्ता में तो पहले ही कटु अनुभव हो चुका है। तो फिर क्या करूँ ?

इस प्रकार मेरे मन मे सकल्प-विकल्प होते रहते। अब मुझे अपनी लडकी दिन-दिन और अधिक प्यारी लगने लगी, और मेरी चिन्ता उग्रतर होने लगी। एक लडकी के धनहीन पिता को क्या तकलीफ होती है, मुझे तो तभी पहली बार अनुभव हुआ था।

इस तरह मैं चिन्ता-मग्न ही रहता। काम अपना करता ही था। मेरी स्त्री भी मुझसे कम चिन्तित नही थी, लेकिन उसे हरदम यह खयाल बना रहता था कि वह ऐसी कोई बात न कह दे, जो मेरी चिन्ता-रूपी अग्नि में आहुति का काम कर जाये। वह सदा धीरज ही बँधाती रहती।

ऐसी स्थिति में मेरे पास एक ही उपाय था, और वह था अमोघ। रोज रात्रि के समय 'ओकार' की रट लगाता। इस उपाय द्वारा मैं पहले भी कई खाइयो को पार कर चुका था।

उन्ही दिनो मेरा कलकत्ता जाना हो गया। मेरे पूज्य दीपचन्दजी पोद्दार (भाई किशनलालजी के पिताजी) अस्वस्थ हो गये थे। उनके दर्शन की बडी आकाक्षा थी। सो मैं कलकत्ता पहुँचा, और उनके यहाँ ठहरा। मैं जब कभी कलकत्ता जाता, उन्ही के घर पर ठहरता था।

मेरे कलकत्ता पहुँचने के बाद एक दिन पूज्य दीपचन्दजी बोले, 'मैंने सुना है, तुम्हारे एक लडकी है, और तुम्हें उसकी सगाई की बडी चिन्ता रहती है। तुमने तो पहले कभी इसका जिक्र ही नही किया। मुझे तो एक दिन किशनलाल के द्वारा इस बात का पता चला। अच्छा, बाई की उम्र क्या है ?'

मैंने कहा, 'यही ११ वर्ष की होगी।'

वे बोले, 'मैं १५-२० दिन में देवघर जाऊँगा। वहाँ एक लडका है। अगर वह तुम्हें पसन्द आ गया, तो बाकी सब बातें मैं ठीक कर दूँगा। तुम एक बार देवघर आ जाना।'

पूज्य दीपचन्दजी के प्रति मेरे मन मे जो अगाध श्रद्धा है, इसका कारण केवल यही नही है कि मैं उनका नौकर था, बल्कि इसका मुख्य कारण यह है कि वे

मुझे पुत्र की तरह स्नेह करते थे। उनके जीवन-पर्यन्त मेरे प्रति उनका वात्सल्य उसी तरह अक्षुण्ण बना रहा।

जब वे देवघर पहुँचे, तो मुझे सूचना दे दी गई और मैं भी वहाँ पहुँच गया। लड़का मुझे दिखा दिया गया। मुझे वह बहुत पसन्द आया और मैंने अपनी स्वीकृति दे दी।

थोड़े दिन बाद लड़के के पिता अपने सम्बन्धियों के साथ मेरी लड़की को देखने जैरामपुर आए। लड़की उन्हें पसन्द आ गई। उनकी तरफ से नेग-चार भी कर दिये गये। हमारी तरफ से भी दस्तूर कर दिया गया। इस आशय की एक चिट्ठी मैंने भइया को पूना लिख दी। उनकी बड़ी प्रसन्नता भरी चिट्ठी आई, क्योंकि इस लड़के को उन्होंने स्वयं भी एक बार देवघर में देखा था, और इसके प्रति उनकी रुचि हो चली थी।

लड़का उसी साल मैट्रिक पास करके आगे पढ़ने के लिए कलकत्ता चला गया। जब वह सेकण्ड-ईयर में आया, तो इसकी तबियत खराब रहने लगी। कभी-कभी बुखार भी आ जाता। डॉक्टरों ने शिमला के नजदीक सोलन के सेनीटोरियम में भर्ती होने की सलाह दी, और वह वहाँ चला गया। वहाँ तीन-चार मास में ही पूर्ण स्वस्थ होकर वापस आ गया।

अब लड़के का मन पढ़ाई से विचलित हो चला और इसके पिताजी की भी इच्छा इसको कलकत्ते में अकेले छोड़ने की नहीं रही, इसलिए इसने अपनी दुकान के काम-काज की देख-भाल करनी शुरू कर दी।

लेकिन अब भी कभी-कभी इसकी तबियत खराब हो जाती। इसके पिता पुराने ख्यालात के व्यक्ति थे। उन्होंने ज्योतिषियों से सलाह की, तो उन्होंने भी इस सगाई के पक्ष में राय न दी, बल्कि यहाँ तक कह दिया कि इस लड़की से इसको सन्तान नहीं होगी। हमारे साहजी शंकित हो उठे, और उन्होंने एक पत्र मुझे लिख दिया कि उनका लड़का अभी अस्वस्थ है, इसलिए विवाह अभी नहीं हो सकेगा, और भविष्य ईश्वर की इच्छा पर निर्भर है। साफ नहीं लिखकर भी, उन्होंने संकेत द्वारा सम्बन्ध-विच्छेद करने का भाव दर्शा दिया था।

पत्र को पढ़कर मैं चिन्तित हुआ।

मेरी स्त्री उस समय अजमेर में अपने पिता के घर पर थी। मैंने वह पत्र उसको भेज दिया। उस पत्र को पढ़कर वह भी बड़ी उद्विग्न हुई, और मेरी लड़की भगवती के कान में भी यह बात पड़ गयी।

भगवती तमतमा उठी और कहने लगी, 'जिस लड़के को मेरे पिता ने एक बार मेरे लिए अंगीकार कर लिया है, और जिसके साथ मेरी सगाई कर दी गई है,

उसके साथ अब सम्बन्ध-विच्छेद की बात असम्भव है। आर्य-ललनाओ के साथ इस प्रकार का खिलवाड असहनीय है। यदि लडकेवालो ने जिद्द करके सम्बन्ध-विच्छेद कर दिया, तो मैं आजन्म कुँवारी ही रहूँगी। मेरे जीवन मे उस लडके को छोडकर अब दूसरा पुरुष आ ही नही सकता।'

यह बात सुनकर मेरी स्त्री पहले तो विशेष चिन्तित हुई, लेकिन फिर उसको यह सोचकर एक प्रकार की खुशी ही हुई कि शायद यह ईश्वरीय प्रेरणा का ही परिणाम है। जब लडकी का इतना दृढ निश्चय है, तो यह सम्बन्ध अवश्य ही कायम रहेगा। मेरी स्त्री ने इस आशय की एक चिट्ठी मुझे लिख दी।

उस पत्र को पाकर मैं कलकत्ता भाई किशनलालजी के पास गया, और वह पत्र उनको पढा दिया। उन्होने तुरन्त एक पत्र शाहजी महादेवलालजी को लिखा, और मुझे भी उनसे मिलने का आदेश दिया। मैं देवघर जाकर शाहजी से मिला। वे कहने लगे, 'मेरा लडका बीमार रहता है। आपकी बाई बडी हो चली है। आप कब तक प्रतीक्षा करते रहेंगे हमारे सम्बन्ध की?' इतना कहकर वे चुप हो गये।

मैंने अपनी स्त्री का वह पत्र उनको पढाया और कह दिया कि या तो यह सम्बन्ध होकर रहेगा, या मेरी लडकी आजन्म कुँवारी ही रहेगी। यदि आप कोई हर्ज न समझें, तो मुझे लडके से दो मिनट बात करने की छूट प्रदान करें।

लडका बुलाया गया और उसे थोडी दूरी पर ले जाकर मैंने उससे पहला प्रश्न किया, 'बताइये, आपके घरवाले जब आपको बीमार-बीमार कहते है, तो आपको अच्छा लगता है, या आपके हृदय मे इसके विपरीत प्रतिक्रिया होती है?'

लडके ने उत्तर दिया, 'मुझे उनकी बात बिलकुल पसन्द नही आती, लेकिन मैं लाचार हूँ।'

मैंने दूसरा प्रश्न किया, 'इस सम्बन्ध के बारे में आपके दिल में किसी तरह का भय या शका तो नही है?'

उसने बडे स्पष्ट शब्दो में कहा, 'न मुझे शका है, न किसी तरह का भय है, और मैं इस सम्बन्ध से बिलकुल सहमत और प्रसन्न हूँ।'

इस समय लडका १९-२० वर्ष का हो चला था।

लडके से बात करके मैं महादेवलालजी के पास पहुँचा और मैंने उनसे कहा, 'आपका लडका बिल्कुल स्वस्थ है। उसकी अन्तरात्मा भी स्वस्थ है। उसमे मनोबल है। इस सम्बन्ध से उसे प्रसन्नता भी है। आप उसके ऊपर अपनी इच्छा को लादेंगे, तो दूसरी बात है, लेकिन सम्बन्ध यह होकर ही रहेगा। शादी मे कितनी भी देरी क्यो न हो जाये।'

लेखक के दौहित्र श्री विजयकुमार छावछरिया

कवि रूप में

वे बोले, 'आपकी बाई के इस भीषण प्रण के सामने मैं ही क्या, देवत्व-शक्ति को भी नम जाना होगा। लेकिन आपको मेरा अन्तिम उत्तर मिलेगा मेरे कलकत्ता जाने के बाद।'

मैंने थोडे फल उनके यहाँ भिजवा दिये। उन्होने सहर्ष उनको स्वीकार कर लिया, और मैं जैरामपुर आ गया।

महादेवलालजी कलकत्ता गये। भाई किशनलालजी से उनकी सारी बात-चीत हुई, और तय हो गया कि यह सम्बन्ध कायम रहेगा।

विवाह के लिए ३० अप्रैल १९३६ की तिथि निश्चित हो गई। शाहजी ने मुझे इसकी शुभ सूचना दे दी।

मैंने एक चिट्ठी अजमेर दे दी, और एक चूरू। मेरा साला मेरी पत्नी और लडकी को जैरामपुर पहुँचा गया।

यथासमय विवाह सानन्द सम्पन्न हो गया।

मेरी लडकी को अपनी ससुराल मे काफी प्यार और सम्मान मिला। शाहजी महादेवलालजी के जीवन-काल मे ही उनके दो पौत्र-रत्न हो चुके थे।

महादेवलालजी बडे ही सरल और मृदुभाषी व्यक्ति थे। लोभी तो बिलकुल न थे। यहाँ तक कि उन्होने दहेज और लेन-देन की भी कोई बात नही की, जो कि हमारे समाज में गहरी जड जमाये हुए है। हमने जो दिया था, उन्होने सराहना करते हुए सहर्ष स्वीकार किया था। सन् १९३८ के दिसम्बर मास में खदान मे काम करते समय मेरी आँखो मे कोयले का कण गिर गया था। परिणामस्वरूप मेरी आँखो में बेहद पीडा हो गई, और एक मास तेरह दिन मैंने तकलीफ पाई। आखिरकार कलकत्ता मे इलाज से आराम हुआ। मेरी इस तकलीफ के दिनो मे महादेवलालजी ने स्वत ही अपने पुत्र (मेरे दामाद) को मेरी सेवा में भेज दिया था—यह कहकर कि जब तक मैं पूर्ण स्वस्थ न हो जाऊँ, तब तक वह पुत्र के समान मेरी सेवा करे। लडके ने भी ठीक इसी भावना से मेरी सेवा की थी। उस समय मुझे १७५) मासिक मिलते थे। इसलिए स्पष्ट है कि उसकी सेवा में लोभ का कोई अश नही था।

आज बाई भगवती के चार पुत्र है। सबसे बडा राजेन्द्र मेरा दत्तक-पुत्र है, और इस समय मेरा स्थानापन्न होकर भाई किशनलालजी की परासिया कोलियरी का एजेन्ट है। उससे छोटा विजय मेरी साउथ परासिया कोलियरी में अपने पिता के अधीनस्थ डिप्टी-एजेन्ट का काम कर रहा है। वह अपने काम-काज में दक्ष होने के साथ-साथ उच्च कोटि का कवि भी है। बाई के शेष दोनो पुत्र अभी छोटे है और शिक्षा प्राप्त कर रहे हे।

जैरामपुर कोलियरी का हस्तान्तरण और नये संघर्ष का सूत्रपात

०

सेठ ताराचन्द घनश्यामदास फर्म के कार्यकर्ता एवं पार्टनर जयनारायण रामचन्द्र थे। सेठ जयनारायणजी भाई किशनलालजी के पितामह थे और रामचन्द्रजी ताऊ थे। इनकी पार्टनरशिप ५०-६० साल से चली आ रही थी।

सन् १९३५ मे ये दोनो फर्म अलग-अलग हो गये। जैरामपुर कोलियरी सेठ ताराचन्द घनश्यामदास की फर्म के हिस्से में आयी। इन्होने सेठ जयनारायणजी एवं रामचन्द्रजी के द्वारा रखे हुए कर्मचारियो को छोड दिया। एक मैं ही वचा था। मेरे वने रहने मे भी मुझे वरावर सन्देह वना रहता था।

कोलियरी का काम हस्तान्तरित होकर १ जनवरी १९३६ के दिन सेठ लछमनप्रसादजी के तत्वावधान में आ गया।

मेरी लडकी की शादी ३० अप्रैल १९३६ के दिन होनेवाली थी। मुझे शका वनी रहती कि कही ऐन मौके पर कोलियरी छोडनी पड गयी, तो विवाह करने मे काफी कठिनाई का सामना करना पडेगा। इस कारण भाई किशनलालजी से फोन द्वारा मैंने प्रार्थना की कि वे सेठ लछमनप्रसादजी से मिलकर मेरी स्थिति का स्पष्टीकरण करवा लें।

उत्तर में सेठ लछमनप्रसादजी ने मुझे कहला भेजा कि वे ६ माह तक मुझे नही छोडेंगे, और इस अवधि में मैं भी उनको नहीं छोड सकूँगा। इस अवधि के वाद दोनो पक्ष एक-दूसरे को छोडने के लिए स्वतन्त्र होंगे।

मेरी स्थिति स्पष्ट होने पर, मैंने अपनी लड़की की शादी जैरामपुर कोलियरी में रहते हुए ही सानन्द सम्पन्न कर दी।

शुरूआत में इन नये मालिकों का विश्वास मेरी योग्यता इत्यादि में पूर्णरूपेण नहीं जम सका, और ये लोग इस कोलियरी को अच्छे दामों में बेच देना चाहते थे। इसीलिए सेठ लक्ष्मनप्रसादजी ने कोलियरी के निरीक्षण तथा उसकी कीमत आँकने के लिए लाला [illegible] को भेजा। वे आये और उन्होंने मेरे साथ अन्दर-नीचे जाकर कोलियरी का भली प्रकार निरीक्षण किया। फिर कलकत्ता वापस जाकर उन्होंने सेठ लक्ष्मनप्रसादजी से मेरी कार्य-क्षमता की प्रशंसा की, और कहा कि जहाँ तक मेरी ईमानदारी का सवाल है, भाई विश्वनाथजी से पूछ लिया जाए। भाई विश्वनाथजी ने मेरी ईमानदारी के बारे में अपनी गारन्टी दे दी।

कुछ समय पश्चात् मुझे कलकत्ता बुलाया गया और सेठ लक्ष्मनप्रसादजी के ज्येष्ठ भ्राता सेठ जानकीप्रसादजी ने मुझसे पूछा, 'यदि हम इस कोलियरी को अस्सी हजार रुपये में बेचना चाहें, तो तुम्हारी क्या राय रहेगी?'

मैंने उत्तर दिया, 'यदि मैं आपकी स्थिति में होता तो नीचे की कोल-सीम (कोयले की तह) को स्वयं काटता और किसी को इस तरफ झाँकने भी नहीं देता। यह प्रॉपर्टी बहुत मूल्यवान है। इसका हस्तान्तर करना जीवन की एक बड़ी भूल होगी।'

वह बात वहीं रह गयी।

फिर दिसम्बर १९३९ में झरियावाले के० सोरा एण्ड कम्पनी के वीरन बाबू एवं सेठ श्रीनिवासदासजी के बीच इस कोलियरी के हस्तान्तरण के बारे में बात हुई। वीरन बाबू ने इसकी कीमत दो लाख रुपये लगाई। सेठ लोग सहमत हो गये, और मुझे फिर कलकत्ता बुलाया गया। इस सौदे के बारे में भी मेरी राय पूछी गयी, तो उत्तर में मैंने कहा, 'थोड़े ही समय में अस्सी हजार रुपये से दो लाख का ऑफर आपके पास आ गया है, जब कि बाजार मंदा चलता रहा है, और उसमें कोई उथल-पुथल नहीं हुई है।'

चूँकि इनको कोयले के काम का विशेष अनुभव नहीं था, इसलिए ये अच्छे दामों में कोलियरी को निकाल देना चाहते थे।

मैंने फिर जोर देकर कहा, 'देखिये, अपनी यह कोलियरी सचमुच मूल्यवान है, तभी तो कच्छी लोग इसको लेने के लिए उद्यत हैं। यदि आपने इसको

बेचना तय कर ही लिया है, तो कम-से-कम आठ आना भाग तो अपनी तरफ रख ही लें। इस तरह अस्सी हजार रुपये की जगह एक लाख रुपये तो आपको आज ही मिल जाते है। बाद मे उनको लाभ होगा तो आपको भी लाभ होगा। कोलियरी का मैनेजमेन्ट पाँच-पाँच साल के अन्तर से दोनो पार्टनरो के बीच मे हस्तान्तरित होता चला जायेगा।'

मेरा यह प्रस्ताव उनको जँच गया। बीरम बाबू ने भी इसे सहर्ष स्वीकार कर लिया, और ४ फरवरी १९३७ के दिन कोलियरी के लिमिटेड होकर नयी व्यवस्था के अनुसार काम शुरू होने की बात तय हो गयी। पहले पाँच साल का मैनेजमेन्ट हमारे ही हाथ में आया।

लेकिन बीरम बाबू के अन्तस्थल मे यह बात खटके बिना न रही। ये ठेकेदारी से रुपया उपार्जन करके कोई कोलियरी लेने की फिराक मे थे। इन्होने यह सोचा होगा कि एक बार कोलियरी हाथ मे आने पर निरजनलाल को उडा देना कोई कठिन कार्य न होगा, और उसके चले जाने पर इस कोलियरी का कार्य-भार अक्षुण्ण रूप से उनके हाथ में आ जायेगा।

४ फरवरी १९३७ के दिन कलकत्तावालो ने लिमिटेड फर्म को जैरामपुर कोलियरी का चार्ज देने के लिए अपनी तरफ से बसन्तलालजी मुरेका को भेज दिया। मैंने (यानी लिमिटेड कम्पनी के एजेन्ट की हैसियत से) एव बीरम बाबू ने सुरेकाजी से जैरामपुर कोलियरी का चार्ज ४ तारीख को ले लिया।

चार्ज लेने के बाद उसी दिन बीरम बाबू ने मुझे एक हेड-गीयर के निरीक्षण करने का आदेश दिया जो झरियावाले करसनजी वर्मा के यार्ड में पडा हुआ था। तदनुसार मैं उसी दिन हेड-गीयर का निरीक्षण कर आया।

६ फरवरी को बीरम बाबू कोलियरी आये, और मेरे सामने बैठकर उन्होने सबसे पहला प्रश्न यही पूछा कि हेड-गीयर की क्या रिपोर्ट है?

बसन्तलालजी भी वही बैठे हुए थे। उनके समक्ष ही सारी बातें हुई। मैंने उत्तर दिया, 'हेड-गीयर तो मैंने देख लिया है, लेकिन मुझे हेड-गीयर के एक पाये मे जरा-सी बाँक नजर आयी है। लेकिन मुझे इस विषय मे विशेष अनुभव नही है, इसलिए आपके साथ एक बार निरीक्षण हो जाए, तो अति उत्तम हो। आपके निरीक्षण के बाद अगर लेने की जँच जाय, तो दर-भाव कर लिया जाए।'

यह सुनना था कि बीरम बाबू उबल पडे।

मैंने इस पर भी नरमी से ही कहा, 'अजी, मुझमे ऐसी कौन-सी गुस्ताखी की बात हुई जो आपके मर्म को स्पर्श कर गयी, और आप इतने क्रुद्ध हो उठे।'

लेकिन उनको तो लडाई लडनी थी, और मुझे निकाल फेंकना था, इसलिए वे शान्त नही हुए, और जोर-जोर से चिल्लाने लगे, तो मेरा भी गरम होना स्वाभाविक ही था। मैंने कहा, 'बीरम बाबू! लाल आँख सहने का मैं आदी नही हूँ। मैं अदब से पेश आता हूँ, और चाहता हूँ कि दूसरा भी उसी रूप में मुझसे पेश आये। मेरी समझ में नही आता कि आप किस कारण से इतने गरम हो रहे है। कृपया अपने नाराज होने का कारण तो बताइये।'

लेकिन वे कहाँ सुननेवाले थे! वे तो आज ही एक-दो-तीन करना चाहते थे।

तब मैंने धीरे से कहा, 'जी, जिस चीज की आपको गर्मी है, मैं जानता हूँ, वह वस्तु मेरे हस्तगत नही। लेकिन शायद प्रभु की कृपा हुई, तो वह चीज भी मुझे प्राप्त हो जायेगी। लेकिन जो वस्तु मेरे पास है, वह आपके पास नही है। देखो, कोई भी मनुष्य सर्वाङ्ग-सुन्दर नही होता। किसी की नाक अच्छी, तो किसी की आँख अच्छी।'

अब तो बीरम बाबू और भी अधिक झुँझलाये, और तैश में आकर, कुर्सी छोड चलते ही बने।

सुरेकाजी मन-ही-मन आनन्द ले रहे थे। वे शायद सोच रहे होंगे कि निरंजनलाल की तो पतग कटी, और यह छीका बिल्ली के भाग धराशायी हो गया। कारण कलकत्ता की गद्दी में इनके हाथ मे कोई स्थायी काम नही था। ये इधर-उधर दिशावरो मे हिसाब-किताब देखने के लिए आवश्यकतानुसार भेज दिये जाते थे। इसलिए यदि मेरे स्थान पर इनकी नियुक्ति हो जाए, तो फिर कहना ही क्या है! इसी दृष्टिकोण को लेकर अब यह बीरम बाबू से मेल-जोल बढाने लगे।

भइया की अस्वस्थता और एक चिर-स्मरणीय क्षण

•

हमारा पोस्ट ऑफिस झरिया मे था और वहाँ से डाक आने में करीब १२ बज जाते थे। उसी दिन की डाक में मुझे भइया की बीमारी का एक पत्र मिला। पत्र पढते ही मैं चिन्तित हो उठा और शाम की गाडी से ही मैंने रवाना होने का निश्चय कर लिया। कलकत्ता मे सेठ लछमनप्रसादजी को फोन किया। वे नही मिले, तब मैंने सेठ श्रीनिवासदासजी से फोन पर बात-चीत की, और उनकी आज्ञा लेकर सायकाल की गाडी से चूरू के लिए रवाना हो गया।

तीसरे दिन मैं चूरु पहुँच गया। सपरिवार ही गया था। मैंने पहुँचने की कोई सूचना नही दी थी, इसलिए स्टेशन पर कोई नही आया था। जब मैंने चूरु के बाजार मे प्रवेश किया तो रास्ते में एक गोयनका-भाई मिल गये। वे मुझे देखते ही कहने लगे, 'भाई, आप ठीक समय पर आ गये। डॉक्टरजी की हालत तो खराब है, लेकिन भगवान की कृपा से मानसिक स्थिति बहुत ठीक है। गीता का पाठ हरदम चलता रहता है।'

ये गोयनका-भाई गोविन्द-भवन के अनुयायी थे। ये लोग गीता के बडे भक्त माने जाते है। इनकी धारणा है कि मरणासन्न व्यक्ति की रुचि गीता वगैरह सुनने में लगी रहे, तो वह मुक्ति पा जाता है।

लेकिन मेरे प्राण फक्क हो गये । मैं समझ गया कि मामला सगीन है, लेकिन एक बात की तसल्ली हो गई कि कम-से-कम दर्शन तो हो ही जायेंगे ।

घर नजदीक ही था । हम घर पहुँचे । मेरे स्त्री-बच्चे तो अन्दर चले गये, और मैं बैठक में जाकर भइया के सामने बैठ गया । मेरे बडे भाई गौरीशकरजी भी वही बैठे थे । मैंने भइया क चरण-स्पर्श किये, तो उनको आँख खुल गयी और वे कुछ क्षण मेरी तरफ देखते रहे, फिर बोले, 'अरे, निरजन ! तू आ गया !'

इनना कहकर वे रो पडे, हिचकियाँ बँध गई । मेरा भी यही हाल था ।

गीताजी का पाठ थोडी देर के लिये बन्द हो गया । मैंने पडितजी को कह दिया कि अब तो मैं आ ही गया हूँ, गीता मैं स्वय ही सुनाता रहूँगा । आवश्यकता पडने पर आपको सूचना दे दी जायेगी, तब आप आ जायें । पडितजी चले गये ।

तभी भाभी भी वही बैठक मे आ गई । मैंने उनके भी चरण-स्पर्श किये । तत्पश्चात् भाई गौरीशकरजी के ।

भइया जब जरा स्थिर हुए तो बोल उठे, 'गौरीशकर, मैंने तुमको पहले ही कह दिया था कि निरजन मेरी बीमारी की चिट्ठी पाकर एक घडी भी टिकनेवाला नही । तुरन्त आते ही बनेगा ।'

मैं समझ गया कि जरूर इन दोनो के बीच मे कोई विचार-विमर्श हुआ होगा । सम्भवत गौरीशंकरजी ने कहा होगा कि चिट्ठी देने से कोई लाभ नही है, वह आनेवाला नही । भइया ने कहा होगा कि चिट्ठी अवश्य देनी चाहिए , उन्हें पूर्ण विश्वास है कि उनकी बीमारी का समाचार पाकर मैं एक घडी टिकने वाला नही ।

उनकी यह बात-चीत बाई भगवती की शादी में स्त्रियो के स्तर पर घटी हुई एक अवाछनीय घटना के सन्दर्भ में हुई होगी । विशेष प्रासगिक न होने के कारण उस घटना का यहाँ उल्लेख करना हम आवश्यक नही समझते ।

इसके बाद भइया ने मुझे स्नान आदि से निवृत्त होने की आज्ञा दी और कहा, 'भोजन मेरे पास बैठकर ही करना, और इधर-उधर चले मत जाना ।'

मैंने उत्तर दिया, 'मुझे जाना ही कहाँ है । मैं तो आपकी सेवा मे आया हूँ । आपकी पाटी छोडने का नही ।'

तभी भइया को खाँसी आई और थूकने के लिए उन्होने उगालदान की तरफ इशारा किया । मैंने झट् अपना हाथ उनके मुख के पास कर दिया, और उनका कफ अपनी हथेली में ले लिया । भइया थूकते वक्त एक लहमे के लिए भी हिचके नही । वह एक ऐसा चिर-स्मरणीय प्रेम-प्रवाह था, जिसमे हम दोनो निमग्न हो उठे थे । उस दिव्य आत्मा ने मेरे भाव को समझकर उसकी पूर्ति कर दी ।

खा-पी लेने के बाद कोलियरी की सारी बातें हुईं। वीरम के साथ झझट का जिक्र भी आना ही था। भइया बोल उठे, 'कितने दिन की छुट्टी लेकर आये हो ?'

मैंने उत्तर दिया, 'जी, छुट्टी की बात तो यह है कि जब तक आप स्वस्थ नही हो जाते, और चलने-फिरने नही लग जाते, तब तक छुट्टी ही समझिये। उसके पहले जाने का प्रश्न ही नही उठता। नौकरी रहे, चाहे न रहे।'

भइया बोले, 'ऐसी स्थिति में तुम्हे नही आना चाहिये था।'

मैंने कहा, 'जी, आप किसी बात की चिन्ता न करें। प्रभु की कृपा से और आपके आशीर्वाद से मेरा कुछ बिगडने का नही। सब आनन्द-ही-आनन्द होगा।'

फिर इधर-उधर की बातें होती रही। भइया काफी कमजोर हो चले थे। मैंने उनको हॉरलिक्स तथा सेनाटोजन देना शुरू किया। धीरे-धीरे ताकत आती गई। पूर्ण स्वस्थ होने मे करीब एक मास लगा होगा।

तत्पश्चात् मैं जैरामपुर चला आया।

संघर्ष का एक और चक्रव्यूह

०

कोलियरी पहुँचते ही मुझे बसन्तलालजी ने संवाद दिया, 'लछमनप्रसादजी ने कह रखा है कि आप आते ही उनसे बात कर लें।'

मैंने तुरन्त फोन जुड़ाया। लछमनप्रसादजी बोले, 'आप बिना पूछे ही कैसे चले गये थे?'

मैंने सारी परिस्थिति उन्हें समझा दी। वे समझ गये और शान्त हो गये। फिर बोले कि वे दूसरे दिन कोलियरी आ रहे हैं, और मैं बसन्तलालजी को वहीं रोके रखूँ।

उनके आने के दूसरे दिन वीरम बाबू को बुलाया गया। वे कोलियरी आये, लेकिन गुस्से में भरे हुए थे। हम सभी खदान पर गये। वहाँ वीरम बाबू ने फुँफकारना शुरू किया, और खूब गरम होकर कहने लगे, 'गोयनकाजी तो मेरी कुत्ते के बराबर भी कदर नहीं करते। आज आप यहाँ खड़े हैं, तब कहीं मुझे इतना बोलने का साहस हुआ है।'

मैं बोल उठा, 'वीरम बाबू, अपने लिए इतने अशोभनीय शब्दों का प्रयोग आपको शोभा नहीं देता। आपने मुझे ४ तारीख को हेड-गीयर के निरीक्षण के लिए कहा था। मैं उसी दिन निरीक्षण करके आ गया। आप ६ तारीख को आये। आपने मेरी रिपोर्ट माँगी। मैंने उत्तर में कहा कि हेड-गीयर का मैंने

निरीक्षण कर लिया है। उसके एक पाये में मुझे जरा वॉक नजर आई है। मुझे हेड-गीयर के बारे में विशेष अनुभव नहीं। आप और हम दोनों चलकर एक बार उसके देख लें और वाँक गौण हो, आपको जँच जाय, तो दर-भाव करके ले लेंगे। इसके अलावा, अगर मेरे मुँह मे ऐसा एक भी शब्द निकला हो जिसके कारण आपके मर्मस्थल पर आघात पहुँचा, तो कृपया आप कहिये। लेकिन मैं आपसे पूछता हूँ, इसी बात-चीत के दौरान में आप उवल क्यो पड़े थे ? मैंने उसी वक्त आपसे कहा था कि मेरा व्यवहार बडा सभ्य और विनम्र है, और मैं भी चाहता हूँ कि दूसरा भी उसी तरह मुझसे पेश आये।'

इसके बाद मैंने मुरेकाजी की ओर मुखातिब होकर कहा, 'क्यो वसन्तलालजी, यही बात थी न ? इसके अतिरिक्त, मेरे मुख से ऐसा एक भी अपशब्द इनके प्रति निकला था क्या, जो कि इनके उबाल का कारण बन सकता ?'

वसन्तलालजी चुप ही रहे।

मैंने फिर कहा, 'वसन्तलालजी, इस समय चुप्पी न साधें। मालिकों के सामने सच बात का निर्णय होना आवश्यक है।'

लेकिन वसन्तलालजी के मुँह से एक शब्द भी नहीं निकला। सेठ भी चुप। वीरम बावू भी चुप। मेरे पीछे जो षडयन्त्र रचा गया होगा, उसका भण्डाफोड सेठजी के सामने हुए बिना न रहा।

इसके बाद हम लोग ऑफिस चले आये। वीरम खसकत हुए। लछमन-प्रसादजी जरा सोच-विचार में पड गये। वे वसतलालजी से कहने लगे, 'भाई, तुमको तो इस प्रकार का व्यवहार नहीं करना चाहिये थे। अच्छा हुआ, मैं आ गया और सारी परिस्थिति मेरे सामने आ गई। खैर, अब मैं तुमसे पूछता हूँ कि दोनो मे कसूर किसका था ? अगर निरजनलालजी से असभ्य व्यवहार हुआ है, तो हम इनको कहेंगे। अगर इनसे कोई बेजा हरकत हो जाये, तो वह हमारी तरफ से हुई ही मानी जायेगी। ये हमारे प्रतिनिधि जो है।'

लेकिन श्रीमान् वसतलालजी अब भी चुप।

तब सेठ जरा उत्तेजित होकर बोले, 'बसतलाल, तुम चुप कैसे हो ? तुम तो हमारे यहाँ इनसे भी पुराने हो। तुमने यह गलतफहमी कैसे फैलाई ? शुरू-आत में ही दोनो पार्टनरो के बीच मन-मुटाव की सृष्टि अगर होने लग जायेगी, तो आगे चलकर काम कैसे चलेगा ? तुम्हे तो निष्पक्ष रहना चाहिए था। इसी में हमारे प्रतिनिधि की शोभा है।'

वसन्त बाबू के काटो तो खून नहीं।

तब सेठ मुझसे बोले, 'आप अपना काम करते जाइये। शुरू-शुरू में इस

प्रकार की खटपट हो ही जाया करती है। लेकिन अब वीरम आपके स्वभाव को भली-भाँति जान गया है। मैं आशा करता हूँ, भविष्य में वह ऐसी बेहूदा हरकत न करेगा। बसंतलाल, तुम तो मेरे साथ चलोगे न ? अब तो यहाँ तुम्हारे रहने की जरूरत नजर नहीं आती। आवश्यकता पड़ने पर आते-जाते रहना।'

बस, शाम की गाड़ी से वे दोनों विदा हो गये।

वीरम बाबू यह बात भूले नहीं और बराबर ही घात लगाते रहे। आप दूसरे दिन ही फिर आ धमके। मैंने बड़ी प्रसन्नता से उनका स्वागत किया। आज वे जरा सजीदा थे। आते ही कहने लगे, 'डेवलपमेण्ट का काम बड़ी तत्परता से होना चाहिये। बहतर हो कि आप अपनी एक स्कीम दे दें।'

मैंने कहा, 'स्कीम सारी-की-सारी विभाग में मौजूद है। आप अभी बैठ जायें, या जब आपको फुरसत हो, आ जायें। विचार-विमर्श कर लेंगे।'

वीरम बाबू ने कहा, 'तो, आज ही कर लें, समय क्यों नष्ट किया जाये ?'

मैंने कहा, 'दस नम्बर सीम में दो पिट करीब सौ-सौ फुट गहरे गये हुए हैं। अब उनको दुबारा करके सिंकिंग कर लेना चाहिए। करीब २००-३२५ फुट के बीच कोयला मिल जाना चाहिये। वैसे यह सिर्फ मेरा अनुमान है, कोई निश्चित डाटा नहीं है।'

पड़ोस में दस नम्बर सीम में काम हो रहा था। पिट खुदे हुए थे। उन्हीं के आधार पर इतनी गहराई में कोयला मिलने की आशा की जा रही थी।

वीरम बाबू बोले, 'अच्छा होगा कि बोरिंग कर ली जाये।'

मैंने कहा, 'इसमें किसी को क्या एतराज हो सकता है ? अगर बोरिंग मशीन मिल जाये, तो इन्तजाम कर लें।'

तब वीरम बाबू कहने लगे, 'मान लो, बोरिंग न करें, और सिंकिंग करना शुरू कर दें, और प्रत्याशित गहराई पर कोयला न मिला, तो फिर जिम्मेवारी किसकी होगी ?'

मैंने कहा, 'कोयला अवश्य मिलना चाहिये। उधर जियोलोजिकल डिस्टरबेन्स नजर नहीं आता। गहराई में थोड़ा-बहुत फर्क आ सकता है, लेकिन जोखिम की तो कोई बात नजर नहीं आती। इतना रुपया लगाने के बाद अगर कोयला न मिला, तो हँसी होगी मेरी, रुपया खराब होगा आप लोगों का। यह तो हम दोनों ही नहीं चाहेंगे। वैसे बोरिंग करने में मैं बाधा नहीं दूँगा, लेकिन अगर बोरिंग करने को मशीन उपलब्ध न हो, तो काम को स्थगित करना उचित नहीं होगा। काम चालू कर देना चाहिये।'

वीरम वावू ने आश्चर्य से कहा, 'आपको अपने अन्दर इतना आत्म-विश्वास है ! इतनी हिम्मत तो फर्स्ट-क्लास मैनेजर भी नही कर सकते !'

मैंने उत्तर दिया, 'उनकी वात वे जानें। मेरी वुद्धि मे जो आया, सो मैंने कह दिया। आगे आपकी मर्जी है। काम होगा आपके आदेशानुसार हो।'

इस पर वीरम वावू ने पूछा, 'अच्छा तो काम चालू करने के लिए आपको क्या-क्या सामान चाहिये ?'

मैंने मशीनरी की लिस्ट दे दी।

अव वीरम वावू ने दूसरी वात उठाई, 'अपने को एक फर्स्ट-क्लास मैनेजर रख लेना चाहिये।'

मैंने कहा, 'हमारे पास जो मैनेजर है वह सेकण्ड-क्लास तो है, लेकिन है अनुभवी। रेजिंग वढ जायेगा, तो फर्स्ट-क्लास रख लेंगे।'

लेकिन वह कव माननेवाला था ! वह तो घात लगाये वैठा था। मैनेजर को वुला लिया और उसे साथ लेकर चल पडा कोलियरी पर। चलते-चलते मैनेजर से वोला, 'मैनेजर वावू ! आपकी नजर में कोई अनुभवी फर्स्ट-क्लास मैनेजर है क्या ?'

मैं वीच में ही वोल उठा, 'अभी जरूरत ही क्या है ? पीछे देखा जायगा। हम इन्ही से सारा इक्विपमेंट करा लेंगे। ये भी तो अच्छे अनुभवी है।'

लेकिन वीरम वावू फर्स्ट-क्लास मैनेजर रखने पर जोर देता ही चला गया। उसे तो इस मैनेजर को भडकाना था, ताकि यह खुद ही छोडकर चल दे। तव मैं अकेला पड जाऊँगा, और इक्विपमेंट का सारा भार मेरे माथे पड जायेगा, और जव मैं नही कर सकूँगा, तो मेरी फजीहत करने का एक अच्छा मौका इसके हाथ लग जायेगा।

और हुआ भी वही।

मैनेजर १०-१५ दिन में ही किनारा कर गया। उसके हाथ एक दूसरी नौकरी लग गई।

अव मैं अकेला पड गया।

वीरम ने २ इजन ला दिये, २ हेड-गीयर भी लाकर डाल दिये, और कह दिया, 'लो, वैठाओ।'

मैंने कहा, 'मैनेजर रख लें, तो अच्छा हो।'

तो वे वोले, 'मैं कोशिश मे तो हूँ। अच्छा आदमी आने से ही तो रखा जायेगा।'

मैंने प्रभु से प्रार्थना की, 'हे प्रभु, वीरम वावू तो अपनी चाल में सफल हो

गये। अब मुझे भरोसा है केवल तेरा, मुझे बल दो, ताकि मैं अकेला ही इजन और हेड-गीयर फिट कर सकूँ।'

एक लकाशायर व्यायलर भी फिट करना था।

भगवान का नाम लेकर मैंने काम चालू कर दिया। दोनो इजन और दोनो हेड-गीयर और व्यायलर फिट हो गये। काम तेजी से बढता चला गया।

बीरम बाबू बीच-बीच मे आते और देखकर मन में तो कुढते, लेकिन ऊपर से प्रसन्नता प्रकट करते। लेकिन मैं उनके मन की बात खूब समझता था।

मैं यहाँ इतना जरूर कह दूँ कि मेरे दिल में बीरम बाबू के प्रति किंचित् मात्र भी द्वेष न था। उनकी तरफ से सघर्ष को मैं प्रभु की देन समझता था, क्योकि मुझे दिन-प्रतिदिन नये-नये अनुभव होते चले जा रहे थे। जिस व्यक्ति के कारण हमारे ज्ञान की वृद्धि हो, उसे हम दुश्मन कैसे कह सकते है ?

अगर यह दुश्मनी न करते, तो मुझे इतना गहरा अनुभव कैसे प्राप्त होता ? इस अनुभव का भविष्य मे कितना मधुर फल मुझे मिला, पाठकगण आगे चलकर देखेंगे। दरअसल, मैं तो अपने को उनका कृतज्ञ मानता हूँ।

जब दोनो पिट फिट हो गये, तब बीरम बाबू एक फर्स्ट-क्लास मैनेजर को ले आये। उनका नाम इन्दु बाबू मुखर्जी था। उनकी नियुक्ति ७ जुलाई १९३७ के दिन हुई। वे मेरे पास १६ साल रहे। आखिर मेरे रहते-रहते ही रिटायर होकर घर चले गये और उसके थोडे दिन बाद उनकी मृत्यु हो गयी। उनके ज्येष्ठ-पुत्र डॉ० उमापदो मुखर्जी (एम० एस०) कलकत्ता में नामी सर्जन है।

इसी बीच एक बडी विपत्ति आन पडी। मेरा बडा भतीजा प्रकाशचन्द्र हाल ही में शादी करके मेरे पास फिर काम सीखने चला आया। आते ही बीमार पड गया और उसे टायफायड हो गया। उधर मेरी छोटी लडकी मिथिलेश को भी टायफायड हो गया और मेरी स्त्री को बुखार होकर एनीमिया (रक्ताल्पता) की बीमारी हो गई। एक कमरे मे मेरा भतीजा लेटा रहता, दूसरे में मेरी लडकी और मेरी पत्नी। दिन के समय मैं काम-काज के बीच मे ही बार-बार जाकर इनको सँभाल आता, और रात में प्रकाश के पास धरती पर लेट जाता। बराबर यह डर बना रहता कि कही मुझे गहरी नीद आ गई, तो लडके को पेशाब-टट्टी आदि कौन करायेगा ? उधर उन दोनो को भी कौन सम्हालेगा ?

इस बीमारी के दरमियान मैंने और किसी कर्मचारी की सहायता न लेकर शिवजी सिंह (डिपो-चपरासी, जिसका पहले भी जिक्र आ चुका है) को रात में

अपने पास सुला लेता। प्रकाश रात्रि के समय शौच इत्यादि करता, तो मैं उसको करा देता, लेकिन यह शिवजी सिंह उसका 'पैन' मेरे हाथ से ले लेता। यह था क्षत्रिय, मैं था वैश्य। इसकी जाति के स्वभाव के विपरीत बात थी यह, लेकिन यह सच्चा मानव था। आज वह नही है, लेकिन उसकी स्मृति मेरे मन में उसी तरह जीवित है।

आखिर मैंने प्रकाश के माता-पिता को तार देकर बुला लिया। वे आ गये और जब यह ठीक हो गया, तो इसको लेकर चले गये।

आज भी प्रकाश मेरा बहुत सम्मान करता है। वह बहुत अच्छे स्वभाव का है, और दूसरो के साथ भी उसका व्यवहार इसी किस्म का है। इसने अपने भाइयो की भी बहुत सेवा की है। मैंने इसका नाम रख छोड़ा है—'परिवार का दूसरा मदनलाल।'

हमारे परिवार के सारे ही बच्चे मुझे हृदय से सम्मान देते है। प्रकाश, बृजलाल आदि आज भी मेरे जूतो को पैर से नही छूते, अपने हाथ से मेरे सामने रख देते है। उस समय चाहे उनके कितने ही मित्र वहाँ क्यो न मौजूद हो, वे तो इसमे गौरव का ही अनुभव करते है।

कुछ दिन बाद सेठ लछमनप्रसादजी अपने ज्येष्ठ पुत्र महावीरप्रसादजी को साथ लेकर कोलियरी आये। एक दिन ठहरकर महावीरजी को छोडकर जाने लगे।

मैं पूछ बैठा, 'इनको किसलिये छोडे जाते है ?'

वे बोले, 'यह आपके पास काम सीखेगा।'

मैं मुस्कराया और बोला, 'लेकिन इनका मन कैसे लगेगा ?'

इस पर लछमनप्रसादजी ने उत्तर दिया, 'वाह ! आप कैसे रहते है ? आप आदमी नही है क्या ? इसमे क्या सुर्खाब के पर लगे है ? इसने कलकत्ता, बम्बई, मद्रास कही भी काम सीखने की हामी नही भरी, लेकिन यहाँ आने के लिए राजी हो गया। आप अपना लडका समझकर इसे काम सिखायें।'

मैंने कहा, 'बहुत अच्छी बात है।'

महावीरजी मेरे पास करीब १॥ मास रहे। मैंने इनको हर काम से वाकिफ करा दिया। ये ज्यादातर ऑफिस मे ही रहते थे। यो कोलियरी के काम की भी इन्हें मोटा-मोटी जानकारी होने लगी थी।

जब इन्होने देखा कि सारा काम तो हमारे आदमी ही कर रहे है, और बीरम बाबू तो कभी आते नही, या कभी आये भी तो १०-५ मिनट इधर-उधर

घूमकर चल देते हैं, तो इन्हें बडी तकलीफ हुई, और ये महसूस करने लगे कि उसे आधा हिस्सा देकर तो बडी ठगाई हो गई। लेकिन अब क्या हो सकता था ?

अब सिंकिंग चालू हो गया। लेकिन वीरम बाबू अभी तक भी अपनी बात भूले नहीं थे, और बराबर घात लगाये रहते थे।

जनवरी १९३८ की बात है। अब वीरम बाबू ने कहना शुरू किया कि सिंकिंग की प्रोग्रेस बहुत थोडी होती है। हालाँकि सिंकिंग-कन्ट्राक्टर इन्ही का लाया हुआ था, लेकिन मैं देखता था कि वह अपनी कोशिश में कोई कसर उठा न रखता था। उस हालत में मैं भी उसे क्या कहता ? झूठी नुक्ताचीनी करने की मेरी आदत नही। लेकिन वीरम बाबू जब कलकत्ता जाते, तो सेठजी के कान भरे बिना न रहते। महावीरजी मुझे सब बता देते।

अब लछमनप्रसादजी की राय मेरे बारे में बदल चुकी थी, लेकिन रोजमर्रा के कान भरने से आदमी झुँझला तो जाता ही है। आखिर आदमी ही तो है, देवता तो नही, जो दूसरे के दिल की बात जान ले।

एक दिन बाप-बेटे दोनो एक साथ कोलियरी आ पहुँचे। मुझसे कहा कि एक मीटिंग बुला ली जाये, और मीटिंग कोलियरी पर ही कर ली जाये। तदनुसार, के० वोरा वालो को तथा वीरम बाबू को इत्तला कर दी गई। दूसरे दिन तीसरे पहर मीटिंग हुई।

बैठते ही मैंने कृपाशंकरजी वोरा से एक प्रश्न पूछा, 'अजी, यह तो बताइये कि आप लोगो को सिंकिंग में मासिक क्या प्रोग्रेस मिलती है ?'

वोराजी ने उत्तर दिया, 'प्रोग्रेस २५-३० फीट से ज्यादा नहीं मिलती। अगर इतनी भी मिलती रहे, तो हमको सन्तोष कर लेना चाहिये। आखिर पत्थर फाडकर नीचे जाना पडता है।'

फिर पूछने लगे, 'क्या, क्या बात है ?'

मैंने कहा, 'कोई खास बात तो नही है। मैं जानना चाहता था कि मुझे ठेकेदार गप्पा तो नही मार रहा है। वैसे, हमको प्रोग्रेस ३० फीट से कम नही मिलती।'

वे बडे प्रसन्न हुए। बोले, 'इतनी प्रोग्रेस आपको तब मिलती है गोयनकाजी, जब कि आप हरदम उसकी छाती पर चढे रहते हैं।'

वीरम बाबू का मुँह फक। सेठजी भी चुप। महावीरजी बडे प्रसन्न। मैं भी चुप हो गया।

ईश्वर की कृपा से ३-४ मास में ही ३२६ फीट की गहराई पर कोयला

मिल गया। सभी बडे प्रसन्न थे। मेरे अन्दाज की दाद दी गई, लेकिन मैं तब भी चुप ही रहा।

फिर एक बार लछमनप्रसादजी आये। इस बार मैंने प्रार्थना की कि मेरा वेतन १७५) से २००) कर दिया जाये। लछमनप्रसादजी की त्यौरी बदल गयी और वे कहने लगे, 'आपको १७६) नही दूँगा।'

मैंने कहा, 'मेरा कसूर क्या है ?'

तो बोले, 'तुम किशनलाल के आदमी हो।'

मैंने कहा, 'मैं तो कोलियरी का आदमी हूँ। मेरे टेकनिकल अनुभव का खयाल करके ही मेरी तरक्की कर दें।'

जवाब मिला, 'देखो, तरक्की का तो प्रश्न ही नही उठता, बल्कि आप अपनी सर्विस को नये सिरे से आज से ही चालू समझें।'

मैंने कहा, 'ठीक ही बात है। मैं जानता था, बिन मॉग्या मोती मिले, माँगी मिले न भीख। लेकिन जो अपने भगवान मे विश्वास खो बैठते है, उनकी यही दशा होती है।'

इतना कहकर मैं चुप हो गया। वे भी खामोश रहे।

फिर मैं घर आ गया और मैंने अपनी पत्नी को सारा वृत्तान्त कह सुनाया और बोला, 'मैं आज से ६) रु० रोजाना का मजदूर हूँ। अब मैं अपनी रोजी रोज कमाऊँगा। मुझे डर यही है कि कही ऐसा न हो कि मुझ मे हिंसा का भाव आ जाये, और मेरे काम मे ढिलाई आ जाये। बल्कि यह तो चुनौती है। खैर, जिस दिन हमें कोई दूसरा बेहतर काम मिल जायेगा, चल देंगे।'

मै उसी दिन से विशेष परिश्रम करने लगा। दस न० सीम से भी कोयला रेजिंग होने लगा। सरप्लस भी इतना मिलने लगा जितना के० बोरा की किसी भी कोलियरी मे नही मिलता था। उनको ताज्जुब था कि इनको सरप्लस कैसे मिल जाता है ? इसमें कोई चाल तो नही ? लेकिन रेकार्ड के ऊपर तो किसी का वश चलता नही।

सन् १९३८ के नवम्बर के आस-पास महावीरजी कोलियरी आये, और बोले, 'पिताजी ने कहा है कि आप अपना वेतन २००) रु० मासिक कर लें।'

मैंने उत्तर दिया, 'मैं आपको तथा आपके पिताजी को धन्यवाद देता हूँ। लेकिन अब मैं १७५) में ही प्रसन्न हूँ। मैंने २५) रु० की कमी पूरी कर ली है।'

वे चौके, 'कैसे ?'

मैंने कहा, 'चोरी करके नहीं, साहब। बल्कि मैंने अपना खर्चा और भी कम कर दिया है। मैं इसी में प्रसन्न हूँ। आप तो देखते ही हैं, मेरे काम में आपको ढिलाई तो नजर नहीं आती ?'

महावीरजी ने उत्तर दिया, 'मुझे अचम्भा तो इसी बात का है कि अब आप पहले से भी अधिक मुस्तैदी से काम कर रहे हैं।'

मैंने कहा, 'जी, अब मैं ६) रु० रोज की मजदूरी करता हूँ, और बराबर खयाल रखता हूँ कि मैं इन ६) रु० के साथ कोई गैर-इन्साफी तो नहीं कर बैठता हूँ। मुझे बराबर यह खयाल रहता है कि कहीं मेरे हृदय में हिंसा घर न कर जाए। आपके पिताजी ने तो मुझे इस प्रकार का कमर-तोड़ उत्तर दे दिया था, लेकिन मैं जब निरामिषी हूँ, तो मुझे कोई आमिषभोजी मान ले, या इस प्रकार का दोषारोपण कर दे, तो मैं आमिषभोजी तो नहीं बन जाऊँगा। भला मैं अपने स्वभाव को क्यों छोड़ दूँ ? मनुष्य मनुष्य से अपने कर्मों के फल पाने की आशा करे, तो यह उसकी भूल है। वह तो प्रकृति के हाथ में निमित्त मात्र है। भले ही एक मनुष्य दूसरे मनुष्य का दाता नजर आय, लेकिन वह देगा तभी जब कि प्रकृति उसे मजबूर करेगी। महावीर बाबू, मुझे पूर्ण विश्वास है, प्रत्येक मनुष्य का भाग्य उसके अपने ही हाथ में है। वही अपने भाग्य का निर्माता और विधाता है। इसलिए मुझे अपने भविष्य में पूर्ण विश्वास है।'

पता नहीं, उन्हें मेरी यह बात अच्छी लगी या बुरी, लेकिन मैं अपने पथ पर दृढ़ता से आरूढ़ था।

उसी साल के दिसम्बर मास में मैं लकाशायर बायलर की लोहे की चिमनी खड़ी करवा रहा था। डेवलपमेण्ट का काम मैं अपने सामने ही करवाता था। इसमें दो फायदे थे। एक, काम पक्का और स्थायी होता—दूसरे, खर्च में बहुत किफायत होती। इसके अतिरिक्त, जो अनुभव होता, सो तो बड़ा भारी लाभ था ही।

अचानक मेरी दायी आँख में कुछ गिर गया। उस समय तो मुझे कुछ पता न चला, लेकिन भोर में चार बजे उठा तो आँख खुल नहीं पा रही थी। प्रयास करने पर भी मैं पढ न सका।

दोपहर तक तकलीफ और बढ गई। अब तो आँख में पीडा भी मालूम होने लगी। मैं समझा, आँख आई है, सो २-४ दिन में ठीक हो जायेगी। डॉक्टर ने भी यही समझा।

लेकिन रात में पीडा बहुत बढ गई—नीद नही आई।

दूसरे दिन मैंने अपने परम मित्र दीवानबहादुर बलीराम तनेजा को बुलाया।

उन्होने मुझे धनवाद अस्पताल मे एक केबिन लेकर भरती करा दिया।

यहाँ २१ दिन रहा। बीमारी किसी की समझ में नही आई। मेरी दोनो आँखो मे घाव—आराईटिस और कोरनियल अलसर—हो गये। आँसू के रेले बहते रहते। चैन एक घडी नही। पीडा बढती गई। शरीर सूख चला। खाना-पीना बन्द। रात-दिन का छटपटाना।

आखिर कलकत्ता जाने का ही निश्चय किया गया। मेरे पास मेरी सेवा में थे—मेरे बडे दामाद।

हम शाम को कलकत्ता पहुँच गये। इस बार सेठ लछमनप्रसादजी के आग्रह से उनकी कोठी पर ही ठहरा। दूसरे दिन मैं डॉ० पी० एन० चौधरी (चक्षु-विशेषज्ञ) के पास गया। उन्होने मेरी दोनो आँखें देखी। उनका औजार मेरी दाईं आँख की ऊपरवाली पलक के भीतर एक मर्मस्थल पर जा लगा।

मैं बोल उठा, 'डॉक्टर साहब, यही जगह है जो पीडा का स्थान बनी हुई है।'

उन्होने सारा हाल पूछा। मैंने कह सुनाया। उन्होने उस स्थान को कुरेदा और एक अति सूक्ष्म कण बाहर निकाल दिया। फिर बोले, 'यह कण लोहे का है या कोयले का—बिना जाँच किये तो यह कहना मुश्किल है।'

मैंने कहा, 'अगर इलाज के लिए इसकी आवश्यकता समझे, तो जाँच जरूर करें, अन्यथा मैं कोई जरूरत नही समझता।'

'तब कोई जरूरत नही।' इतना कहकर वे चुप हो गये। फिर दवा लगाकर पट्टी बाँध दी। ३-४ घटे तो दर्द जरूर रहा, लेकिन शाम तक काफी आराम हो गया और रात मे नीद अच्छी आई।

मैं कलकत्ता नौ दिन रहा। दिनो-दिन मेरी भूख खुलती गयी। इतने थोडे दिनो मे ही काफी स्वस्थ हो चला। आँखो मे भी अब दर्द नही था। केवल जरा-सी ललाई और चौध बाकी थी। लेकिन काला चश्मा लगाने से चौध भी नही लगती थी।

मैं जैरामपुर वापस रवाना हो गया। मेरे पहुँचते ही घर में आनन्द की लहरें उठने लगी। मुझे स्वस्थ देखकर मेरी पत्नी और दोनो लडकियाँ बडी प्रसन्न हुईं।

दूसरे दिन मेरे दामाद ने जाने का प्रस्ताव किया। चलते समय जब उन्होने मेरे चरण-स्पर्श किये, तो बडी तीव्र इच्छा हुई कि इनको कुछ दे दूँ। और दे दूँ कुछ अनमोल। सो मैंने दे दिया उन्हें हार्दिक आशीर्वाद। कहा, 'जाओ बेटे, तुम लखपति बनोगे।'

प्रभु ने मेरी बात रख ली और मेरा आशीर्वाद फलीभूत हो गया। आज वह लखपति है और सब तरह से प्रसन्न है।

लेकिन मेरी आँखें पूरी तरह से स्वस्थ नहीं हुई, उनमें रोए रहने लगे। आँख की ज्योति कम हो गई, इसलिए मार्च या अप्रैल मास में कलकत्ता जाकर मैंने एक चश्मा ले लिया। आँख की इस बीमारी में जो भी खर्च हुआ था, वह मैंने अपने पास से ही किया था। केवल उस चश्मे के दाम २५) मैंने कोलियरी में लिख दिये।

कुछ ही दिन बाद सेठजी की चिट्ठी आ धमकी। उनके ख्याल से चश्मे की लागत कम्पनी में लिखकर मैंने भूल की थी।

मैंने २५) रुपये कम्पनी में वापिस जमा करा दिये। लेकिन उनको एक चिट्ठी अलग्ध लिख दी, जो इस प्रकार थी—

'सेठ साहब, पत्र आपका मिला। पढ़कर खिन्नता अवश्य हुई। मैंने २५) वापिस जमा करा दिये है। आँख में चोट कोलियरी का काम कराते समय आई थी। कलकत्ता आने-जाने का एवं इलाज का खर्च मैंने अपने पास से ही किया था, जब कि वह कम्पनी को ही करना चाहिये था। मेरी आँखों की ज्योति को हानि पहुची, अगर कोई दूसरा कर्मचारी होता, तो कम्पेन्सेशन जरूर ही मॉंगता, और वह उचित भी था। लेकिन मेरी मॉंगने की आदत नही। बल्कि मुझे तो इस बात का ख्याल ही मारे डालता था कि इतना पुराना होकर क्या जताना कि काम करते समय आँख में जोखिम पहुँच गई, और मुझे कम्पेन्सेशन मिलना चाहिये। खैर, कोई बात नही। आपकी प्रसन्नता में ही मेरी प्रसन्नता है।'

इस पत्र का मुझ कोई उत्तर नही मिला। दोनो तरफ चुप्पी थी।

मैं विचार करता रहा कई दिन तक कि मैंने चश्मे की लागत कम्पनी में लिखकर कहाँ तक गलती की थी। आत्म-ग्लानि महसूस करना चाहता था, ताकि ऐसी गलती दुबारा न होने पाये, लेकिन आत्म-ग्लानि पैदा नही हुई। तब मुझे सतोष हो गया, चलो, जो है सो ठीक है। आत्म-ग्लानि होती भी क्यो ? अगर कोई दूसरा कर्मचारी होता, तो कानूनन उसके इलाज का सारा खर्च हम वहन करते ही। मालिको को ऐसे विषयो में विचारशील और उदार रहना चाहिए। लेकिन 'समरथ को नहिं दोष गुँसाई' वाली बात सिद्ध हो गई। सामर्थ्यवान जो कर दे, सो ठीक है। इसी कारण कभी-कभी बड़े-बड़े सामाजिक विप्लव हो जाते है, जिसके कारण आगे चलकर समाज के कर्णधार पछताते नजर आते है। मालिको को अपने कर्मचारियो के प्रति सहानुभूति और सहयोग का रुख रखना चाहिए। इससे कर्मचारी भी उनके काम को अपना काम समझकर करेंगे, और इस तरह दोनो का ही हित होगा।

प्रकृति का प्रथम संकेत और डालमियाजी से मुलाकात

०

सायकाल का समय था। सूर्य भगवान अस्ताचल को चले जा रहे थे। मैं और मेरी पत्नी मकान के वराण्डे मे बैठे हुए बात-चीत कर रहे थे।

सहसा मैंने आकाश की ओर देखा। ऐसा लगा—कोई चीज मेरी तरफ चली आ रही है! मैं कह उठा, 'देखो, बडा अच्छा चान्स आ रहा है!'

मेरी पत्नी पूछ बैठी, 'किस तरह का चान्स ?'

मैंने कहा, 'अब मैं कैसे कहूँ ? वह अवस्था तो चली गई।'

मेरी पत्नी बोली, 'भूखा धाये पतीजे!'

मैंने उत्तर दिया, 'इसमें मैं क्या कर सकता हूँ ? मेरे मुँह से जो निकल गया, सो निकल गया। मेरी जानकारी में शब्द मुखरित होते, तब तो मैं आगे-पीछे का कुछ कह भी सकता था। यह तो प्रकृति बोली थी, जो मूक होते हुए भी वाचाल है। अगर यह सचमुच प्रकृति की आवाज थी, तो कुछ-न-कुछ होकर ही रहेगा। और अगर यह आवेश मात्र था, तो कुछ हो भी सकता है और शायद न भी हो। इसका निर्णय तो मेरे हाथ में है नहीं।'

फिर इस घटना को हम भूल भी गये।

एक दिन की बात है। मैं अपने ऑफिस में बैठा हुआ था। दोपहर का समय था। कोयले का एक व्यापारी आया। उसे कोयला लेना था। रुपये

जमा देकर वह बैठा हुआ बात करता रहा। हठात् वह बोला, 'अजी, आपको मालूम है, सेठ डालमिया ने करौंची की तरफ एक कोल-फील्ड लिया है। उसे एक अनुभवी कार्यकर्त्ता की जरूरत है। मैंने तो आज ही अखबार में पढा है। क्या आपके पास 'अमृत बाजार पत्रिका' है ?'

अखबार मेरे सामने ही पडा था। उसने उसे उठाया और उसमें तत्सम्बन्धी विज्ञापन मुझे दिखा दिया।

उसके चले जाने के बाद मैंने एक पत्र डालमियाजी को लिख ही तो दिया। मेरा पत्र पढकर डालमियाजी मेरी तरफ आकर्षित हो गये। वे २७ जून को बम्बई मेल द्वारा कलकत्ता से बम्बई जा रहे थे। गाडी रात्रि के करीब एक बजे धनबाद स्टेशन पर पहुँचती थी। उन्होंने मुझे एक मित्र के द्वारा स्टेशन पर भेंट करने के लिए कहला भेजा।

मैं निश्चित दिन स्टेशन गया। डिब्बे के नम्बर उन्होंने मुझे बता दिये थे। मैं ज्यो ही उस डिब्बे के सामने जाकर खडा हुआ, डालमियाजी ने दरवाजा खोला, मेरा नाम लिया और मुझे अन्दर बुला लिया। गाडी सिर्फ पाँच मिनट ही ठहरती थी। इसलिए उन्होंने मुझे अगले स्टेशन तक चलने के लिए कहा। तभी गाडी चल दी और हम दोनों के बीच इस प्रकार प्रश्नोत्तर होने लगे।

प्रश्न 'आप गोमो तक चल रहे है, मुझे भय है, कही आपका वहाँ चार्ज न हो जाय ?'

उत्तर 'जी नही, मैंने वहाँ तक का टिकट ले रखा है।'

टिकट टटोलने के बहाने मैंने उन्हे दिखा भी दिया। वे बडे प्रसन्न हुए।

प्रश्न 'गोयनकाजी, आपकी क्वालीफिकेशन क्या है ?'

उत्तर '१७-१८ साल से सेठ ताराचन्द घनश्यामदास की कोलियरी का मैं व्यवस्थापक हूँ। अँग्रेजी में भी अच्छी तरह से काम कर लेता हूँ।'

प्रश्न 'वहाँ से आप छोडना क्यो चाहते है ?'

उत्तर 'हमारी कोलियरी में गुजरातियो की पार्टनरशिप हो गयी है और अब पाँच-पाँच साल के रोटेशन से इन्तजाम बदलता रहेगा। दो साल के बाद उनकी पारी आनेवाली है। शायद वे लोग अपना ही आदमी रखना पसन्द करें। उनका कोई दोष भी नही, क्योकि सभी लोग 'की-पोस्ट' पर अपना आदमी ही रखना पसन्द करते है।'

प्रश्न 'आप क्या लेंगे ?'

उत्तर 'चार सौ रुपये मासिक।'

प्रश्न 'कब तक हमारे पास आ जायेंगे ?'

उत्तर · 'मैं एक मास का नोटिस दूँगा। लेकिन आऊँगा उनको प्रसन्न करके ही। अगर इसमें कुछ ज्यादा समय लग जाये, तो मेरी लाचारी ही समझी जायेगी।'

इस प्रश्नोत्तर के अन्त मे उन्होने कहा, 'आपसे बात-चीत करके मुझे बहुत प्रसन्नता हुई है। आप जरूर इस्तीफा दे दें, और उसकी प्रतिलिपि मेरे दामाद शान्तिप्रसादजी को डालमिया नगर भेज दें। मैं उनको भी खबर कर दूँगा।'

न मैंने उनसे कुछ लिखित माँगा, और न ही उन्होने खुद से मुझे कुछ लिखित दिया। इस जबानी बात-चीत के बल पर ही मैंने दूसरे दिन सेठ लछमनप्रसादजी को अपना इस्तीफा भेज दिया। लेकिन वे चुप्पी साधे रहे।

सात-आठ दिन के बाद जब मैंने एक रिमाइण्डर भेजा, तो उन्होंने मुझे कलकत्ता बुला लिया, और इस प्रकार बात-चीत शुरू हुई।

सेठजी बोले, 'मालूम होता है, आपने चश्मेवाली बात पर नाराज होकर इस्तीफा दे दिया है, सो आपके लिए ऐसा कदम उठाना उचित नही था। मैंने तो ऐसे ही लिख दिया था।'

मैंने उत्तर दिया, 'चश्मेवाली बात तो मैं कभी का भूल चुका था। दरअसल मुझे डालमियाजी से ४००) मासिक ऑफर मिल गया है, इस कारण मैंने उनके यहाँ जाने का विचार कर लिया हे। दूसरी कोई बात नही हे। आप मालिक है। जब मेरी सेवा की आवश्यकता पडे, मैं तुरन्त उपस्थित हो जाऊँगा। मैं आप लोगो का बहुत-बहुत अनुगृहित हूं। मुझे आपके यहाँ काम सीखने का अवसर प्राप्त हुआ, तभी तो आज बाजार मे मेरी कीमत हुई। मैं इस बात को भूल नही सकता।'

वे बोले, 'सो तो ठीक है, लेकिन आपके चले जाने से हमारा काम कौन देखेगा ? हम आपको नही छोड सकते। आपको अपना माथा ठीक करना चाहिये।'

मैं पशोपेश में पड गया। मैं आपस मे कटुता लाना चाहता नही था, वरना पुरानी बात कह देता कि 'एक दिन आपने ही कहा था कि तुम किशनलाल के आदमी हो। इसलिये तुम्हारी सर्विस आज से ही शुरू मानी जायेगी। और रही लेने-देने की बात, सो १७५) से १७६) भी नही होगा।' लेकिन यह कहने से आपस मे कटुता पैदा हो जाती, इसलिए मैं चुप ही रहा।

वे मुझे रोज सवेरे ही अपने पास बुला लेते। दोपहर को मैं उनके साथ ही खा लेता, और इसके बाद वे मुझे अपने सामने बैठा लेते, बार-बार यही एक

बात कहते जाते 'अपना माथा ठीक करो।'

यह प्रक्रिया करीब दस दिन तक लगातार चली।

एक दिन मैं कह बैठा, 'सेठजी, इस तरह करने से तो मुझे बडी तकलीफ होती है। कही आपको मुझे राँची न भेज देना पडे।'

वे मुस्कराकर बोले, 'तो चले जाओ कोलियरी और अपना काम करो।'

आखिर मैंने कोलियरी जाना स्वीकार कर लिया। उस वक्त और करता भी क्या ?

वहाँ से मै भाई किशनलालजी के पास आया। वे घर पर ही थे। बोले, 'क्या हुआ ? भूत उतरा कि नही ?'

मैंने उत्तर दिया, 'जी हाँ, एक दफा तो उतर गया है। मैं अभी कोलियरी चला जा रहा हूँ। देखें, आगे क्या होता है ?'

वे चुप रहे।

मैं उसी रात को कोलियरी पहुँच गया। मैंने अपनी पत्नी को सारा हाल कह सुनाया।

सुनकर वह बोली, 'मैं इस बात से सहमत नही हो सकती। सेठजी अब लल्लो-चप्पो की बात क्यो करते है ? दूसरी बात यह है कि यह अवसर तो प्रकृति माता का भेजा हुआ है। इसका लाभ तो हमें उठाना ही चाहिए। आखिर हम लोग भी कहाँ तक तकलीफ पाते रहेंगे ? इकतरफा ताली नही बजती। लेकिन खैर, कोई बात नही। देखें, प्रकृति देवी क्या करती है ?'

इसके पाँच-सात दिन बाद ही डालमियाजी का पत्र आ गया कि एक दफा डालमियानगर आ जाओ, और किस दिन पहुँच रहे हो, इसकी सूचना तार द्वारा दो।

फिर उत्साह ने जोर मारा और मैंने कलकत्ता समाचार दे दिया कि मैंने जाने का ही निश्चय कर लिया है, इसलिए कृपया लिखें कि चार्ज किसको दूँ।

मुझे फिर कलकत्ता बुलाया गया और फिर वही रफ्तार चालू हो गयी। मेरे मानसिक कष्ट का ठिकाना नही था। शिष्टता छोडना मैं चाहता नही था, और न ही कटुता लाना चाहता था। अब करूँ तो क्या करूँ ?

मैं जब भी कलकत्ता जाता, सदा भाई किशनलालजी के यहाँ ही ठहरता था। जब सेठजी के यहाँ से शाम को आता, तो परस्पर खूब मजाक होता और जी कुछ हल्का हो जाता।

थोडे दिन और इस अग्नि-परीक्षा का सामना करके मैं खाली हाथ कोलियरी

लौट आया। समझ मे नही आता था कि किया क्या जाये ?

मैं इस अनिश्चय की स्थिति में ही था कि तभी डालमियाजी का ट्रङ्क-काल आया। उन्होने कहा, 'अगर वेतन की कमी के कारण आपने आने का विचार ढीला कर दिया हो, तो हम ५००) रु० मासिक दे देंगे, लेकिन आप फौरन चले आइये।'

मैंने कहा, 'मुझे सेठ लछमनप्रसादजी छोड नही रहे है। दो बार तो मैं कलकत्ता जाकर वापस चला आया हूँ। मैं अभी भी कोशिश कर रहा हूँ। आपने ५००) का ऑफर दिया, इसके लिए मैं आपका आभारी हूँ, लेकिन मैं आऊँगा, तो चार सौ पर ही आऊँगा। मेरे काम मे प्रसन्न होने पर आप जो भी दे देंगे, वडी प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार कर लूँगा। लेकिन अभी तो चार सौ पर ही आऊँगा।'

डालमियाजी वडे खुश हुए और उन्होने मेरे चले आने पर काफी जोर दिया।

दूसरे दिन मैने फिर कलकत्ता लिख दिया कि मेरा मन यहाँ पर लगता नही है। आपके काम का हर्जा हो रहा है। मेरा जाना आवश्यक है। आप चार्ज लेने का इन्तजाम कर दें।

इस वार फिर कलकत्ता बुलाहट हुई। लेकिन इस बार पेशी हुई सेठ श्रीनिवासदासजी के सामने। वे देखते ही बोले, 'मुझे तो मालूम ही नही था कि आपके और लछमन के बीच इतनी कशमकश चल रही है, वरना मैं तो दो मिनट में ही फैसला कर देता। पुराने आदमी भी कही छोडे जाते है ? और फिर हम भी आपको आपकी योग्यतानुसार वेतन क्यो नही दें ? आखिर आपके भी बाल-बच्चे है। खर्चा लगता ही है। हम नही देंगे, तो आयेगा कहाँ से ?'

इस प्रकार उन्होने शुरू मे ही सहानुभूति की भूमिका बाँध दी। मैं मूक था। मैं देखना चाहता था कि देखें, प्रकृति क्या करना चाहती है।

सेठजी फिर कहने लगे, 'जरा-सी बात को तय करने में लछमन ने इतने दिन लगा दिये ? और आपस में इतना सघर्ष चलता रहा ? यह अच्छी बात नही। खैर, ठीक है, अब आपको ३००) रु० मासिक और ५००) सालाना पगडी मिला करेगी।'

मैं कुछ कहना चाहता था, लेकिन उन्होने मुझे बोलने का अवसर ही नही दिया और झट् सेठ लछमनप्रसादजी का फोन पर अपने फैसले की सूचना दे दी। मेरा खयाल है, इन्होने पहले से ही आपस में विचार-विमर्श कर रखा था। ऐसी

परिस्थिति में मैं क्या करता ? चुपचाप वापस कोलियरी चला आया। लेकिन मेरी पत्नी इस फैसले से सन्तुष्ट नही थी। वह जाने पर ही अडी हुई थी। मैं भी जाने को राजी हो गया। सोच लिया कि जब पत्नी ही रहने को राजी नही, तो फिर चल देना ही ठीक है। दूसरे दिन सामान बाँधने का निश्चय कर लिया, लेकिन अभी कलकत्तावालो को अपने इस निर्णय की सूचना नही दी। मै तो प्रकृति की आवाज सुनना चाहता था।

दूसरे दिन उठकर मैं अपना सामान सहेजने लगा। सबसे पहले सजाने लगा किताबें। लेकिन थोडी ही देर मे मुझे बुखार हो चला—बिना किसी कारण के। ज्यो-ज्यो मैं तैयारी में लगा रहा, बुखार बढता चला गया। मैं हैरान था। मैंने अपनी पत्नी से कहा, 'अब तुम्ही कहो, मै क्या करूँ ? मेरी तो समझ में नही आ रहा है कि कौन-सा रास्ता पकडूँ ?'

मेरी पत्नी बोली, 'छोडो सब झझट। यही रहेगे। यहाँ से अन्न-जल उठा नही दीखता। भगवान को देना होगा, तो फिर कोई चान्स दे देगा। उसके हाथ बडे लम्बे है।'

सुनकर मैं लेट गया। आप विश्वास करें या न करें, लेकिन सत्य यही है कि थोडी देर में ही मेरा बुखार काफूर था। चित्त प्रसन्न था।

दोपहर मे मैंने भर पेट खाना खाया। फिर काम में जुट गया। डालमियाजी को लिख दिया, 'मुझे सेठ लाग आने नही देते, इसलिये मै लाचार हूँ। आप क्षमा करेंगे।'

उन्ही दिनो मेरी लडकी के दूसरा बच्चा हुआ। राजन इस समय पौने दो साल का हो चला था। बाई बीच-बीच में हमारे यहाँ आती रहती। स्वाभाविक ही था, राजन हम लोगो से कुछ-कुछ हिल-मिल चला था।

इस समय कोलियरी की हालत बहुत अच्छी हो चली थी। रेजिंग काफी होने लगा था। दस न० सीम से भी कोयला काफी तादाद मे निकल रहा था।

प्रकृति का दूसरा संकेत

०

सन् १९४० के १५-१६ नवम्बर की बात है। वही सायकाल का समय, वही स्थान। आज मुझे प्रकृति का दूसरा सकेत मिला। मै और मेरी पत्नी पश्चिम की ओर मुँह किये बैठे थे। हठात् मेरा ध्यान क्षितिज की ओर गया। मुझे ऐसा प्रतीत हुआ जैसे उस दिन की तरह आज फिर कोई चीज तेजी से मेरी तरफ चली आ रही है। मै फिर बोल उठा, 'यह देखो, फिर चान्स आ गया।'

इस बार तो मेरी पत्नी को मेरी बात का विश्वास होना ही था। वह पूछ बैठी, 'कैसा है यह चान्स ?'

मैंने कहा, 'पहले से बेहतर ही होना चाहिये।'

यह मैंने अपनी तरफ से कहा था।

बात आई-गई हो गई। हम इस बार भी भूल गये। इस बारे में फिर कभी बात ही न चली।

२७ जून को मैं कार्यवश कलकत्ता गया। सेठो के यहाँ दोपहर का भोजन हुआ। भोजन के बाद मैं, सेठजी तथा महावीर बाबू बैठक मे बैठे पान-सुपारी खा रहे थे। महावीर बाबू बोल उठे, 'देखिये गोयनकाजी, आपने हमको ब्लफ देकर रुपये बढवा लिये है।'

बोले वे हँसते हुए ही। सेठजी के चेहरे पर भी मुस्कराहट थी।

मने भी व्यग्य मे ही कहा 'जी, ठीक ही है। करता भी क्या ?-आप रुपये दे नही रहे थे, तो कोई रास्ता तो निकालता ही आपसे रुपये ऐंठने का। लेकिन एक बात कह दूँ, अगर मैंने सचमुच आपको ब्लफ दिया हो, तो आज से एक बिन्दी कम पर, यानो सिर्फ ३०) मासिक पर ही जीवन भर आपके यहाँ काम करता रहूँगा—चाहे मुझे कितनी भी तकलीफ क्यो न उठानी पडे। लेकिन यदि बात सच्ची निकल आई, तो साहब, तैयार हो जाइये एक बिन्दी और बढा देने के लिये।'

मेरी बात सुनकर महाबीर बाबू सिटपिटा गये, और दबी आवाज मे बोले, 'हमने तो मजाक मे कहा था, आप इसको सीरियसली ले गये।'

मैंने कहा, 'जी, आपने तो मुझसे मजाक नही किया है, मजाक किया है भगवान से। वो जानें और आप जानें।'

बात यही खत्म हो गई। मै कोलियरी चला आया।

२८ जून को महावीर बाबू कोलियरी पहुँचे और २६ जून को अचानक डालमियाजी का तार आ गया। उन्होने मुझे दोपहर की पहली गाडी से ही रवाना होकर डालमियानगर पहुँचने को लिखा था।

तार पहुँचा, उस समय मैं और महाबीर बाबू भोजन कर रहे थे। मालिक लोग आते, तो उनके लिये ऑफिसवाले रसोई-घर मे ही रसोई बनती। मैं भी उनके साथ ही जीमता। मेरे घर में इन लोगो का भोजन न बनता। कारण यह था कि इन लोगो के भोजन वगैरह मे खर्च काफी बैठता। यह खर्च झेलना मेरी औकात के बाहर था। दूसरी ओर, इन लोगो को अपने घर मे भोजन कराना और फिर ऑफिस में उसका खर्च लिखना—यह बात न मुझे सुहाती, न मेरी पत्नी को ही।

भोजन के बाद महाबीर बाबू तो आराम करने अपने कमरे में दाखिल हो गये, और मैं चला आया अपने बँगले पर। मुझे देखते ही मेरी पत्नी कहने लगी, 'अजी, आज इतनी प्रसन्न मुद्रा में कैसे है ? हाथ में तार-सा क्या है ?'

मैं चुप था, लेकिन मुस्कराहट मे कमी न थी।

वह अधीर हो उठी। कहने लगी, 'आप बताते क्यो नही कि क्या बात है ? खुशखबरी तो जरूर ही नजर आती है, फिर यह चुप्पी क्यो ?'

मैं बोला, 'लो, दूसरी भविष्यवाणी भी सच्ची हो गई। यह आ गया दूसरा चान्स। डालमियाजी का तार है। तुरन्त बुलाया है। बाप-बेटे ने ताना मारा था, लेकिन ईश्वर कृपा करें तो मनुष्य बेचारा कर ही क्या सकता है ? ईश्वर तो

मनुष्य को अच्छे काम का ही निमित्त बनाना चाहता है, लेकिन यह बिचारा बनना चाहता नही। बधिक बनने मे ही अपनी शान समझता है। लेकिन उसकी मर्जी के सामने किसी की चलती नही।'

मेरी पत्नी बोली, 'तो अब क्या करने का विचार है? मैं तो कहूँगी, हमको चले ही जाना चाहिये। इन लोगो का हृदय बडा ही सकुचित है। ऐसों के पास काम करने मे मजा नही। इनका यह कह देना कि तुमने 'ब्लफ' देकर रुपये बढवा लिये है, इनको कहाँ तक शोभा देता है, यही जानें। इनको तो यह कहना चाहिये था, कि आपके द्वारा कोलियरी उन्नति कर रही है तो आपकी भी साथ-साथ उन्नति हो, इसी मे हमको प्रसन्नता है। इनका इसी में बडप्पन था। लेकिन गरीबी तो पाप है—उसका फल तो भोगना ही पडता है।'

मैंने कहा, 'देखो, ऐसी बातें नही कहनी चाहिए। जो कुछ भी देखती हो, सबको प्रकृति की ही देन समझो। प्रकृति बडी ही न्यायशील है। देर-सवेर हो सकती है, लेकिन सृष्टि में न्याय होने में कसर नही रहती। लेकिन सब लोग तो इस बात को समझ नही सकते, इसके अलावा, अपना-अपना दृष्टिकोण होता है। इसलिये हमको किसी को भी तिरस्कार की दृष्टि से नही देखना चाहिए। जिसका जितना कोमल और स्वच्छ हृदय होता है, उतना ही उसका दृष्टिकोण परिष्कृत होता चला जाता है। लेकिन यह निर्भर करता है सुसस्कारो पर। प्रभु की इच्छा बिना यह भी बन पाता नही। खैर, बातें बहुत हो गई। तुम अधीर भी हो चली हो, इसलिए मैं तुमको वास्तविक परिस्थिति के बारे में बता देता हूँ। देखो, यह हमको सहसा छोडेंगे नही। हमको देने की काफी गुजाइश है इनके पास। इसके अलावा, हम अपने-आप यह निर्णय भी कैसे कर लें कि हम यहाँ रहेंगे, कि यहाँ से चले जायेंगे? हमारे हाथ में यह भी तो नही है कि हम जो चाहे वह होकर ही रहेगा। हम तो प्रकृति माता की गोद में बालक समान है। जैसे वह रखे, रहेंगे। हाँ, हमको अलबत्ता यह ध्यान जरूर रखना चाहिये कि अपने पथ पर सही कदम उठाते चले जायें। फिर जो होगा, सो होगा। प्रकृति की माया का छोर तो नजर आता नही। जीवन के दोनो छोर सदा अव्यक्त ही बने रहे है, और बने रहेगे। तभी तो यह पहेली बनी हुई है। छोर नजर आ जाये, तो मनुष्य बहुत कुछ सँभल जाये। इन छोरो को तो 'उसने' अपने हाथ में ले रखा है। केवल पुतली नाचती नजर आती है। उसे कौन नचाता है, कुछ मालूम पडता नही। वही हाल हमारा है। अभी तक मैंने यह तार महाबीर बाबू को दिखाया नही है। तार देखकर वे भडके बिना नही रहेगे। हम तीन बजे जायेंगे, तब दिखायेंगे और हमारा सारा पत्र-व्यवहार भी दिखायेंगे। देखें, क्या कहते

है ? मैं डालमियाजी से एक बार मिलने तो जरूर जाऊँगा। प्रकृति की आवाज झूठी पड़नेवाला नहीं। तुमने मेरे साथ-साथ इतना कष्ट उठाया है, तो उसका सुफल भी तो मिलकर ही रहेगा। तकलीफ के बादल फटे बिना नहीं रहते। फटने के बाद प्रकाश होता ही है। यह प्रकृति का अटल नियम है। यह ध्रुव सत्य है। इसे कौन मिटा सकता है ?'

दोपहर में मैं ऑफिस गया। महावीर बाबू से पहले तो इधर-उधर की बातें होने लगी। फिर मैं बोल उठा, 'यह देखो, डालमियाजी से मेरे पत्र-व्यवहार की फाइल। और यह देखो, आज का उनका तार।'

फाइल देखी तो बोल उठे, 'इसमें ४००) वेतनवाली चिट्ठी कहाँ है ?'

मैंने वह चिट्ठी भी दिखा दी। लेकिन उनकी बात सुनकर मैं तुरन्त समझ गया कि उस दिन का रिमार्क अकारण नहीं था, सिर्फ मजाक ही नहीं था। इन लोगों के दिल में सन्देह था—और भरपूर था। इनका खयाल था कि मैंने दमपट्टी देकर अपना वेतन बढ़वा लिया है। लेकिन अब महावीर बाबू ने ताजा-ताजा तार देखा तो चकराये, और बोले, 'यह तार कैसे आया ? आपने जरूर कुछ लिखा-पढ़ी की होगी ?'

मैंने उत्तर दिया, 'फाइल आपके सामने पड़ी हुई है। अगर आपको इसमें कोई सूत्र मिले, तो कहियेगा। फाइल तो एक साल पहले ही खतम हो गयी थी।'

तब बोले, 'तो अब आप क्या करेंगे ?'

मैंने उत्तर दिया, 'करना क्या है ? एक बार जाऊँगा तो जरूर। देखूँ, क्यों बुलाया है ? मुझे तो इस तार का सन्दर्भ मालूम नहीं। जाने से ही मालूम होगा।'

वे बोले, 'पहले आपको पिताजी के पास चलना होगा।'

हम दोनों साँझ की गाड़ी से कलकत्ता चले गये। कलकत्ता पहुँचकर चार-पाँच दिन तो कोई बात नहीं हुई। सेठजी बात ही नहीं करें। मन में काफी तकलीफ मान रहे थे।

आखिर मैंने कहा, 'जी, एक बार मुझे जाने दीजिये, फिर आपकी जैसी आज्ञा होगी, मैं वही करूँगा।'

सेठजी ने कच्छियों को बुलाकर मीटिंग की। इस निर्णय पर पहुँचे कि मेरा वेतन ५००) मासिक कर दिया जाय, और कुछ प्रतिशत मुनाफे में से दे दिया जाय, ताकि सब मिलाकर १०००) मासिक से ज्यादा ही पड़ता रहे। साथ ही मेरी सर्विस की पाँच साल की गारन्टी भी दे दी जाय, ताकि मैं स्थिरता से काम करता चला जाऊँ।

मैंने उनका यह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। लेकिन अन्त में मैंने कहा, डालमियाजी से एक बार मिलने तो जरूर ही जाऊँगा, लेकिन नौकरी के बारे में उनसे कोई बात नही करूँगा। चाहे वे मुझे कितना भी ऑफर क्यो न दें।'

यह बात उन्होने भी मजूर कर ली।

मैं डालमियानगर चला गया और शान्तिप्रसादजी से मिला। वे मुझे अपनी 'खरखरी महेशपुर' कोलियरियो पर रखना चाहते थे। उन्होंने आठ सौ रुपया मासिक ऑफर दिया।

मैंने उत्तर दिया, 'भविष्य में कोई अच्छा चान्स देंगे, तो मैं आ जाऊँगा, लेकिन आज नही आ सकूँगा।'

तब उन्होने मुझसे कहा कि मैं उनकी दोनो कोलियरी का निरीक्षण करके उनको एक रिपोर्ट दे दूँ।

मैं उनकी चिट्ठी ले गया, और दोनो कोलियरियो का निरीक्षण करके एक रिपोर्ट तैयार की, और शान्तिप्रसादजी को डालमियानगर दे आया। रिपोर्ट पाकर वे बडे प्रसन्न हुए।

उन्होने मुझसे दोनो बार आने-जाने के खर्च का बिल माँगा।

मैंने कहा, 'आप जितनी भी बार मुझे बुलायेंगे, मैं बडी प्रसन्नतापूर्वक आऊँगा, लेकिन आने-जाने का खर्चा न लूँगा।'

वे जोर दे रहे थे और मैं इन्कार करता जा रहा था। तब प्रसन्न होकर उन्होने मुझे विदा किया। मैं अपनी कोलियरी आ गया।

मेरी स्त्री बहुत प्रसन्न थी। मुझे देखते ही बोली, 'आपने जो सोचा था, वही हुआ।'

मैंने उत्तर दिया, 'ऐसी बात नही है कि मैंने जो सोचा था, वही हुआ। दरअसल, मुझे इस जगह को छोडकर चले जाने मे उत्साह नही मालूम दे रहा था, इसलिये मैं समझ गया था कि प्रकृति की अभी तक अनुमति नही है कि मैं छोडकर चल दूँ। जहाँ भगवान रखेंगे, वही तो रहना होगा। इसके विपरीत होगा कैसे? मनुष्य का सोचा तो कुछ होता नही। होता तो वही है, जो 'उसे' मजूर होता है।'

विश्वास तो है ही । वे मुझे कैसे छोड सकते है ? और फिर मेरे साथ एक साक्षात् शक्ति भी तो लगी हुई है । उसका प्रभाव कहाँ लोप हो सकता है ?'

मेरी पत्नी ने कहा, 'अपनी चीज को सभी सराहते है । वरना, भला मैं शक्ति कहाँ से बन गयी ?'

मैंने कहा, 'अरे, तुम भूल गई ! सन् १९२६ मे जब मेरी हालत मरणासन्न हो चली थी, और मैंने एक लडका गोद लेने का प्रस्ताव किया था, तो तुमने किस जोश के साथ उस प्रस्ताव को ठुकरा दिया था, और कह उठी थी—'मेरी चूनडी में पूरा बल है, और मेरे सुहाग का बाल भी बाँका नही हो सकेगा ।' क्या तुमने उस समय अपनी शक्ति का परिचय नही दिया था ? और क्या उसी दिन से मेरे स्वास्थ्य में परिवर्तन शुरू नही हो गया था ? मैं बीस-पचीस दिन मे ही ठीक होकर कोलियरी आ गया था । मैंने तुम्हारी शक्ति का प्रदर्शन देखा है । मैं भूल नही सकता । मेरी यह मान्यता है कि स्त्री, पुरुष की शक्ति है । इजन बिना भाप के चल नही सकता । चलता नजर आता है इजन, लेकिन करामात है उस भाप की, जो बाहर से नजर नहीं आती ।'

फिर मैं हँसी में बोल उठा, 'बोलो अन्नपूर्णा देवी की जय !'

मेरी पत्नी बडी ही शरमायी और कहने लगी, 'देखिये, आपकी मर्जी आये सो करें, लेकिन कृपया मेरे अन्दर अहकार मत जगायें । अहकार अच्छी चीज नही । सब कुछ उसी प्रभु की कृपा और आपकी निष्ठा का फल है ।'

पिता का सुयोग्य प्रतिनिधि

०

तभी एक दुखद घटना घट गई। [illegible] कि बड़े भाईसाहब की मृत्यु का तार आया। हम लोग उसी [illegible] सातवें-आठवें दिन घर पहुँच गये। वह हृदय-विदारक दृश्य था।

द्वादशा हो जाने के बाद हम लोगों ने वापस आने की तैयारी शुरू की, लेकिन भाईसाहब बेहद उदास थे। इसलिए हम सभी भाई कुछ दिन और ठहर गये।

तरुणावस्था के बाद वृद्धावस्था में मानसिक दृष्टिकोण में भी कुछ फर्क आ ही जाता है, यह फर्क सिर्फ उन्हीं में नहीं आ पाता जो भगवतापन्न बन रहते हैं।

हम सब भाई-भतीजे एक दिन भाईसाहब के साथ बैठक में बैठे हुए थे। हठात् भाईसाहब ने कहा, 'यदि तुम लोगों के ऊपर मैंने इतना खर्च न किया होता, तो आज मेरी आर्थिक अवस्था कुछ और ही होती।'

दरअसल, उनकी आर्थिक अवस्था बिगड़ने का कारण उनका लड़का एवं उनके पौत्र थे, जिन्होंने सट्टेबाजी वगैरह में उनका अर्जित किया हुआ धन नष्ट कर दिया था। लेकिन भाईसाहब के मुँह पर यह बात कहने की किसी की हिम्मत नहीं हुई, इसलिए सब चुप ही रहे। लेकिन मैं चुप नहीं रह सका, क्योंकि भइया का संकेत भी शायद मेरी तरफ ही था। मैंने कहा, 'भाईसाहब, आपने हम लोगों के लिए क्या किया, कुछ याद नहीं आता।'

इतना सुनना था कि उनकी आँखो से खून बरसने लगा। चेहरा तमतमा उठा। इस आवेश का आधार था मैं, यानी मेरे शब्द ! मैं सबसे छोटा था, उनका सबसे अधिक स्नेह-भाजन था। मेरे प्रति उनका जीवन पर्यन्त जो व्यवहार रहा, वह तो आप पहले ही पढ चुके है।

ऐसी स्थिति मे मेरा उक्त कथन सुनकर उनका आवेश मे आ जाना असगत नही कहा जा सकता। मैंने नम्रता से कहा, 'भाईसाहब, अपने जीवन में आप एक गलती कर गये। एक दिन भी यदि आपने जता दिया होता कि एक बडा भाई एक पितृहीन और मातृहीन भाई का लालन-पालन कर रहा है, तो मैं अवश्य ही अपने भाई का कृतज्ञ रहता। लेकिन आपने आज तक यह जानने ही नही दिया कि हम पितृहीन थे, और है। आज भी हम तो यही महसूस करते है कि अपने पिता के घर मे ही रहते है। हमे तो एक दिन भी ऐसा अनुभव प्राप्त करने का अवसर नही आया कि मैं अपने भाई और भावज के घर में अथवा उनकी शरण में हूँ। फिर बोलिये, इसमे हमारा क्या दोष ? पुत्र तो हमेशा अपने पिता का क्षमा-पात्र और स्नेहभाजन होता है। दूसरी बात यह कि, हमारे पूज्य पिताजी ने अपने पीछे एक बलिष्ठ और सुयोग्य प्रतिनिधि छोडा था, उसके द्वारा हमारा पालन-पोषण हुआ, लेकिन उस प्रतिनिधि ने भी पिता का रूप धारण करके ही हमारा पालन किया था, जिस रूप मे एक दिन भी भूल से भी फर्क नही आने पाया।'

मेरी यह बात सुनते ही भइया का पारा ९५ डिग्री पर आ पहुँचा। तुरन्त हँसकर बोले, 'तू धूर्त है ! लेकिन मेरा बडा प्यारा धूर्त !'

मैंने उत्तर दिया, 'भाईसाहब, हम जो है, जैसे है, है हम आपके ही। पुत्रवत् मानिये, भाईवत् मानिये, दासवत् मानिये, है आपके, रहेगे भी आप ही के।

फिर मैंने भाईसाहब से विदाई की आज्ञा माँगी, तो वे खिन्न मन तो अवश्य हुए, लेकिन इस शर्त पर उन्होने मुझे आने दिया कि उनके बुलावे पर मैं तुरन्त उनकी सेवा में उपस्थित हो जाऊँगा।

मैं बोला, 'इसमे भी कुछ कहना है क्या ? आप यह बात सोच ही कैसे सकते है कि आपको बुलाहट हो, और हम न आयें ? आप अपने दिल मे इस तरह की कमजोरी लाते ही क्यो है ?'

इसके बाद हम सभी चले आये। लक्ष्मीचन्द्र सात लडके और एक लडकी छोडकर मरा था। दो लडको की शादी हो चुकी थी। बडे लडके के एक लडका भी हो गया था। दूसरा लडका बिडला फर्म मे था। आज इन भाइयों मे छठा भाई कैलाशचन्द्र गोयनका बडा ही मातृभक्त है।

प्रेम : एक विश्लेषण

सन् १९४१ की बात है। भइया की तबियत कुछ खराब हो गयी थी, इसलिए मुझे फिर स्कूल से बुलाहट आ गयी। इस बार मैं वहाँ एक मास रहा। हमारी नाना विषयों पर वार्ता होती रहती। भइया अच्छे व्याख्याता तो थे ही।

एक दिन प्रश्न छिड़ गया कि प्रेम क्या वस्तु है?

मैंने कहा, 'प्रेम के ऊपर हमारे जैसे साधारण जीव क्या कह सकते हैं? सूर और कबीर जैसे महापुरुषों ने भी इस पर इतना कुछ कहा है, आचार्यों ने इसकी अलग-अलग परिभाषाएँ दी हैं, और बड़े-बड़े कवियों ने अपनी-अपनी सूझ के अनुसार इसके बारे में लिखा है। लेकिन अभी भी इसकी परिभाषा अधूरी-की-अधूरी ही बनी हुई है। इसका क्षेत्र इतना विस्तृत और गहरा है कि इस पर बराबर ही कुछ-न-कुछ कहने की गुंजाइश बनी रहेगी।

'यह ढाई अक्षर का शब्द है क्या बला—समझ में ही नहीं आता। सभी इसको जानने के पीछे पड़े रहते हैं। जिसके हाथ यह आ भी जाता है, वह भी कुछ बोलकर नहीं समझा सकता, मूक हो जाता है। यह वाणी का विषय बन ही नहीं पाता। पूर्ण को अपूर्ण कैसे व्यक्त करे?

'किस अवस्था में इसका उद्भव होता है, और इसका उद्भव होने पर क्या अवस्था होती है—इसका तो हम अदाज लगा सकते है, लेकिन यह है क्या वस्तु, कहना कठिन है।

'सूरदास ने कहा है—'प्रेम गली अति साँकरी, जामें दो न समाय।' इसका आशय यही हो सकता है कि हृदय-स्थान इतना सँकरा है कि उसमे एक साथ दो वस्तुओं का समावेश नही हो सकता। या तो इसमें ससार रह ले, या प्रभु। ससार बडा मोहक है, और इसके व्यामोह से केवल अध्यात्म-जगत के शूरवीर ही विलग रह पाते हैं। जब तक इसको हृदय से निकालकर फेंक न दिया जाय, और गगाजल-रूपी पवित्रता से हृदय का अच्छी तरह प्रक्षालन न किया जाय, तब तक उस हृदय में प्रभु का प्रादुर्भाव नही हो सकता। प्रेम एक रस है, और प्रभु भी रसमय ही हैं—जैसे सूर्य और सूर्य की किरणें। सूर्य है, तो किरण है। प्रभु के बिना प्रेम का अस्तित्व ही नही। और जितने भी भाव इसके नाम से वर्णित होते है, उनमें तीनो गुणो का सम्पुट—कम या ज्यादा मात्रा में—निरन्तर बना रहता है। इस विषय में कबीर की उक्ति भी कम महत्व नहीं रखती। वे कहते है—'यह तो घर है प्रेम का, खाला का घर नाहिं। मूँड कटाये भुँई धरे, सो पैठे घर माहिं।'

'भाईसाहब, प्रेम तो उस दूध के समान है, जो खटास की जरा-सी गध भी सह नही सकता। देखिये न, दूध उबालने की हाँडी को साफ करने में यदि जरा भी कमी रह जाय, तो उसमें दूध औटाने पर फटे बिना न रहेगा। दूध में काँजी के छींटे पडने पर भी दूध फटे बिना नही रहता। अब यो कहें कि हृदय हमारी हाँडी है, दूध प्रेम है, और काँजी है काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य। हृदय से जब तक ये काँजी-रूप भली प्रकार दूर न कर दिये जायें, तब तक हृदय-रूपी हाँडी में दूध कभी भी सुरक्षित नही रह पायेगा।

'प्रेम, ब्रह्म, आनन्द एक ही कोटि के शब्द हैं, या यो कहें, एक-दूसरे के पर्यायवाची है। इनको पाने का एक ही रास्ता है—प्रभु का प्रेम, प्रभु की शरणागति, उसमें अनन्य विश्वास। इस प्रेम के बल पर ही तो अभी-अभी रवि बाबू, स्वामी रामकृष्ण इतने उच्च कोटि के सन्त-महात्मा हो गये हैं।

'स्वार्थ-शून्य भावना ही प्रेम की आधार-शिला बन सकती है। जब यह भावना बलवती बन जाती है, तो यह उस उत्स का रूप धारण लेती है, जिससे शान्ति और आनन्द की धारा बह चलती है। इसके मूल स्रोत में 'देने' की भावना बडी ही बलवती बन जाती है, और 'लेने' की भावना का स्पर्श मात्र नही रहता।

'प्रेम के उद्भव में दो वस्तुओं का अनुभव अवश्य होता है—सुख और आनन्द। सुखानुभूति भौतिक उपकरणों के ऊपर आधारित रहती है, इसलिए सुख स्थिर और स्थायी नहीं रह पाता। सुख तीनों गुणों का कार्य-रूप भी तो है। इस सुख में विषाद, खिन्नता आये बिना नहीं रहते। इसकी धारा अविच्छिन्न नहीं है। दूसरी ओर, आनन्द की धारा अविच्छिन्न है, भौतिक साधनों से परे है, गुणातीत है। यहाँ जीव और ब्रह्म का मिलन है, एकीकरण है। आनन्द शाश्वत है। सुख क्षणिक है। जिस प्रेम में आनन्द की अनुभूति है, उसी को हम प्रेम की उपाधि दे सकते हैं।'

मेरे मुख से प्रेम का यह विश्लेषण सुनकर भाईसाहब बहुत प्रसन्न हुए।

श्रेय का अधिकारी कौन ?

०

उन्ही दिनो की बात है। एक दिन हम दोनो भाई बैठक में बैठे हुए बात-चीत कर रहे थे, कि भाईसाहब अचानक बोल उठे, 'अच्छा, एक बात बताओ, निरजन ! इस गृहस्थी के लालन-पालन करने का श्रेय किसको है ?'

मैं झट् से उत्तर दे बैठा, 'आपको। इसमें दूसरी बात हो ही क्या सकती है ?'

भाईसाहब ने कहा, 'तुमने उत्तर देने में जरा शीघ्रता की। मैं तुमसे गहरा और गभीर उत्तर चाहता था।'

मैं सोचने लगा, लेकिन किनारा नजर न आया। तब मैंने हारकर कहा, 'भाईसाहब, इसके परे तो मेरी बुद्धि काम नही कर रही है। आप ही प्रकाश डालने की कृपा करें।'

भइया बोले, 'दरअसल यह श्रेय तेरी भाभी को है। यदि वह हठधर्मी का प्रश्रय ले लेती, तो मैं क्या कर पाता ? मैं तो इतना ही कर सकता था, बल्कि शायद इतना भी नही, कि तुम्हे कही दूर रखकर लिखा-पढा देता, लेकिन तुम घर के वातावरण से भी वचित रहते, और मैं तुम्हारी शादी-ब्याह भी नही कर पाता।'

मैंने उत्तर दिया, 'भाईसाहब, मैं आज प्रभु का बडा कृतज्ञ हूँ कि उसने आपके द्वारा मेरी आँखें खोल दी हैं। मैं तो अंधकार के गर्त में पडा हुआ था। बुद्धि सही बात तक पहुँच ही नही पा रही थी। भाई-भाई का स्नेह तो सहज-स्वाभाविक स्नेह है। उसमें कोई विशेपता नहीं है। विशेपता तो मेरी भाभी की है, जो अपने देवरो का पुत्रवत् लालन-पालन करती रही, और अपने पति के धर्म-पथ को विशेप प्रशस्त बनाती रही।'

मेरी बात सुनकर भाईसाहब के चेहरे पर सन्तोप की एक उजली आभा उभर आयी। लेकिन उन्होने जरा विचारकर कहा, 'यह तो सच है कि गृहस्थी के संचालन मे प्रमुख हाथ स्त्री का ही रहता है, लेकिन साथ ही यह भी सच है कि पुरुप को कभी स्त्रैण नही बनना चाहिए। स्त्रैण बन जाने से स्त्री का मर्यादा के बाहर चले जाने का भय रहता है। पुरुप जितना दृढ बना रहेगा, स्त्री भी उसकी दृढता के सानुकूल ही चलती जायेगी। पुरुप की दृढता स्त्री के लिए अकुश का काम करती है। अकुश-हीन हाथी प्रलयकर होता है।

'मनुष्य हो चाहे जानवर, अंकुश को सहने में बडी खिन्नता का अनुभव करता है। अकुश उसको सहन नही होता। वह अकुश को निरर्थक और अत्याचार के रूप में अनुभव करता है। यह तो वह अनुभव ही नही कर पाता कि बिना अकुश के उसकी सारी शक्तियाँ विकेन्द्रित बनी रहती हैं, और जब तक उन शक्तियों का समन्वय नही हो पायेगा, तब तक वह शक्तिशाली बन नही सकता। हम पंजे का उदाहरण लेकर इस विपय को ठीक से समझ सकते हैं। चारो अँगुलियों की मुट्ठी बाँधो, और अँगूठा अलग खडा रहे, तो कितनी भी शक्ति लगा दो, अँगुलियों की आपस की शक्ति का समन्वय हो नहीं पाता, और आक्रमणकारी के सामने एक-एक करके अँगुलियाँ धराशायी हो जाती है, जब कि प्रत्येक अँगुली का अपना एक विशेप कार्य बना रहता है और उसी के नाम से वह पुकारी भी जाती है। मनुष्य भी इन्ही अँगुलियो को हीरे-मोती आदि रत्नों की अँगूठियों से सुसज्जित करता रहता है। गरीब अँगूठे को कोई पूछता तक नही। लेकिन यही अँगूठा जब मुट्ठी में बँधी हुई चारों अँगुलियों के ऊपर अपना भरपूर दबाव डाल देता है, तो इन चारो अँगुलियो की विकेन्द्रित शक्ति एक साथ समन्वित होकर एक अपार शक्ति का सचय होने लगता है, और वही मुट्ठी मुष्टिका के नाम से पुकारी जाती है, और आक्रमणकारी उसके भय से दूर रहने में ही अपनी खैरियत समझता है।

'इस तरह अकुश की महिमा अपरिमेय है, और यह वर्णन के घेरे में आ नही सकती।

'भाई-भाई का प्रेम जैसे सहज है, उसी तरह बहन-भाई का स्नेह भी सहज है। निरंकुश हो जाने पर स्त्री अपने पीहरवालो की तरफ झुक जाती है, और ससुरालवालो के सम्बन्धो में शिथिलता ले आती है। जो लडकी सम्पन्न घर में चली जाती है, उसके भाई-बहन उसकी चापलूसी मे लगे रहते है, और उनकी इस चापलूसी से उनके अन्दर उसका विश्वास दृढ बनता चला जाता है, और परिणाम-स्वरूप वे लोग उसे चूसे बिना नही रहते। अपने यहाँ कहावत है न—घर में साला, दीवार में आला; ये दोनो ही घर को ढा देते है।

'मैंने इस बात के ऊपर अपने जीवन मे पूरा ध्यान रखा है। इसी का यह सुफल है कि मैं तुम्हारे और तुम लोग मेरे इतने नजदीक बने रहे।'

मर्यादा का महत्व

अगले दिन मर्यादा की महिमा पर बात चल पडी, तो भइया ने कहा, 'आजकल देखने में आता है कि लोग मर्यादा के नाम से बडे चौकते है। यह सिर्फ उनकी नासमझी के ही कारण है। यह मर्यादा, जिसका तथाकथित आधुनिक शिक्षित लोग 'कान्फाइनमेन्ट' नाम देकर खिल्ली उडाते है, वे इसके गूढ तात्पर्य से कोसो दूर है।

'दरअसल मर्यादा स्त्री-पुरुष को संकुचित दायरे में नही रखती, बल्कि वह उस दायरे में से उनको ले जाती है वहाँ, जहाँ सुख और आनन्द की नदियाँ बहती है। मर्यादा को ठुकरा देना तो उच्छृङ्खलता है, और विनाश के रास्ते पर चलना है। देखो, दोनो किनारो के बीच बहता हुआ नदी का पानी क्या दोनो किनारो की जेल में है? ये दोनो किनारे इस जल को इसके लक्ष्य-स्थान तक पहुँचाने में बडे सहायक होते है। इसका लक्ष्य-स्थान तो, तुम जानते ही हो, समुद्र है, और मार्ग में इससे नहरें निकालकर लाखो-करोडो बीघे जमीन को सीचकर कृषक लोग लाखो-करोडो मनुष्यो और पशु-पक्षियो का पालन करते है, लेकिन जब यही पानी बरसात में इठलाने लगता है, तो बाढ के रूप में प्रलयंकारी दृश्य उपस्थित कर देता है।

'जैसे नदी में बाढ आती है, वैसे ही समाज में भी बाढ आती है। समाज की इस बाढ को भी नियंत्रित करने में मर्यादा ही सफल मनोरथ होती है। यही है मर्यादा का चमत्कार। इसे कभी भी ठुकराना नही चाहिए।

'किशोरावस्था पार करने के बाद यौवन में पदार्पण करने पर स्त्री-पुरुष के जीवन में यौन सम्बन्धी बाढ आती है। जब यह बाढ मर्यादा को ठुकराकर आगे बढती है तो समाज में प्रलयंकारी दृश्य उपस्थित किये बिना नहीं रहती, और जो इस बाढ को नियंत्रित करने में सफल हो जाते है वही आगे चलकर मेधावी, शूरवीर और समाज के रत्न बनने का सौभाग्य प्राप्त करते है।

'इस विषय पर विशेष प्रकाश डालने के लिए बिना चौहद्दी के मकान को ले लें। बिना चौहद्दी का मकान कितना भी बडा क्यो न हो, चाहे गगनचुम्बी प्रसाद हो, चाहे छोटी-सी कुटिया, वह अपनी आभा से कोसो-कोसो दूर बना रहता है। वह ऐसा प्रतीत होता है जैसे बिना वस्त्रो का नग्न शरीर। चौहद्दी में आते ही उस मकान के अन्दर एक सजगता, एक आभा, एक रुतबा आ जाता है। यह चौहद्दी उस मकान की बनावट में कोई परिवर्तन नही करती, चौहद्दी तो मकान से बहुत दूर रहती है, लेकिन इस चौहद्दी के अन्दर उस मकान को शक्तिशाली बनाने की एक प्रसुप्त शक्ति रहती है जो कि साधारणत परिलक्षित नही हो पाती। यही चौहद्दी इस मकान की मर्यादा है। साधारणत पराया मनुष्य चौहद्दी का उलघन करने में भय खाता है। उसका उलघन करते ही मनुष्य अपराधी बन जाता है—घर का प्रवेश तो दूर रहा। यदि हम किसी अज्ञात आदमी को अपनी चौहद्दी मे पकड लें, तो चोरी का अपराध सिद्ध न कर पाने पर भी कम-से-कम उसके अन्याय करने की भावना तो सिद्ध हो ही जाती है। यह चौहद्दी उस मकान को सुरक्षित बनाने के अन्दर बडा काम करती है।

'इसी प्रकार हमारे जीवन की मर्यादाएँ—चाहे हम स्त्री हो चाहे पुरुष—हमें शक्ति ही प्रदान करती हैं, हमको नपुसक, असहाय और पददलित नही बनाती। मर्यादा का आदर समाज और देश की शक्ति का द्योतक है।

'तुलसीदास ने 'उत्तरकाण्ड' में स्त्रियो के जो अवगुण बताये है वे उच्छृङ्खल और स्वतत्रगामी स्त्रियो पर लागू होते है, मर्यादाबद्ध सती-साध्वी स्त्रियो पर नही। मर्यादाबद्ध और सत्यनिष्ठ स्त्रियाँ तो समाज की शिरोमणि है, शोभा है, शृङ्गार है। इन्ही के बल पर समाज जीवित रहता है। ऐसी स्त्रियाँ अँगूठी में जडे हुए रत्न की तरह पुरुष की आभा को बढा देती है।'

भइया अच्छे अध्ययनशील और विचारशील थे, इसलिए हम लोगो के बीच की वार्ता प्राय अध्यात्म-जगत की ही विशेष होती थी। लेकिन यह भी नही कि भौतिक-जगत की बात हम करते ही नही थे। राजनैतिक, सामाजिक, पारिवारिक आदि-आदि विषयों ने सम्बन्धित वातें भी होती रहती थी।

भइया को उपनिषद् और गीता से वडा प्रेम था और थोडा-बहुत रामायण से भी, लेकिन विशेष नही, क्योकि आर्य-समाजी होने के कारण उधर रुचि होते हुए भी वे विशेष लगन के साथ रामायण इत्यादि का अध्ययन नही कर पाये थे। आर्य-समाज और सनातन-धर्मावलम्वियो के बीच में अवतारवाद एक विवाद का विषय बना हुआ है। एक इस वाद में पूर्ण विश्वास रखता है, तो दूसरा इसका खण्डन करता है। भइया के साथ इस विषय पर काफी बातें हुई, लेकिन अगर इन वार्ताओ का निचोड हम यहाँ देंगे, तो पुस्तक का कलेवर भी बहुत बढ जायेगा और विषयान्तर होने के कारण पाठको की रुचि में भी इस पुस्तक को पढने के बीच एक अवरोध-सा प्रतीत होने लगेगा। इसलिए प्रभु की कृपा रही, तो उसे कभी एक अलग पुस्तक के रूप में ही पाठको के सामने उपस्थित करने का प्रयास करेंगे।

लेकिन एक बात को उद्धृत करने का लोभ सवरण न कर सकने के कारण हम सक्षेप में उसका उल्लेख कर देते है।

भइया एक बार पूछ बैठे थे, 'यह बताओ, यदि राम सर्वज्ञ थे, तो सीता-हरण होने के पश्चात् इतने बिलबिलाये क्यो थे ? आदमियो की तो बात ही जाने दो, जड और चेतन, पशु और पक्षियो से भी पूछने में हिचके नही। क्या मर्यादा पुरुषोत्तम राम का यह व्यवहार उचित था ?'

मैंने उत्तर दिया, 'भाईसाहब, दरअसल राम तो रोये नहीं थे , जो रो रहा था, वह तो सीता का राम था जो कि अभिनय के मच पर खडा हुआ था। तुलसीदास की रामायण में साफ लिखा हुआ है कि मारीच के आने के पहले जब लक्ष्मण कार्यवश चले गये थे, तो राम ने सीता से कहा था कि अब वे अपना कार्य-सम्पादन करेंगे, इसलिए सीता अग्नि में प्रवेश कर जायें, और अपना एक मायिक रूप छोड जायें। राम तो अच्छी तरह जानते ही थे कि रावण सीता के इसी मायिक रूप का हरण करके ले गया था, फिर भी वे सीता के वियोग में एक सामान्य पुरुष की तरह विलाप करते है, क्योंकि सही अभिनय की यही माँग थी। अभिनय करते समय यदि किसी भी पात्र को अपनी असलियत का किसी क्षण भान भी हो जाये, तो उतनी ही खामी उसके अभिनय में आ जायेगी, और पोल खुले बिना न रहेगी। इस नाते अगर सीता राम के वियोग में विलाप न करें, और राम सीता के वियोग में, तो अभिनय में फर्क आ जाता।

'मारीच के आने के पहले भी कई बार इन मायावी राक्षसों से राम का काम पड चुका था, और वे उनका सहार कर चुके थे। वे भली-भाँति जानते थे कि ये राक्षस अनेक प्रकार के मायावी रूपो में महात्मा-ऋषियो को कष्ट देने के लिए विचरते रहते हैं। फिर भी, थोडे समय के लिए यदि हम यह मान भी लें, कि राम ब्रह्म नहीं थे, सर्वज्ञ नही थे, तब भी इतना तो सभी मानते है कि राम उच्च कोटि के विद्वान, ज्ञानी और योगी थे। इसलिए जिस वक्त मारीच सोने का जडाऊ हिरण बनकर उनके सामने से भागा, तो राम को इतना विचार न आना कि यह कोई मायावी राक्षस हमको गुमराह करने के लिए किसी विशेष उद्देश्य से इधर आ निकला है, सभव नही था। लेकिन इसके जरा पहले ही वे कह चुके हैं कि उन्हे अभिनय करना है, और अभिनेता एवं अभिनेत्री के सामने जो भी परिस्थिति उपस्थित होती है उसका उसी दृष्टिकोण से मुकाबला करने मे ही उनकी कुशलता है। इसलिए अभिनय के नाते राम का यहाँ विलाप करना बिल्कुल न्याय-सगत है। गीता मे भी तो कृष्ण भगवान यही कहते हैं कि भक्त जिस प्रकार मुझे भजता है, मैं भी उसी प्रकार उसे भजता हूँ।'

मैंने आगे कहा, 'तो भाईसाहब, आप लोग चाहे अवतारवाद मे विश्वास न करें, लेकिन कई दृष्टियो से इसकी पुष्टि होती है। देखिये, बिना सर्प देखे, रस्सी

में सर्प का भान होना असभव है। यदि जमीन की सतह के ऊपर पथरीले कोयले के चिह्न न मिलते (जिसको भूगर्भ-शास्त्र में 'आउट क्रोप' कहते है), तो कोयला जमीन मे है, और इतनी मात्रा में है, इसका पता लगाने के लिए मनुष्य को प्रयास करने की प्रेरणा कहाँ से मिलती ? और यह एक ज्वलन्त तथ्य है कि उस प्रेरणा के द्वारा ही आज ससार में करोडो-अरबो टन कोयले का वार्षिक उत्पादन होता है। इसी प्रकार सोना नामक कोई पदार्थ है—यदि इस बात के चिह्न हमको जमीन के ऊपर न मिलते, तो दस-दस हजार फीट जमीन की गहराई में चले जाने की कोई शख्स हिम्मत ही कैसे कर पाता ? यही बात तेल-कूपो पर भी लागू होती है। हमारे ये उच्च कोटि के सत-महात्मा भी उस महान् शक्ति के 'आउट क्रोप' ही है, जिनके माध्यम से मनुष्य उस महान् शक्ति की खोज में सर्वस्व त्यागकर प्रवृत्त हो जाता है।

'आर्य-समाजियो की यह दलील कि, जब प्रभु सर्व-शक्तिमान है, और उनके संकल्प के आधार पर ही इस सृष्टि की रचना हुई है, तो उसी सकल्प के द्वारा इस ससार में विनाशक-शक्तियो को नष्ट करने में उनको क्या देर लगेगी, ठहरती नहीं है, क्योकि राज्य का स्थापन करना तो राजा के अधिकार की चीज है, लेकिन राज्य स्थापित करने के बाद राज्य के सचालन के लिए वह जो नियम-कानून बना देता है, उनका भग करना उसके हाथ की बात नही रहती। नियामक भी अपने बनाये नियमो को तोड नही सकता।

'यह जगत जब इस शक्ल में आया, तो एक नियम काम कर रहा था, उस नियम के अन्तर्गत ही इस विश्व ने इस प्रकार की शक्ल ली, और उसी नियम के अन्तर्गत आज भी इस विश्व का सारा कार्य-सचालन हो रहा है, और उसी नियम के बधन में जकडे हुए ये सारे सूर्य, चन्द्र, तारे अपनी धुरी पर स्थित है। इतने बलिष्ठ होने पर भी क्या इनकी ताकत है कि ये अपनी धुरी से जरा भी विचलित हो जायें ? अगर इन्होने कभी भी इस नियम को ठुकराने की हिमाकत की, तो विनाश की सृष्टि हुए बिना न रहेगी।

'यही वह नियम है जिसको वेदो में ऋत कहा है। रावण का वध इस ऋत के अन्तर्गत ही मुमकिन था, और ससार के लिए शिक्षाप्रद और लाभदायक था। यह ऋत ही 'आउट क्रोप' का काम करता है। इसलिए रावण को मारने के लिए रावण से महा-पराक्रमी शक्ति की आवश्यकता पडी, और उस शक्ति का राम के रूप में आविर्भाव हुआ।

'प्रभु के अवतार लेने से उसमें खडता नही आती है, अखड अखड ही रहेगा। उदाहरणार्थ, ये बडे-बडे महल, किले, अट्टालिकाएँ—जो कि आकाश को घेरे हुए

हैं, क्या इन्होने आकाश को खडित कर दिया है ? क्या इनके अन्दर का आकाश उस महाकाश से भिन्न है ? क्या इनका तारतम्य टूटने पाया है ? इसी प्रकार प्रभु के अवतार लेने से कही भी उसमें खड भाव नही आता ।

'प्रभु के अवतार लेने में एक बडी महत्व की बात छिपी रहती है । ये अवतार प्रभु के भक्तो का रजन करने में बडा काम करते है । यह अवतारवाद ही तो भक्ति योग का उत्स है जहाँ से भक्ति-भाव की प्रखण्ड अविच्छिन्न धारा प्रवाहित होती रहती है । यह तो भक्ति की आधार-शिला ही है । अवतारवाद को अलग करते ही भक्ति का कोई अस्तित्व नही रहता । यह बात केवल हमको ही मान्य हो—ऐसी बात नही है , संसार के जितने भी विभिन्न मत-मतान्तर है, वे भी इसी आधार-शिला पर अवलम्बित है । उनके पैगम्बर भी वही काम करते है जोकि हमारे यहाँ राम और कृष्ण । लेकिन हमारे यहाँ राम और कृष्ण ब्रह्म से अभिन्न माने गये है, जब कि दूसरे देशो के पैगम्बर अपने को 'ईश्वर का पुत्र' कहने तक ही सीमित रहे है । यह विषय साधारणत हृदयगम हो नही पाता, क्योकि हमारे मन की जो भूमिका है, वह भौतिक विकास तक ही सीमित बनी रहती है । जब मनुष्य अपने मनस् के ऊपर उठ जाता है—जिसको अँग्रेजी में 'सुपर काशस माइण्ड' कहते हे—तो उन गुत्थियो को सुलझते देर नही लगती । आप यदि हमको शरीर-विज्ञान की बातें समझायें, तो हमें थोडा-बहुत ज्ञान अवश्य हो चलेगा, लेकिन जितना कि आपकी नजर के अन्दर शरीर के भीतर की परत खुली हुई दृष्टिगत होती रहती है, उस अवस्था को तो हम प्राप्त नही कर सकेंगे, जब तक कि हम भी आपकी तरह से शरीर के अग-प्रत्यग को चीरकर उसकी अन्दरूनी हालत से वाकिफ न हो जाएँ । साधारण मनुष्य असाधारण विषय को पकडने में सदा-सर्वदा असमर्थ हो बना रहेगा । यह बुद्धि का विषय ही नही है । बुद्धि नितान्त भौतिक है, और यह बात है अध्यात्म जगत की, जिसको जानने का केवल 'सुपर काशस माइण्ड' ही अधिकारी है ।'

आर्य-समाजी होने के नाते भइया के लिए यह तो सभव नही था कि वे मेरी इस अवतारवाद वाली दलील पर विश्वास कर लेते, लेकिन वे काफी प्रभावित जरूर दिखाई दे रहे थे । उन्होने खूब प्रसन्न होकर मेरी पीठ थपथपाई ।

भइया की सन्निधि में इस प्रकार एक मास सानन्द व्यतीत कर, मैं जैरामपुर वापस आ गया ।

मेरा नाम राजेन्द्रकुमार गोयनका है।

मेरा नाम राजेन्द्रकुमार गोयनका है !

कुछ दिनों बाद देवघर से तार आया कि विजय की आँखो में कुछ तकलीफ हो गई है ।

मैं अपने एक मित्र डॉक्टर को लेकर तुरन्त देवघर पहुँचा ।

मैंने उन दिनों वहाँ एक मकान किराये पर ले रखा था, क्योंकि जापान से खतरा हो चला था और सभी लोग सतर्क हो गये थे । कोल-फील्डवालों को विशेष भय रहता था ।

मैं अपने मकान पर ही ठहरा ।

डॉक्टर ने विजय को देखा और दवा दी । दवा के बाद आराम होने लगा ।

राजन उस समय ४ साल का और विजय करीब २ साल का था । राजन मुझसे कुछ हिला हुआ था । वह मेरे पास आया और कहने लगा, 'नानाजी, मैं तुम्हारे संग चलूँगा ।'

मैंने कहा, 'नहीं, मैं तुम्हे नही ले जाऊँगा—तुम्हें अपने माँ-बाप की याद आयेगी, तब मैं क्या करूँगा ? जैरामपुर तो नजदीक है नहीं कि तुम्हे तुरन्त वापस यहाँ भेज दूँ ।'

राजन बोला, 'नानाजी, मैं किसी की याद नही करूँगा। मुझे तो आपकी और नानी की बहुत याद आती रहती है। मैं जरूर ही आपके साथ चलूँगा। आप कहें तो मैं अपना ट्रंक ले आऊँ ?'

मैंने यूँही 'ले आओ' कह दिया।

वह दौडा और थोडी देर में ही नौकर के सर पर ट्रंक रखाये चला आया।

अभी दोपहर भी नही हुई थी। यह दिन भर मेरे पास ही चिपका रहा।

मैंने सोचा कि शाम तक अपने-आप घर चला जायेगा।

शाम हो गई, रात हो गई, लेकिन यह मेरे पास ही रहा।

हम रात में १२ बजे रिक्शे में रवाना हुए तब तक यह जग रहा था, और तुरन्त मेरी गोद में आ बैठा, और स्टेशन के रास्ते में इसको मेरी गोद में ही टप से नींद आ गई।

मेरे दामाद हमें स्टेशन पहुँचाने साथ आये थे। वे बोले, 'अब तो यह सो ही गया है—कहें तो, लेता जाऊँ ?'

मैंने कहा, 'यह तो ठीक नही रहेगा। इससे बच्चे के दिल को ठेस पहुँचेगी। अगर वहाँ इसका मन न लगा, तो किसी के साथ वापस भेज दूँगा। अगर इस तरह छोडकर चला जाऊँगा, तो बच्चा भविष्य में मेरा विश्वास नहीं करेगा, और इसके अन्त स्थल पर झूठ बोलने के सस्कार पड जायेंगे।'

धनबाद तक तो यह मेरी गोद में ही सोता रहा। जब कभी मैं इसे पटिया पर सुलाने की कोशिश करता, तो रो पडता और मेरी गोद में आकर फिर शान्त हो जाता।

जब मैं घर पहुँचा, तो इसकी नानी इसको देखकर प्रसन्न तो बडी हुई, लेकिन मुझे उपालभ दिये बिना न रही कि, 'यह तुमने क्या किया ? यह अभी बच्चा है, माँ-बाप के बिना यहाँ कैसे रहेगा ?'

दिन भर तो राजन खेलता रहा, अनमना नही हुआ, और किसी की याद भी नही की। शाम होते ही कहने लगा, 'नानी, नानाजी को बुला दे।'

मुझे नौकर बुलाने गया, तो मैं घबडाया कि पता नही, क्या बात हो गई। मेरे घर पहुँचते ही राजन दौडकर मेरी गोद में आ गया, और कुछ ही क्षणों में गहरी नीद में सो गया।

प्रतिदिन का यही रवैया बन गया। रात को भी मेरे ही पास सोता—नानी के पास सुलाते ही चौक उठता, और फिर इसे मेरे पास ही लाना पडता। जहाँ मैंने अपना हाथ इसकी देह पर रखा कि शान्त हो जाता।

जब कोई इससे इसका नाम पूछता, तो यह कहता, 'मेरा नाम है राजेन्द्रकुमार गोयनका।'

सब हँस पडते।

फिर कोई बोल उठता कि तुम तो छावछरिया हो, तो यह बिगडकर उसका प्रतिवाद करता और कहता, 'नही, नही, मैं गोयनका हूँ।'

यह हम लोगों से इतना अधिक हिल-मिल गया कि देवघर जाने का नाम ही नही लेता था।

जब यह चार साल, चार महीने और चार दिन का हो गया, तब मैंने इसके हाथ में स्लेट-पेंसिल दे दी, और इसको पढाने के लिए देवघर से एक मास्टर बुला दिया।

एक पवित्र संकल्प

०

मेरी बडी लडकी भगवती (यानी राजेन्द्र की माँ) को लीवर की विकृति के कारण एक ऐसा रोग पैदा हो गया कि किसी प्रकार के अन्न का नाम लेते ही उसको उलटी आने लगती, और वह डाभ के पानी पर ही रहती। उसको मैंने अपने पास बुला लिया, और थोडे दिन डॉक्टरी इलाज कराया।

इलाज न बैठने पर हम सभी वैद्यिक इलाज कराने के लिए अजमेर चले गये। अजमेर से करीव ३ मील दूर हमारे रहने का इन्तजाम कर दिया गया। एक वैद्य का इलाज चालू हुआ। इलाज लागू पडने लगा।

पाँच-दस दिन बीते होंगे, इतने में ही विजय के माता निकल आयी। भगवती उसको दिन-रात अपनी गोद में लिये रहती।

मैं कभी-कभी झल्लाकर कह उठता, 'कभी तो इसको गोद से उतारकर जरा अपनी कमर सीधी कर लिया कर।'

फिर मैं अपनी पत्नी से कहता, 'न जाने, प्रभु को क्या मजूर है ? इसकी यह हालत और बच्चे की यह हालत। मैं जानता हूँ और मानता हूँ कि इतना छोटा बच्चा इस प्रकार की तकलीफ में अपनी माँ को छोड नही सकता, लेकिन फिर भी मुझे लडकी पर तरस आये बिना नही रहना है।'

मेरी पत्नी कहती, 'जैसे आप अपनी लडकी की तकलीफ को सहने में अपने-आपको असमर्थ पाते है, और जितनी यह आपको प्यारी लगती है, वही हाल भगवती का है। और फिर वह ठहरी माँ! माँ के हृदय की गहराई को एक माँ ही समझ सकती है। आप रोज अजमेर जाते है, वापस आते वक्त एक हाथ में दो सेर दूध का लोटा, और दूसरे हाथ में दो सेर, ढाई सेर साग और फलो का थैला लेकर आठ-नौ बजे के पहले-पहले पहुँच जाते है, जब कि जैरामपुर में पानी का एक गिलास भी अपने हाथ मे लेकर नही पीते, तो यह काम कौन शक्ति आपसे करवा रही है? यह है वात्सल्य-प्रेम का खिचाव।'

इसके बाद वह फिर कहती, 'घबडाने की कोई बात नही है। माता मान ले चुकी है, और अब भगवती का भी इलाज लागू पड गया है। जब यह खाने-पीने लग जायेगी, तो इनको मामा के घर छोडकर हम लोग जैरामपुर चले चलेंगे, या मामा के घर के नजदीक किसी मकान का इन्तजाम कर देंगे जहाँ भगवती, कँवरजी, विजय रह लेंगे, और पूर्ण स्वस्थ होने पर ये लोग भी चले आयेंगे।'

मेरे जीवन मे मातृ-हृदय की परख का यह पहला अवसर था।

थोडे दिन पश्चात् मैं चूरू होता हुआ जैरामपुर आ गया। लेकिन जब मैं चूरू पहुँचा, तो मैंने भइया को शैया-शायी पाया। उनके घुटने जुड गये थे, और वे पैर सीधे नही कर सकते थे। या तो पीठ के बल सोते, या करवट लेकर।

उनकी यह अवस्था बडी दर्दनाक थी। मुझे विचलित किये बिना न रही। इलाज ठीक से नही हो रहा था। तेल की मालिश होती रहती। लेकिन ऐसी बीमारियो में कोई इलाज जल्दी बैठता भी तो नही, और न उन दिनो इतनी आधुनिक दवाइयो का अन्वेषण ही हुआ था।

एक दिन भइया कहने लगे, 'शारीरिक व्यथा के साथ-साथ एक और व्यथा भी है जो मुझे विशेष व्यथित किये हुए है। मैं उठ-बैठ नही सकता, फलत. पढ भी नही सकता। अध्ययन छूटा हुआ-सा है। लोग आते है, इधर-उधर की बात करके चल देते हैं, या इलाज के लिए नुस्खा आदि बता जाते है, लेकिन मुझे मेरी मानसिक खुराक नही मिल पाती। मैं तुमको भी ज्यादा दिन रोक नही सकता। चाकरी चीज ही ऐसी है। खैर, कोई बात नही। दयानिधे, प्रभु जिस प्रकार रखेंगे, रहेंगे। लेकिन एक बात तुम्हे कह देता हूँ कि तुम मेरी एक जीवनी जरूर लिख देना।'

मैंने कहा, 'भाईसाहब, यह पवित्र सकल्प तो मैं बहुत दिनो पहले ही कर चुका था, अब आपके आदेश ने इसमें पानी सिंचन कर दिया। आपकी जीवनी

अवश्य लिखी जायेगी। लिखूँगा भी अपने हाथ से, ताकि कहीं भी वास्तविकता का गला न घुटने पाये।'

इतने में उनकी आँखें गीली हो आयी। इधर भी प्रतिक्रिया होना अनिवार्य था।

आज भी वह मधुर स्मृति मेरे मन में पूर्णरूपेण जीवित है। वह स्मृति क्या है—वह तो मेरी निधि है। जब कभी मैं अपनी इस छोटी-सी निधि को टटोल लेता हूं, तो मुझे बडा आनन्द मिलता है, और बडा ढाढस भी।

थोडे दिन और उनके पास रहकर मैं जैरामपुर चला आया।

त्रिलोकीनाथ साथ हैं!

०

सन् १६४३ में मेरी सबसे बड़ी भाभी के देहान्त का तार मिला। मैं सपरिवार चूरू पहुँचा। मेरे अन्य भाई-भतीजे भी आ पहुँचे।

हम सब भाई-भतीजे सवेरे बैठक में बैठे हुए बात-चीत कर रहे थे कि भइया का सबसे छोटा पौत्र उनके आदेशानुसार मुझे बुलाने आया।

भाई अशर्फीलालजी बोले, 'बाद में चले जाना। इतनी जल्दी क्या है ?'

मैंने उत्तर दिया, 'बुलाने पर नहीं जाने से भाईसाहब नाराज होंगे। उनसे मिलकर मैं तुरन्त वापस आ जाता हूँ। मण्डली बर्खास्त न होने पाये।'

मैं उस बच्चे के साथ तुरन्त गया, लेकिन जब मैं पहुँचा, तो भइया की आँख लग चुकी थी। मैं वापस आ गया।

थोड़ी देर पश्चात् वही बच्चा फिर आया। मेरी ओर संकेत करते हुए उसने कहा, 'आपको बाबाजी बुला रहे हैं।'

मैं तुरन्त भइया के पास जा पहुँचा।

भइया उस वक्त जगे हुए थे। बोले, 'मैंने तुझे बुलाया और तू आया नहीं ? यह हुक्म-उदूली कैसी ?'

मैंने उत्तर दिया, 'नही भाईसाहब, ऐसी बात नही है। आपके बुलावे के साथ-साथ मैं चला आया था, लेकिन मेरे आते-आते आपकी आँख लग चुकी थी। मैंने आपको जगाना उचित न समझा, इसलिए मैं वापस चला गया।'

वे बोले, 'तो माफ।'

आत्मीयता, प्रेम और मान से भरा हुआ वह शब्द 'माफ' आज भी मेरे कानो में गूँजे बिना नही रहता। इस शब्द की गहराई या तो वही समझ सकता था जिसके मुखारविन्द से यह मुखरित हुआ था, या थोडा-थोडा यह मेरा छोटा-सा हृदय। आज भी जब कभी यह शब्द मेरे हृदय-पटल पर उभर आता है, तो मैं कितना व्याकुल हो उठता हूँ, और उस दिव्य-भव्य मूर्ति के दर्शन करने के लिए मेरा यह हृदय कितना छटपटा उठता है, यह मेरी लेखनी का विषय बन नही पाता।

इसके बाद भइया कहने लगे, 'अरे निरजन, तू देख तो सही, यह मेरा क्या हाल हो चला है? दिन-के-दिन बीत जाते है, और मैं स्नान तक नही कर पाता।'

मैं बोल उठा, 'भाईसाहब, स्नान तो बाह्य शुद्धि के लिए है। इसका आत्मा से तो कोई प्रयोजन है नही। जैन-भिक्षु तो बीस-बीस साल तक नही नहाते, आजन्म नही नहाते, तब भी उनके शरीर में दुर्गन्ध का नाम तक नही रहता।'

फिर मैंने भइया का हाथ सूँघकर कहा, 'दुर्गन्ध की जगह मुझे तो आपके हाथ मे भी सौरभ ही आ रही है।'

उन्होने भी अपना हाथ सूँघा, फिर मेरा हाथ सूँघा। फिर बोले, 'गध तो तेरे हाथ में भी नही आ रही है।'

मैंने कहा, 'आपके और मेरे हाथ में फर्क है। मैं तो रोज स्नान करता हूँ, इसलिए दुर्गन्ध नही आ रही है, लेकिन आपके शरीर की यह स्थिति है इतने दिनो से स्नान न करने पर। तो यह विशेषता तो आपके शरीर की ही रही न।'

वे बोले, 'तब फिर मुझे इतना कष्ट क्यो हो रहा है?'

मैंने उत्तर दिया, 'आपने अपने शरीर के साथ ज्यादती की थी। एक व्यस्त डॉक्टर होने के नाते, या यो कहें, विशेष कर्तव्यपरायण होने के नाते, आपका शारीरिक जीवन नियमित और नियंत्रित नही रह सका। उसी का यह फल है, न कि और दूसरे पापो का। आपके जीवन में पाप तो रहे ही नही। आपका हृदय तो सदा से ही बहुत मधुर और कोमल रहा। देखिये न, रामकृष्ण

परमहंस की मृत्यु भी गले के कैंसर से हुई थी। उनके गले से तो पानी भी नहीं उतर सकता था जिनको कि बगाल में भगवान का अवतार मानते हैं। महर्षि दयानन्द की मृत्यु भी बडी दर्दनाक हुई। कितना शारीरिक कष्ट पाया उन्होने। कारण उनसे एक नीति का व्यतिक्रम हो गया था। अगर उन्होने महाराजा जोधपुर की रखैल नन्ही जान को कुत्ती शब्द से सम्बोधित न किया होता, तो वह डायन उस महान् आत्मा को दूध में काँच घुलवाकर मार डालने के लिए कभी उद्यत न होती।'

तब भइया विषय बदलकर बोले, 'निरजन, आज तो तू कुछ सुना।'

मैंने कहा, 'भाईसाहब, आप ही सुनाइये न, फारसी के कुछ शेर।'

भइया ने कहा, 'मेरा यह समय फारसी के शेर सुनाने का नहीं है। मुझे तो इस समय भगवान की याद बनी रहे, यही चाहता हूँ। तुमसे इसी तरह का कोई भजन सुनने की बडी इच्छा है।'

मैंने कहा, 'अच्छी बात है भाईसाहब, तो सुनिये

अनाथ कौन है यहाँ, त्रिलोकीनाथ साथ हैं,
दयालु दीनबन्धु के बडे विशाल हाथ हैं।
मालिक तेरी रजा रहे और तू ही तू रहे,
बाकी न मैं रहूँ, न मेरी आरजू रहे।
जब तक कि तन मे जान, रगो मे लहू रहे,
तेरा ही जिक्र हो औ' तेरी जुस्तजू रहे।'

तत्पश्चात् गीता पर कुछ मनन हुआ। अब भाईसाहब का मन कुछ स्वस्थ हो चला। उन्होंने रसोइये को बुलाकर कहा, 'देखो, इनको खाने की तकलीफ न होने पाये। छोटे-छोटे टीकडिये बनाकर, घी में बोर दो। वे टीकडिये इन लोगों को खाने के लिए देना।'

मैंने कहा, 'भाईसाहब, आप इस झंझट में क्यो पडते हैं?'

वे चुप हो गये। फिर बोले, 'तू समझता नही है, इन रसोइयो को तुम लोगो की क्या फिक्र?'

कहते-कहते उनका गला भर आया। वे मौन थे, लेकिन आँखो में पानी था। मैं भी अपने को सँभाल न सका, इसलिए वहाँ से हट गया।

बडी भाभी के श्राद्ध-कर्म के पश्चात् मैं जैरामपुर के लिए रवाना हो गया। बृजलाल भी मेरे साथ था। उसे कलकत्ता जाना था।

भाई गौरीशंकरजी और मेरा भतीजा चिरजीलाल अपनी माँ के फूलों को हरिद्वार की गंगाजी मे समर्पित करने के लिए दिल्ली तक मेरे साथ ही आये। ये लोग हरिद्वार चले गये।

गंगा-स्नान करते समय, कहा जाता है, चिरजीलाल को अपनी माँ के दर्शन हुए थे। उसी समय उसको बुखार चढ गया।

उसी दिन की गाडी से ये लोग चूरू लौट आये और दो-चार दिन में ही चिरंजीलाल का देहान्त हो गया।

हे क्षण-भंगुर भव राम-राम !

सन् १९४४ की बात है। भइया की बीमारी के बारे में उनके ज्येष्ठ पौत्र मोतीलाल की मेरे पास चिट्ठी आई। समाचार स्पष्ट न थे, तथापि मैं समझ गया कि अब भइया का शरीर ज्यादा दिन टिकने का नही। इसलिए अन्त समय में भइया के पास रहने का निश्चय कर मैं चलने की तैयारी करने लगा। तभी मानक की चिट्ठी आई जिसमे उसके कलकत्ता जाने के समाचार थे। इससे मुझे कुछ ढाढस बँधी, कि भइया की तबियत ज्यादा खराब नही है, और मैं अपने जाने का समय निर्धारित करने लगा, क्योकि मैं जाना चाहता था अनिश्चित काल के लिए। इसी समय मेरे मैनेजर ने छुट्टी की दरख्वास्त दे दी। उसको अपनी भतीजी की शादी में दस दिन के लिए जाना था।

मैंने कहा, 'आप शादी से लौट आइये। तभी मैं जाऊँगा।'

अचानक भइया की मृत्यु का तार आ पहुँचा। फिर क्या था, हृदय विदीर्ण होना ही था।

जब मैं चूरू पहुँचा, तो मुझे मालूम हुआ कि भइया के मुख से जो अन्तिम शब्द निकला था, वह था—'निरजन !' भइया के अन्तिम समय मैं उनके पास नही रह सका, यह बात आज तक मुझे अखर रही है। विवश और असहाय, मैं अपने मन को मसोस कर ही रह जाता हूँ। इसके उपरान्त मेरा कोई जोर नही चलता।

भइया की मृत्यु पर सगे-सम्बन्धी सभी चूरू पहुँचे थे। मेरी लडकी भगवती, मेरे दामाद शकरप्रसादजी एव विजय भी देवघर से सीधे चूरू आ गये थे।

श्राद्ध-कर्म सम्पन्न होने के पश्चात् हम सभी लोग विदा हो गये। भगवती एव वृजलाल मेरे साथ ही चले आये।

हम सब लोग बनारस पहुँचे। वहाँ गगा-स्नान एवं भोजन आदि के पश्चात् हम लोग अपने-अपने लक्ष्य-स्थान की ओर जाने की तैयारी करने लगे।

तभी क्या देखता हूँ, कि विजय भी हमारे साथ चलने के लिए जिद्द ठाने हुए है। इसकी उम्र उस समय साढे चार साल की रही होगी। कहने लगा, 'मैं भइया के साथ ही जाऊँगा।'

मैं इस बात से सहमत न था। मैंने अपनी पत्नी से कहा, 'यह निहायत बच्चा है, और जिद्दी है। अभी तो यह खेल-खेल में चला चलेगा, लेकिन यह माँ-बाप से अलग रह नही सकेगा। इसको साथ रखना मुसीबत मोल लेना है।'

मेरी पत्नी ने कहा, 'बिलखते हुए बच्चे को मैं छोडकर नही जा सकती। इसका मन नही लगा, तो वापस भेज देंगे।'

तब मैं भी सहमत हो गया।

जब हम बनारस कैन्टनमेंट स्टेशन पर पहुँचे, तो देवघर की तरफ जानेवाली गाडी आ चुकी थी। मेरी लडकी और मेरे दामाद उस गाडी मे बैठ गये।

मैंने कहा, 'विजय, तेरे माँ-बाप जा रहे है। देख, देख।'

वह अपने माँ-बाप से कहने लगा, 'जाओ, जाओ। मैं तो जहाँ भइया रहेगा, वही रहूँगा।'

और विजय हमारे साथ ही जैरामपुर आ गया।

रूप खराव कोयला थोडी दूर चलकर गायव हो जायेगा, और अच्छा कोयला मिल जायेगा।'

प्रभु की कृपा से वही हुआ।

वाद में इस कोलियरी से इन्होने वडी घन-राशि उपार्जित की, जिसके द्वारा इन्होने और भी कई कोलियरी ले ली, और अपने देश में स्कूल-कॉलेज इत्यादि भी वनवाये।

यह विमल जैन आज भो मुझे वडे आदर की दृष्टि से देखता है। यह इसका वडप्पन है, क्योकि पुरानी वातें लोग अक्सर भूल जाते है।

सन् १९४५ को वात है। एक दिन हठात् विमल मेरे पास जैरामपुर आया।

मैं चौक पडा। मैंने कहा, 'विमल, आज अचानक कैसे चले आये ?'

उसने उत्तर दिया, 'वावूजी, आपको कुछ गुरु-दक्षिणा देने की इच्छा हो गई थी। इसी पुण्य-श्लोक कार्य के लिए हिम्मत करके चला आया हूँ।'

सुनकर मैं विचार-मग्न हो गया। इसका भी कोई कसूर न था। इस ससार में प्राय सभी तुलते आये हैं। यह तोल-मोल ही मनुष्य के जानने का मापदण्ड वन गया है। मैं सोचने लगा कि यह विमल भी आज अपनी तराजू में मुझे तोलने के लिए ही आया है।

इस तरह सोचता हुआ मैं वोल उठा, 'विमल, यह गुरु-दक्षिणा अपन दोनो को ही वडी भारी पडेगी।'

वह चौककर वोला, 'यह कैसे वावूजी ?'

मैंने कहा, 'वह ऐसे कि भाई, मैं तो गुरु-दक्षिणा अपनी हैसीयत से ही माँगूँगा न! और अगर तुम न दे सके, तो फल क्या होगा ? यही कि मैं हो जाऊँगा मगन, और तुम हो जाओगे कगाल। वात यह है भाई, कि मैंने जो भी तुच्छ सेवा तुम लोगो की की थी, वह तो निष्काम थी। वह मित्रता के नाते की गयी थी। उसमें मुआवजा लेने को तो गध भी नही थी। उसको सकाम में परिणत करना तो मेरे अहंकार को जाग्रत करके उस किये-कराये पर पानी फेर देना है। गुरु-दक्षिणा के रूप मे तुम्हारा प्रेम, तुम्हारी श्रद्धा क्या कम माने रखते है ? आज मेरा आशीर्वाद लेकर जाओ कि तुम वहुत फलो-फूलोगे।'

विमल आज वहुत सुखी और सम्पन्न है।

कन्या-दान संस्कार

जब हिन्दू कोड बिल सरगर्म हो रहा था, तो एक दिन मेरी छोटी लड़की शिशिरा मुझसे एक बड़ा बेढब प्रश्न पूछ बैठी, 'बापूजी, भला बताइए तो, अपनी लड़की को दान में देने का पिता को क्या हक है? इस घर की कोई निर्जीव वस्तु तो है नहीं कि मालिक जैसे चाहे अपनी इच्छानुसार किसी को भी दे दे।'

प्रश्न टेढ़ा था, इसलिए कुछ देर सोचकर मैंने उत्तर दिया, 'बेटा, तेरा प्रश्न बड़ा समयानुकूल, जटिल और महत्वपूर्ण है, और विस्तृत विवेचन की अपेक्षा रखता है। इसलिए पूरे ध्यान और धैर्य से सुनो।

'पाश्चात्य सभ्यता में पला हुआ आज का विद्वत् वर्ग हमारे ऋषियों के मुख पर भी पक्षपात-रूपी कालिमा पोतने से बाज नहीं आता। ये जड़ बुद्धि समान अधिकार का अर्थ तक नहीं समझ पाये, और समझें भी कैसे? इनकी दृष्टि में तो भौतिकता की चमचमाहट ने इतनी चौंध पैदा कर दी है कि इनको पदार्थ का असली रूप दीख ही नहीं पाता।

'संसार में जितने भी पदार्थ हैं, उनको प्राप्त करने का सभी को समानाधिकार है, यह तो निर्विवाद तथ्य है, लेकिन इनको प्राप्त करना, या कितनी मिकदार में प्राप्त करना, यह प्रत्येक व्यक्ति की अपनी योग्यता पर निर्भर करता है। एक कुएँ का उदाहरण ले लो। कुएँ में से पानी खींचने का सबको समान अधिकार

है, लेकिन कौन उसमें से कितना पानी खीच सकता है, यह निर्भर करता है उसके पात्र और उसके बाहु-बल पर। अगर एक व्यक्ति का पात्र छोटा है और दूसरे का बडा, तो उन दोनो को अपने-अपने पात्र के अनुपात मे ही तो पानी मिलेगा। लेकिन यदि ये दोनो व्यक्ति परस्पर लड मरें और छोटे पात्रवाला बडे पात्रवाले को कोसने लगे कि तेरा क्या अधिकार है कि तू मुझसे अधिक पानी का उपभोग करता है, तो यह कोसनेवाले की सरासर मूर्खता नही तो और क्या है ? कोसने वाले की तकलीफ तो तभी मिट सकती है जब कि वह भी अपने पात्र को उतना ही बडा बना ले जितना कि दूसरे का है। तब झगडा अपने-आप खत्म हो जायेगा। कुएँ ने तो पानी देने मे पक्षपात किया ही नही। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति को अपने पात्र को उपादेयता पर सन्तोष करना ही होगा।

'इसी प्रकार, स्त्री-पुरुष के पात्र भी भिन्न-भिन्न आकार के है, और उनकी उपादेयता की योग्यता भी भिन्न-भिन्न है। यही नही, यह दोनो ही पात्र अलग-अलग इकाई के रूप मे अधूरे है, यानी यह दोनो ही स्वतंत्र रूप से कुएँ से पानी खीचने में असमर्थ है। जब तक इन दोनो पात्रो का एकीकरण नही हो जाता, तब तक ये कुएँ से पानी खीच ही नही सकते, और यदि एकीकरण के समय सधि के अन्दर कही छिद्र रह गये, तब भी पात्र के अनुपात में उन्हें पानी प्राप्त नही हो सकेगा थोडा-बहुत पानी छिद्रो के द्वारा नष्ट हो ही जायेगा। लेकिन यदि इन दोनो पात्रो का एकीकरण इस प्रकार किया जाए कि सधि का पता ही न चले, तो छिद्रो के रह जाने की गुञ्जाइश बिल्कुल भी नही रहेगी। इसी सिद्धान्त के ऊपर ऋषियो द्वारा प्रणीत हमारी यह पाणि-ग्रहण सस्कार की व्यवस्था आधारित है।

'देखो, अगर हम एक रगीन कपडे पर कोई दूसरा रग चढाएँ, तो दोनो रग ही क्षति-ग्रस्त हो जायेंगे और उस कपडे का एक तीसरा ही रग बनेगा जो कि बदरग के नाम से पुकारा जाता है। कोरे कपडे पर रग जितना बढिया खिलता है, उतना किसी रगीन या मैले-कुचैले कपडे पर खिल ही नही सकता। यही नियम स्त्री और पुरुष पर भी लागू होता है।

'स्त्री-पुरुष मे एक-दूसरे के साथ आत्मसात होने की भावना नितान्त प्राकृतिक है। देखो, यदि मटमैला पानी दूध के साथ आत्मसात होने की कोशिश करे, तो वह अपने इस प्रयत्न मे कभी सफल नही हो सकता, बल्कि ऐसा करने पर न तो वह खुद दूध के भाव बिक सकता है, और न दूध ही बिकने लायक रहता है। निर्मल पानी ही दूध में आत्मसात होने के योग्य होता है। ऐसा पानी दूध की हस्ती को प्राप्त कर लेता है, और दूध का रूप भी अक्षुण्ण बना रहता है, लेकिन

पानी को होना पड़ेगा निर्मल, अथवा यों कहें—बेरंग ।

'इसी तरह कन्या के ऊपर भी एक रंग चढ़ा रहता है—वह रंग है उसके माँ-बाप का प्यार । पति में आत्मसात होते समय यदि लड़की अपने पिता के रंग को अपने साथ ले जाती है, तो नया रंग चोखा नहीं आ सकता, रंग बदरंग हो जायेगा । इसलिए उसको निर्मल होकर ही, यानी पहले का सब कुछ त्याग करके ही, पति में आत्मसात होना होगा । इसीलिए जिस वक्त पिता अपनी लड़की को अपने से पृथक करता है, उस वक्त वह उसे ऐसी अवस्था में ले आना चाहता है कि न लड़की का मन पिता की तरफ बना रहे, न पिता का लड़की की तरफ । मन की यह स्थिति प्राप्त करने के लिए दान ही एक ऐसी विधि है जिससे यह ध्येय प्राप्त हो सकता है । दान के अन्दर यह भावना निहित रहती है कि एक बार दे देने के बाद दाता उस दातव्य वस्तु पर तनिक भी अधिकार नहीं रख सकता । हम किसी को रुपये उधार दें, तो वापस लेने की भावना प्रबलता से बनी रहती है, लेकिन यदि हम अपनी निधि किसी सत् कार्य में लगा दें, तो फिर उसे वापस लेने की भावना नहीं रहती । वह सत् कार्य की हो हो जाती है ।

'आज-कल के हिसाब से दान शब्द कुछ निम्न भावनाओं का द्योतक हो चला है, लेकिन वस्तुतः अपने मूल रूप में दान शब्द बड़ा व्यापक और ओजस्वी है । इसमें तिरस्कार की भावना निहित नहीं है, इसमें यह भावना तो हमें आज-कल अपनी हीन वृत्तियों के कारण दृष्टिगोचर होने लगी है और इनका सम्बन्ध तमोगुणी और रजोगुणी दान में है, सतोगुणी दान से नहीं । सतोगुणी दान में दाता को अपने हृदय के दो टूक करने होते है । जिस प्रकार अपनी निधि का अंश जब हम किसी को देते है, तो वह अंश उसकी निधि में जाकर उसकी निधि को समुन्नत बनाता है, उसी प्रकार पिता की हृदय-रूपी कन्या का यह दान पति के हृदय में प्रवेश कर उस हृदय को पूर्ण बनाता है । यदि दो हृदयों की यह संधि अभिन्न न हो पाई, और दोनों की हस्ती पृथक-पृथक बनी रही, तो दोनो ही एकीकरण का वास्तविक आनन्द नही ले सकते ।

'हमारे जमाने में जब लड़की का पाणि-ग्रहण होता था, तो वह कोरे कपड़े का लहँगा और कोरे कपड़े का ओढ़ना पहनकर ही विवाह-सस्कार के लिए बैठती थी । तात्पर्य यह था कि निर्मल, विशुद्ध, बेदाग, बेरंग यह कन्या पति के अर्पण की जा रही है ।

'लेकिन आज के रस्मो-रिवाज के अनुसार लड़कियों को बहुत बेशकीमती साड़ियाँ पहनाकर विवाह-सस्कार में बैठाया जाता है, क्योकि अपनी संस्कृति की

तह तक न पहुँच सकने के कारण हम उसको ठुकराते चले जा रहे है।

'हमारे परम्परानुगत सस्कारो की निधियाँ कितनी महत्वपूर्ण है, इसको जरा देखो तो सही।...कन्या-दान हो गया, फेरे पड गये, लेकिन फिर भी अभी तक विवाह-संस्कार पूर्ण नही हो पाया है। अभी तो दोनो को वचन-बद्ध होना शेष है। दोनो ही अपनी-अपनी शर्ते पेश करते है, और लडकी अपने पति से कहती है, 'तुम्हारी सभी शर्ते मुझे मजूर है, लेकिन जब तक तुम भी मेरी शर्तो को मजूर नही कर लोगे, तब तक मैं तुम्हारे वाम-अग में नही बैठूँगी, और जब तक मैं तुम्हारे वाम-अग में नही बैठती हूँ, तब तक बावजूद सब सस्कारो के मैं क्वाँरी हूँ।'

'लडकी द्वारा वाम-अग के उल्लेख करने में क्या वैज्ञानिक रहस्य है, यह लडकी के ही शब्दो में सुनो। वह कहती है, 'वाम-अग में आ जाने का तात्पर्य है पति के हृदय में प्रवेश कर जाना।' हृदय वाम-अग में ही तो स्थित होता है। और हृदय में प्रवेश करने के बाद तो फिर एकीकरण हो ही जायेगा। इसलिए वाम-अग मे आने के बाद ही विवाह पूर्ण रूप से सम्पादित हो पाता है।

'अब प्रश्न उठता है कि सतीत्व एवं उसकी पवित्रता के ऊपर ऋषियों ने इतना जोर क्यो दिया ?

'इस प्रश्न को हम बीज और भूमि के उदाहरण द्वारा ठीक से समझ सकते है। बरगद के बीज को ही लो। यह सरसो से भी बारीक होता है, जब कि बरगद के समान महाकाय वृक्ष दूसरा नही होता। दरअसल इस बीज में छिपे हुए महाकाय वृक्ष को विकसित करने का श्रेय पृथ्वी को है। यदि पृथ्वी उस बीज के अनुकूल नही है, तो वहाँ बरगद की सृष्टि हो ही नही सकती। हम लोग रोज सुनते है कि अमुक फल तो अमुक देश मे ही उग सकता है, और पनप सकता है। इसी तरह किसी भूमि के अँगूर खट्टे होते है, तो किसी भूमि के बडे मीठे। इसका रहस्य यह है कि यदि बीज के अनुपात में पृथ्वी से सानुकूल साल्ट यानी रस प्राप्त नही होता, तो उस भूमि में उत्पन्न अँगूर के स्वाद मे कही-न-कही कमी रहे बिना न रहेगी। वे खट्टे हो सकते है, छोटे हो सकते है, छिलका मोटा हो सकता है इत्यादि-इत्यादि। इसी तरह पिघली हुई धातु का कोई रूप नही होता, वह तो रूप लेना चाहती है, और वह रूप लेती है साँचे के अनुसार ही। साँचे मे खामी रहने पर उसमें ढली हुई वस्तु का रूप आदि देखना हो, तो हम लोहे के कारखाने में जाकर देख सकते है। साँचे को तैयार करनेवाला मिस्त्री पूर्ण सतर्क रहता है कि साँचे के अन्दर का भाग चिकना, स्वच्छ और किसी

भी प्रकार की वंक से रहित होना चाहिए। साँचे में कही भी खराबी रहने पर उसमें ढला हुआ पदार्थ उस साँचे की कमी को परिलक्षित कराये विना न रहेगा।

'इसी तरह भूमि जितनी परिष्कृत, कोमल, स्निग्ध होगी, उसमें उगे हुए फल भी वैसे ही होगे। वजर भूमि में उगे हुए पौधे प्राय कँटीले, कडवे, और कभी-कभी विषयुक्त भी पाये जाते है।

'अव तुम समझ गयी होगी वेटी, कि योग्य सतति के उत्पादन के लिए मातृ-रूपी भूमि का कितना पवित्र, कितना स्वच्छ, कितना स्निग्ध और कितना त्यागमय वने रहना अनिवार्य है!

'प्रत्येक मनुष्य को अपने मूल स्रोत का अभिमान होता है। गगा के भक्त गगोत्री के दर्शन करके ही अपने को धन्य मानते है। पुरुष शक्ति धन (पोजीटिव) है, तो स्त्री शक्ति है ऋण (निगेटिव)। दोनो शक्तियाँ स्वतंत्र रूप से निष्क्रिय है, और सान्निध्य पाकर ही दोनो में एक आकर्षण पैदा होता है जो दोनो को मिलाये बिना रहता नही। इसीलिए पर-स्त्री और पर-पुरुष को सान्निध्य में नही आना चाहिए, वरना मर्यादा और पवित्रता की रक्षा सभव नही होगी।

'सृष्टि की उत्पत्ति एक विन्दु से ही तो हुई है। विन्दु की परिभाषा के अनुसार विन्दु का अस्तित्व तो है, लेकिन उसका कोई रूप नही है। वह अपरिमेय है। जव वह परिमेय की अवस्था में आना चाहता है, यानी व्यक्त होना चाहता है, तो उसको प्रकृति का सहारा लेना पडता है। प्रकृति वनती है उस विन्दु को अधिष्ठात्री। प्रकृति शक्ति है। अपरिमेय विन्दु का इस सृष्टि के रूप में प्रादुर्भाव हो जाने का श्रेय प्रकृति को ही तो है। विन्दु गुणातीत है। प्रकृति गुणमयी है। जव विन्दु का इस गुणमयी पृथ्वी के द्वारा प्रादुर्भाव होता है, तो प्रकृति के तीनो गुणो के आवरण इसे अपने अन्दर ढक लेते है, जैसे दूध पिलाते समय माँ वच्चे को अपने आँचल से ढक लेती है।

'इस संसार में जितने भी महान व्यक्ति हुए है, वे अपनी जननी के गुणो का गान करते हुए अघाते नही। नेपोलियन को इतना वहादुर वनाने मे उसकी माँ का वडा भारी हाथ था। वह वचपन में इसको शूर-वीरो की गाथाओ से अभिमंत्रित करती रहती थी।

'प्रकृति का नियम तो देखो, माँ वच्चे को जव ताडना देती हे, तो उसकी मार खाते हुए भी वह उसीकी गोद में घुसता चला जाता है और उस समय तक शान्त नही होता जव तक माँ हँसकर उसको पुचकार न ले, और अपनी छाती से

चिपका न ले। पिता की ताडना से बच्चा पिता से दूर भाग जाता है, और उसके पास दुबारा आने की हिम्मत नही करता। पिता की आँखो में क्रोध की लाल डोरी देखते ही वह भयभीत हो उठता है। माता निर्माण-कर्त्री है, पिता सिर्फ बीज प्रदाता है। इसलिए बच्चे अपनी माँ से ज्यादा प्रभावित होते है।

'हमारे शास्त्रो में भी पुत्र पर माता का अधिकार पिता के अधिकार से बारह गुना ज्यादा माना गया है। राम जब माता कौशल्या के पास जाते है और वन-गमन का सवाद सुनाते है, तो माता कहती है, 'यदि तेरे पिता ने तुझे वन जाने का आदेश दिया है तो मैं आज्ञा देती हूँ कि तू वन मत जा, लेकिन तेरी माता ने—यानी कैकेयी ने—तुझे वन जाने की आज्ञा दी है, तो तुझे रोकूँगी नही।'

'तो बेटा, माँ के चरित्र का बच्चे के निर्माण मे बहुत बडा हाथ होता है, और एक सती-साध्वी और पवित्र माँ ही एक योग्य सतान को जन्म दे सकती है। इसीलिए हमारे ऋषियो ने स्त्री के सतीत्व और उसकी पवित्रता पर इतना जोर दिया है।'

अपने कार्य में फौलाद की दृढता लेकिन मित्र रूप मे नवनीत-सा हृदय रखनेवाले

श्री जगदीशप्रसाद सिहानिया
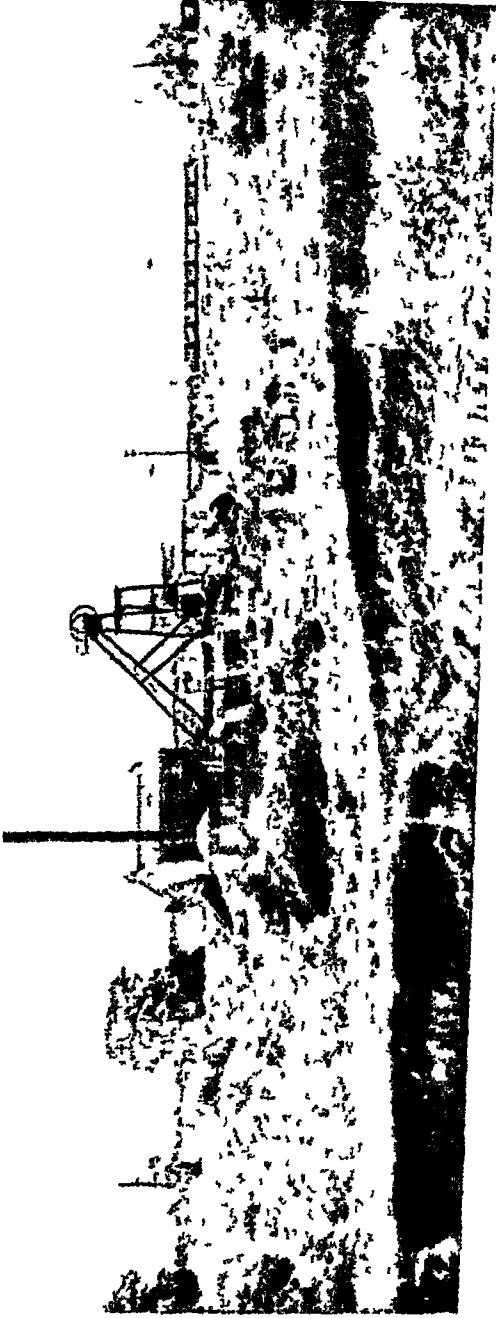
परासिया कोलियरी का प्रारम्भिक रूप · पिट नम्बर १ जामवाद बॉटम सीम

यहाँ की भूमि हँस रही है!

०

सन् १९४२ के मई महीने की बात है। मैं कलकत्ता गया। मैं पहले ही लिख चुका हूँ कि मैं कलकत्ते में हमेशा भाई किशनलालजी के यहाँ ही ठहरता था। इस बार के कलकत्ता-प्रवास में एक दिन भाई किशनलालजी ने कहा, 'देखो, रानीगंज मे परासिया नाम की एक छोटी-सी कोलियरी है। किलवर्न इसके मैनेजिंग एजेण्ट है। इसको बी० मुखर्जी ने ५ साल की लीज पर ले रखा है। हम उसको फाइनेंस करते है, यानी ब्याज पर रुपया उधार देते है और साथ-ही-साथ कोयले की बिक्री पर दो आना टन के हिसाब से हमें कमीशन भी मिलता है। मुखर्जी ने प्रस्ताव दे रखा है कि अगर यह कोलियरी हमें पसन्द आ जाये, तो हम इसे ले लें। इसलिए मेरा विचार है कि एक बार अपन इसको देख लें। पसन्द आने से कदम आगे बढायेंगे। सो तुम जैरामपुर जाते समय इसे देख लो। तुम्हारे साथ लडके लोग भी चले जायेंगे।'

मैं दूसरे दिन मोटर से रवाना हो गया। साथ में थे जगदीशप्रसाद सिंहानिया, वकट बाबू और एक-दो जने और। कोलियरी तक गाडी जाने का रास्ता न था, इसलिये गाडी को नदी के इसी पार रखकर हमने आगे का रास्ता पैदल पार किया। वहाँ रामगोपाल के पास ठहरे।

मैं वहाँ पहुँचते ही मैनेजर को लेकर खान में चला गया। डिप पानी से भरी हुई थी। मैनेजर ने डिप की ओर संकेत करके कहा, 'पानी बहुत है।'

मैंने सारी मशीनरी की लिस्ट ले ली, और जो देखने का था, थोड़ी देर में देख-भालकर हम वापस ऊपर आ गये।

मेरे साथी मेरी राय के लिये बड़े उत्सुक थे। लेकिन मैंने कहा, 'रिपोर्ट जैरामपुर से भेज दूँगा—अभी कोई राय नहीं दूँगा।'

जब मैनेजर चला गया, तो मैं बोला, 'यह कोलियरी रसगुल्ला है। बेवकूफों के हाथ में बरबाद हो रही है।'

उनके लिये मेरी बात एक अनबूझ पहेली बन गई। इतने दिनों से किल्बर्न इसके मैनेजिंग एजेण्ट हैं—उनसे भी कोलियरी नहीं चल रही है। अंग्रेज मैनेजर भी कुछ नहीं कर सके, और मैं इसे रसगुल्ला कहता हूँ! बात क्या है?

जैरामपुर पहुँचकर मैंने भाई किशनलालजी से बात की। उनको मुझ पर पूरा विश्वास था ही। मेरी राय सुनकर उनको यह फिक्र सवार हो गई कि किस तरह से इस कोलियरी को लिया जाये।

भाईजी ने सर सीरिल फॉक्स को इसकी रिपोर्ट देने के लिये भेजा। उसने भी रिपोर्ट अच्छी दी। वह जियोलोजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया का सुपरिन्टेण्डेन्ट रह चुका था। सारे जियोलोजिकल प्लान्स उसी के बनाये हुए थे।

अब तो भाई किशनलालजी की दिलचस्पी और भी बढ़ गई। उन्होंने मुझे बुलाया और पूछने लगे, 'आप किस आधार पर इस पर इतने लट्टू हो गये हैं, सो खुलासा करके कहें?'

मैंने कहा, 'इस कोलियरी की जामबाद सीम में सिलेक्टेड माइनिंग करने से जो कोयला निकलेगा, वह बहुत बिकेगा। यह सच है कि सारी सीम अच्छी नहीं है, और इसीलिये इसके कोयले की इतनी माँग नहीं है, लेकिन इसके बीच का हिस्सा अच्छा है। दूसरी बात यह कि इस माइन में पानी नहीं है—यह सूखी है।'

मेरी बात सुनकर भाईजी बोले, 'लेकिन मैनेजर तो कहता है कि पानी इतना है कि बराबर भरा ही रहता है।'

मैं हँस पड़ा, 'वह तो मुझसे भी यही बात कह रहा था, लेकिन जब मैंने वहाँ पम्प देखा तो मुझे हँसी आ गई। वह पम्प तो अगर बरसात में खान को बचा ले, तभी बहुत है।'

मैंने आगे कहा, 'इसके अलावा वहाँ केंदा सीम भी है जो अनछुई पड़ी है; उसको सिंक करने से तो निहाल हो जाओगे।'

कैंदा सीम का जिक्र सीरिल फॉक्स भी अपनी रिपोर्ट में कर चुका था। मेरी बात सुनकर भाई किशनलालजी चमक उठे और कहने लगे, 'आप कैसे कहते हैं कि वहाँ कैंदा सीम है ?'

उत्तर में मैंने कहा, 'आस-पास की सीम का हवाला मैं मैनेजर से ले चुका हूँ। जब राईज में काम हो रहा है, तो उस सीम को इस कोलियरी में मिलना ही है।'

भाईजी ने तीन अंग्रेज मैनेजरो से और रिपोर्ट ली। सब की रिपोर्ट उत्साह-वर्द्धक ही रही। ये रिपोर्टें लेने में उन्होंने काफी रुपया खर्च किया। अन्त में वे मुझसे कहने लगे, 'इसकी लीज ५००००) में ५० वर्ष के लिये मिल रही है।'

मैंने उत्तर दिया, 'अवश्य ले लें।'

वे बोले, 'अगर ७५०००) में ७५ साल की लीज पर मिल जाय, तो कैसी रहे ?'

मैंने कहा, 'फिर तो सोने में सुगन्ध ही हो जाय।'

उन्होने कहा, 'लेकिन तब तुम्हें आना होगा। बारह आना, चार आना हिस्से मे काम कर लेंगे।'

मैंने यह शर्त मजूर कर ली।

जब यह बात फूटने लगी, तो एक पडोसी-भाई ने इस कोलियरी के लिए ज्यादा रुपयो का ऑफर दे दिया और वह कोलियरी हमारे हाथ से जाती रही।

तब फिर विचार-विमर्श हुआ और तय हुआ कि इसके शेयर ले लिये जायें। उस समय शेयरो के एक रुपये, सवा रुपये के भाव थे। भाईजी ने कोर्नर करके शेयर ले लिये और साथ-ही-साथ इस कोलियरी की मैनेजिंग-एजेन्सी भी उन्हें मिल गई। यह बात नवम्बर १९४४ की है।

काम शुरू कर दिया गया, लेकिन काम ठीक से चला नही। तब भाईजी ने मुझसे एक आदमी की तलब की।

मेरे ध्यान में एक अच्छा मैनेजर था—त्र्यम्बकलाल मेहता। वह फर्स्ट-क्लास मैनेजर था, और उन दिनों नौकरी की तलाश में था। वह मेरा परिचित था और मुझे श्रद्धा की दृष्टि से देखता था। मैंने उसको ६००) माहवारी तनखाह पर भेज दिया। भाई किशनलालजी को तो कोई उज्र था ही नही, जो मैं कर दूँ, उन्हें स्वीकार था।

यह कच्छी मैनेजर प्रति सप्ताह मेरे पास आता और कोलियरी को किस तरह चलाया जाय इस पर विचार-विमर्श होता। मैं भी बीच-बीच में एकाध दिन के लिए वहाँ चला जाता।

डेवलपमेंट का काम चालू किया गया, लेकिन बात कुछ बनी नही। अब तो

भाई किशनलालजी को शक होने लगा कि शायद कोलियरी ठीक नही है। उन्होने फिर मुझे बुलाया और सलाह-मशविरा हुआ।

मैंने कहा, 'मैं आशावादी जरूर हूँ, लेकिन अकारण नही।'

भाई किशनलालजी ने कहा, 'आपको विशेष ध्यान देना चाहिए।'

मैंने उत्तर दिया, 'आप मुझसे जितना भी काम ले सकें, लें, मैं तो इसे आपकी विशेष कृपा ही समझूँगा।'

हम दोनो कोलियरी के लिए रवाना हुए। अण्डाल उतरकर एक परिचित की मोटर ले ली, लेकिन कजोरा के रास्ते में वह भी खराब हो गई। हम रास्ता जानते नही थे। आखिर एक बैलगाडी में बैठकर नॉर्थ अजय कोलियरी पहुँचे। वहाँ क्या देखते है कि एक कार में दामजी घेला भाई जा रहे है। मुझको देखकर वे रुक गये। बोले, 'अरे, आप यहाँ कहाँ ?'

मैंने कहा, 'भाई, हमें परासिया जाना है।'

वे हमको अपनी कोठी पर ले गये। वहाँ से हम नदी पारकर परासिया पहुँचे।

रात हो चली थी। उस रात तो हम सो गये। खाना रामगोपाल के यहाँ खा ही चुके थे।

सवेरे उठकर घूमने निकले। मैं अचानक कह उठा, 'यहाँ की भूमि हँस रही है। इसमें बडा भारी काम होनेवाला है।'

भाई किशनलालजी ने कहा, 'लेकिन इस मैनेजर से तो काम चलनेवाला है नही। हमको कोई अच्छा आदमी दो।'

मैंने कहा, 'जी, खोजूँगा।'

भाईजी बोले, 'खोजोगे, कि सोचोगे ?'

मैं हँसकर बोला, 'जी नही, सोचने का तो सवाल ही नही है—खोजूँगा जरूर।'

वे बोले, 'लेकिन अनुभवी ऐसा हो जो मैनेजर से काम ले सके।'

मैंने कहा, 'इस काम में देरी लगेगी, लेकिन मैं तलाश में रहूँगा।'

समय बीतता चला गया। काम बस में आया नही। बाजार की रुख के अनुसार मैनेजर के १२००) माहवारी कर दिये गये। उसे मोटर भी दे दी गई।

अब एक नम्बर इनक्लाइन की कटनी शुरू हो गई, लेकिन जो कोयला उठ रहा था वह तो पिलर को ही नोचकर लिया जा रहा था। वैसे रिपोर्ट अच्छी ही थी, लेकिन पूरे काम की देख-भाल कर सके, ऐसा कोई आदमी अच्छा मिल नही रहा था, इसलिए काम का ढग नही बैठ रहा था। तो अब करें तो क्या

मैं इस समय जैरामपुर मे वडा सुखी था। एक लाख टन वार्षिक रेजिग हो रहा था। दोनो पार्टियाँ मेरे काम से वडी प्रसन्न थी। उन्हें काफी पैसा मिल रहा था। डेवलपमेंट का काम खत्म-सा हो चला था—यो तो कोलियरी में डेवलपमेंट बराबर हो चालू रहता है। अब उतना परिश्रम भी नहीं करना पडना था। महाबीर बाबू के हृदय में मेरे लिये वडा भारी स्थान था। मैं उनका आज भी वडा कृतज्ञ हूँ, लेकिन मुझसे आज वे रुष्ट है, कारण यथास्थान मालूम होगा।

प्रकृति का तीसरा संकेत

जैरामपुर मे मेरे पास जो वगला था, वह दो मंजिला था। नीचे मैं रहता और मेरे वच्चे ऊपर रहते। खाना नीचे वनता। मेरा सोना-वैठना भी नीचे ही होता। मैं ऊपर कभी-कभी ही जाता। मेरे स्वभाव मे है कि एक दफा जो जगह अपना लेता हूँ, तो फिर वह मुझसे छूटती नही। वैठने का स्थान भी एक ही रहेगा—चाहे ऑफिस हो, चाहे घर। गद्दी पर भी सदा एक ही स्थान पर वैठता हूँ, और वह भी एक किनारे पर ही। दूसरी जगह मुझसे वैठा नही जाता। इस स्वभाववश मैं नीचे ही रहना पसन्द करता था।

एक दिन सवेरे स्नानादि से निवृत्त होकर मैं ऊपर चला गया। ऊपर का कमरा काफी वडा था। जैसे ही मैंने उस कमरे में प्रवेश किया, मुझे ऐसा प्रतीत हुआ मानो कमरे की दीवालो ने मुझे दवोच लिया हो—अँग्रेजी में जिसको सैण्ड-विच हो जाना कहते है। मैं कह उठा, 'यह मकान तो छोटा पड गया! अव तो यह मकान छूटा, कोलियरी छूटी, यह स्थान छूटा!'

मेरी पहले की दो दफा की वात सच हो चुकी थी। इसलिए इस वार की मेरी वात सुनकर मेरी स्त्री वडी घवडा गई। वोली, 'अरे, यह आप क्या कह वैठे?'

मैंने कहा, 'मैं इसमें क्या कर सकता हूँ ? यह मकान तग हो गया है। इससे तो साफ यही झलकता है कि अब कोई दूसरा प्रशस्त मकान और बेहतर काम मिलेगा, लेकिन मैं कोई भविष्य-द्रष्टा या भविष्य-वक्ता तो हूँ नही। खैर, प्रभु अच्छी ही करेंगे। डर किस बात का है ? यह तो प्रकृति की वाणी है। इसे कौन रोक सकता है ?'

बात आई-गई हो गई। हम इसे भूल भी गये।

यह बात है सन् १९४६ के जनवरी मास के पहले हफ्ते की।

इन्ही दिनो गवर्नमेंट ने कानून बना दिया कि एक खास तारीख के बाद एक हजार रुपये के नोट नाजायज हो जायेंगे। बैंको में इन नोटो को जमा देने की घूम मच गई। जो छुटभइया थे और जिनके पास ये नोट थे, वे बडी-बडी फर्मो में जाकर बट्टा देकर इन नोटो को भुना लेते।

सेठ ताराचन्द घनश्यामदास की कलकत्ता की गद्दी मे १-१ दिन में हजार रुपयेवाले लाख-लाख रुपये के नोट उनके दिसावरो से आने लगे।

मालिको की मीटिंग हुई, और मुझे फोन किया गया कि कैश में जितने रुपये हो, सब को तुरन्त कलकत्ता ले आऊँ। मैं दूसरे दिन सवेरे रकम लेकर कलकत्ता चला गया और सीधा सेठ लछमनप्रसादजी के पास पहुँचा। मोटर उनकी ही थी। मैंने रुपये उनके सामने रख दिये।

महाबीर बाबू हँसकर बोले, 'अरे वाह, आप खुदरा नोट कैसे लाये ? हजार-हजार के नोट क्यो नही लाये ?'

मैंने कहा, 'जो कैश में था उसी को तो लाता।'

अब तक मैं रहस्य समझ चुका था। फिर उन्होने भी खुलकर सारी बात बता दी। मैं अग्नि-परीक्षा में उत्तीर्ण निकला। उन दिनो हजार के नोट ८००), ७००), ५००) तक में बिक रहे थे। मेरे पास भी कोलियरी में लोग हजार-हजार के नोट लेकर आते ही थे, लेकिन मैं इस प्रलोभन मे नही फँसा था।

खैर, तो मैंने रुपये गद्दी में जमा दे दिये, और फिर सेठ श्रीनिवासदासजी के यहाँ जाकर उतर गया। भाई किशनलालजी की फर्म में और सेठो की फर्म में उन दिनो बडी तीख चालू हो गई थी, इसलिये मैं कुछ दिनो से यही उतरने लगा था।

रात को खा-पीकर सोने चला गया। सवेरे निवृत्त होकर चला भाई किशनलालजी से मिलने। बीच मे मकान पडता था सेठ जानकीप्रसादजी (फर्म के पार्टनर) का। पहले उनसे ही मिलने चला गया। उन्होने बडे प्रेम से मेरा स्वागत किया। मैं ज्यो ही बैठा, वे कहने लगे, 'कहिये, आज-कल क्या काम

करते है ?'

मैं आश्चर्य-चकित रह गया। सोचने लगा—क्या ये मुझे पहचान नहीं सके हैं ? आखिर मैं बोला, 'जी, मैं तो जैरामपुर में ही काम कर रहा हूँ।'

तो ये कहने लगे, 'न जाने किसने मुझसे कहा था कि आपने हमारा काम छोड दिया है। यह तो बडा भ्रम हो गया, लेकिन मेरी समझ में नहीं आता कि यह हुआ कैसे ?'

फिर इधर-उधर की बातें करते रहे। थोडी देर बाद मैं उठकर चला आया। रास्ते भर मैं सोचता रहा, कि यह क्या हुआ ? मालिक के मुख से ये शब्द निकले हैं, तो व्यर्थ तो होने के नहीं।

विचारों की इसी ऊहापोह में मैं भाई किशनलालजी के मकान पर पहुँच गया। जैसे ही मैंने सीढी के दरवाजे से बराण्डे में पैर रखा कि भाई आनन्दीलालजी मेरे ऊपर टूट ही पडे, 'देखो, तुम्हें अभी-का-अभी फैसला कर लेना होगा। तुम्हारे ऊपर सेठों से ज्यादा हमारा हक है। मेरे पिताजी ही तुम्हें यहाँ लाये थे। कोलियरी भी तुम्हारे ही कहने से ली गई है। अब उसकी जो हालत हो रही है, वह तुमसे छिपी नहीं। तुम्हें अभी फैसला करना होगा···एक मिनट की भी देरी नहीं होगी।'

मैंने हँसते हुए कहा, 'लेकिन बताइये तो कि आप कहना क्या चाहते हैं ?'

तब बोले, 'बात और कुछ नहीं है, बस तुम जैरामपुर छोडकर परासिया चले जाओ। बस, हम लोग यही चाहते हैं।'

मैंने कहा, 'यह तो मुश्किल काम है। मैंने तो इस बारे में कभी सोचा ही नहीं। मुझे सोचने का अवसर तो मिलना चाहिये।'

भाई आनन्दीलालजी बोले, 'सो होने का नहीं। फैसला अभी होना है।'

इस पूरी बात-चीत के बीच भाई किशनलालजी मुस्करा रहे थे। अब उन्होंने मुझसे टर्म्स देने को कहा।

मैंने टर्म्स दे दिये। उन्होंने सभी बातें स्वीकार कर लीं और उसी समय स्टेनो को बुलाकर अनुबन्ध टाइप करवा लिया। फिर उसकी एक कापी मुझे पकडा दी और कहा, 'हो जाइये चम्पत।'

मैंने कहा, 'इस तरह तो चम्पत मैं होने का नहीं। अभी तो मुझे खाना खाना है। खा-पीकर ही जाऊँगा।'

मैंने और भाई किशनलालजी ने एक साथ भोजन किया और फिर मैं वहाँ से चला आया। आते समय यह निश्चित हो गया कि मैं तीन मास के भीतर परासिया चला जाऊँगा। अभी तो परासिया में रहने का मकान था नहीं—

बिना मकान के रहता कहाँ ? इसलिए मकान बनवाना तुरन्त चालू करा दिया गया।

मैं सोचता रहा, 'अरे, यह हो क्या रहा है ? परासिया जाऊँगा, नये सिरे से उसे बनाना होगा—तो फिर वही धुनाई ! यह धुनाई कभी बन्द होगी कि नही ? मिथिला बडी हो गई है। जगल मे चले जायेंगे तो मेरा बाह्य जगत से फिर नाता टूट जायेगा। उसकी शादी कैसे होगी ? इतनी बडी लडकी को लेकर जगल-वास करना क्या उचित होगा ? बच्चो की पढाई भी कैसे होगी ? पता नही, स्त्री भी वहाँ जाने को राजी होगी कि नही ?'

इसी प्रकार सोच-विचार करता हुआ मैं इधर-उधर घूमता रहा। सलाह-मशविरा करूँ भी तो किससे ? मैं तो सदा एक से ही सलाह-मशविरा करता था, और आज वही पार्टी बना हुआ है। अब हृदय की बात कहूँ, तो किससे कहूँ ?

आखिर साँझ को सेठ श्रीनिवासदासजी के घर पहुँचा और कोलियरी जाने की तैयारी करने लगा।

यह देखकर वे बोले, 'देखो, तुम आज न जाकर कल सवेरे लक्ष्मण से मिलकर जाना। आज तुम्हारे बारे में मैंने भाइयो के बीच प्रस्ताव रखा था कि कोलियरी से तुमको कलकत्ता की गद्दी में बुला लें। यहाँ तुमको वही काम मिलेगा, जिसके द्वारा तुम्हारे मित्र आज इतने बडे आदमी हो गये है।'

मैं फिर भाई किशनलालजी के पास पहुँचा और उनको सारा हाल कह सुनाया।

उन्होने बडी सजीदगी से उत्तर दिया, 'यह तो मैं कैसे कहूँ कि हमारा ऑफर इस ऑफर से अच्छा है, लेकिन इतना जरूर कह सकता हूँ कि आपके घर में हमारा ऑफर विशेष महत्व रखेगा। आपको न केवल मैं, बल्कि मेरी सतान भी मानेगी। इसलिए आपको दुविधा मे पडने की कोई जरूरत नही। आप परासिया जाने का ही निश्चय रखें। यही आपकी लाइन भी है।'

उनकी यह बात मुझे भी जँची।

दूसरे दिन मैं सेठ लछमनप्रसादजी से मिला। मुझे देखते ही वे कहने लगे, 'क्या तुम्हारे पास जादू की छडी है कि जहाँ जाते हो, घुमा देते हो ? कल तुमने श्रीनिवासजी पर क्या जादू कर दिया कि वे तुम्हे कलकत्ता की गद्दी मे बुला रहे है ? कोलियरी का काम अच्छा नही लगता क्या ? वहाँ से मन उकता गया है क्या ?'

मैंने कहा, 'ऐसी तो कोई बात नही है। यह तो मेरे प्रति आप लोगों का प्रेम और कृपा है, जो आप सब मुझे इतना चाहते है, लेकिन सच पूछें तो मुझे कोयले के काम मे ही ज्यादा दिलचस्पी है, मैं इस काम को छोडना नही चाहता।'

उन्होने मुझे कोलियरी जाने की आज्ञा दे दी।

सेठ लछमनप्रसादजी से बात-चीत करने के पश्चात् जब मैं जैरामपुर के लिए रेलगाडी में चला जा रहा था, तब मन-ही-मन कल की घटनाओ के वारे मे विश्लेषण करता जा रहा था। मैं तय नही कर पा रहा था कि परासिया चला जाऊँ, या शेष जीवन जैरामपुर में ही बिता दूँ। अक्सर जटिल परिस्थितियो मे वुद्धि की विश्लेषणात्मक शक्ति सहायक नही वन पाती। आखिर मैंने यही तय किया कि चलो, जैसा प्रकृति चाहती है वही करूँगा। प्रकृति का खयाल आते ही मुझे उस दिन की घटना याद आ गई जब ऊपर का कमरा मुझे तंग-सा महसूस होने लगा था, और मैं कह उठा था कि यह स्थान छूटे विना न रहेगा। फिर मैं सोचने लगा कि सेठ जानकीप्रसादजी के मुख से यह बात कैसे निकली कि तुमने हमारा काम छोड दिया है, और तुम दूसरा काम करने लग गये हो। मेरी तरफ से स्थिति स्पष्ट करने पर भी उनका भ्रम दूर नही हो पाया था, और चन्द मिनटो के वाद ही भाई आनन्दीलालजी एव भाई किशनलालजी से बात-चीत होने के पश्चात् एक निश्चित पथ निर्दिष्ट हो चुका था। आज चलते वक्त सेठ-लछमनप्रसादजी ने भी यही कहा था कि कोयले के काम से क्या तुम्हारा मन विचलित हो चला है? इन सब बातो को सोचते हुए लगता है, प्रकृति यही कहती है कि कोयले का काम ही मेरा निर्दिष्ट पथ है। इसका त्याग नितान्त अवाञ्छनीय है। अव मन मे प्रश्न उठने लगा कि जैरामपुर में ही रहूँ, अथवा परासिया चला जाऊँ? इस विषय में भी प्रकृति का निर्णय परासिया के पक्ष मे ही सवल था। इस प्रकार मन में उधेड-बुन होती चली गयी। आखिर जैरामपुर पहुँचकर मैंने अपनी पत्नी को सारा वृत्तान्त कह सुनाया।

वह वोली, 'लीजिये, आपकी तीसरी वात भी सच्ची हो गई, लेकिन आप कहते है कि परासिया मे जगल है, वहाँ मकान नही है, जव कि उस दिन आप कह रहे थे कि हमें इस मकान से अच्छा मकान मिलेगा?'

मैंने कहा, 'मैं कोई भविष्य-वक्ता या भविष्य-द्रष्टा तो हूँ नही। जो उस समय जँचा, सो कह दिया। अब जो होगा सो देखा जायेगा।'

तव वह वोली, 'देखिये, हम लोग कलकत्ता तो नही जायेंगे। हमारे लिए तो कोलियरी ही अच्छी है। अजी, आपको परासिया को भी वनाने में क्या देर लगेगी? इसको वना लिया, तो क्या उसको नही वना सकेंगे? अपन तो अपनी इच्छा से वहाँ जा नही रहे, प्रकृति ही हमे वहाँ भेज रही है। हम इसमे भला क्या कर सकते है?'

अव मेरी स्त्री भी प्रकृति की दुहाई देना सीख गई थी।

इस पर भी मैं सोचता रहा कि जब तक प्रकृति से मुझे एकदम स्पष्ट निर्देश नही मिलता, तब तक मैं त्याग-पत्र नही दूंगा। आखिर यह घटना भी घट ही गयी जिसके बारे में आप आगे पढेंगे।

मेरा पूर्ण विश्वास है कि प्रकृति जितनी मूक प्रतीत होती है, वास्तव मे उतनी ही वह वाचाल भी हे, और वह भी निर्देशात्मक। साधारणतया मनुष्य इसकी वाणी को समझ नही पाते, क्योकि इसमे जरा श्रद्धा और मनोयोग की आवश्यकता पडती है। थोडी साधना के पश्चात् इसका निर्देश स्पष्ट समझ में आने लगता है।

तो जनवरी मास के अन्त मे भाई किशनलालजी का फोन आया—यह जानने के लिये कि मैंने त्याग-पत्र दिया या नही ?

मैंने उत्तर दिया, 'अभी नही दिया है, मौका देख रहा हूँ।'

मैं समझ नही पा रहा था कि मुझे क्या करना चाहिये ?

फरवरी बीत गई। मार्च का महीना भी शुरू हो गया। त्याग-पत्र देने का नाम नही। भाई किशनलालजी भी दिल में क्या खयाल करते होंगे—मैं लिख नही सकता।

एक दिन स्वप्न में मुझे भइया के दर्शन हुए—वे प्रसन्न मुख थे। मेरा उत्साह बढा और मैं होली के बाद वोरा के ऑफिस में गया। वहाँ रसिक भाई बैठे थे। मुझे देखते ही वे हठात् बोल उठे, 'आप मारवाडियो को तो भगवान ही पहुँचे।'

मैंने कहा, 'क्यो, क्या हुआ ?'

उन्होने झरियावाले भगवती बाबू के ऊपर कुछ ताने कसे, और फिर कहने लगे, 'लेकिन मेरा यह रिमार्क आप पर लागू नही पडता—आप इसके अपवाद है। हमारे इस रिमार्क का आप बुरा न मानें।'

मैं मुस्कराकर रह गया। मन में यह विचार कौंध गया कि, ओह, आखिर बोल ही गई प्रकृति कि, अपनो मे जाकर मिल जाओ।

मैंने उसी रात्रि मे त्याग-पत्र लिख डाला और दूसरे दिन कलकत्ता भेज दिया। कॉपी के० वोरा एण्ड कम्पनी को भेज दी। सभी स्तम्भित थे—हठात् यह क्या कर गया मैं ? कारण किसी की समझ मे नही आ रहा था।

मुझे कलकत्ता से बुलाहट हुई। सेठजी बोले, 'क्या फिर कोई दूसरा डालमिया आ धमका ?'

मैंने सारी बात उन्हें बता दी।

तब वे बोले, 'आप जर्मन के कैम्प मे कैसे प्रवेश कर सकते है ?'

ॐ

अभिनन्दन पत्र

धन्य वही है जिसे न रिपुओं में प्रतीति है ।
शैलि प्रीति है नहीं, न उनसे तनिक भीति है ॥
जिसको निज कर्तव्य याद रहता है हरदम ।
उसका कथ उत्साह भला हो सकता है कम ?
हिम-मेघों में रवि कार्य में, विघ्न नहीं क्या क्या किया ?
वे किन्तु आप ही मर मिटे, उसका क्या कुछ कर लिया ॥१॥
दृढ प्रतिज्ञ क्या कभी विघ्न से डर सकते हैं ।
यम का भी वे सदा सामना कर सकते हैं ॥
जो चलते हैं सदा परार्थ हित के मग में ।
चुभ सकते हैं कभी न कांटे उनके पग में ॥
अति प्रबल पवन से भी जलद तब तक हट जाते नहीं ।
जब तक सतृष्णा संसार को, जल मय कर पाते नहीं ॥२॥
धन्य निरंजन लाल ऐसे हो तुम गुन शाली ।
धन्य गोयनका वंश जासु की ऐसी लाली ॥
शुद्ध हृदय औ दया, कृपा युत दीन सहायक ।
देश प्रेम निर्लोभ सुपथिकों के तुम नायक ॥
आचरण स्वच्छ के गर्व युत, ईश्वर से अस्तुति करत ।
हिन्दी हिन्दू हिन्द हित, हर हमेशा हामी भरत ॥३॥
हरिजन हित के लिये ढाग गिरि कर दो धूली ।
अथवा कठिन समाज बन्ध तोड़े ज्यों मूली ॥
दीन जनों का हेत दर्शाइ समय समय पर ।
शिक्षा का पर चार हरिजनों के हो घर घर ॥
यही कामना आप की, निशि वासर बढ़ती रहत ।
चन्द दुइज के शिर धरे चन्द मौलि शिव को कहत ॥४॥
जो हद दो निस्वार्थ भलाई चाहे जग की ।
क्यों न बने संसार धूलि फिर उसके पग की ॥
जग-सेवक हो सेव्य जगत के बन जाते हैं ।
चाहे हो वे नीच तदपि पूजा पाते हैं ॥
क्या ? विन्ध्य गिरि जड़ है नहीं, क्या ? कामधेनु पशु है नहीं ।
पर उनके दर्शन के लिये, उत्कण्ठित यह है मही ॥५॥
आप मनुज के रूप निरंजन चीन आये हो ।
विद्या विनय विवेक विमल-कुल यश पाये हो ॥
दीन जनों के हित हालत रक्षक सदा तुम ।
विश्व बन्धुता भाव भव्यता अदा करो तुम ॥
धन्य ! शिष्ट जनों की शिष्टता दृष्टि सकती संसार में ।
अगम वन्द्य होते सदा यश पाते उपहार में ॥६॥

भगवान दास
अग्रवाल

जैरामपुर कोलियरी से विदाई के समय लेखक को समर्पित किया गया

अभिनन्दन-पत्र

मैंने कहा, 'मेरी दृष्टि मे भाई किशनलालजी जर्मन नही है। वे एक निराले ही व्यक्ति है, और उनको दिये हुए वचन से मैं टल नही सकूँगा। यह मेरा दृढ निश्चय है। आपका मैं बडा आभारी हूँ और रहूँगा, लेकिन अब मुझे जाना हो होगा। कोई भी अवरोध या प्रलोभन मुझे रोक नही सकेगा।'

बाद मे पता चला कि उनका इरादा मुझे ५०००) मासिक देने का था, लेकिन उस समय इस बात को खुलासा करने का मैंने उन्हे अवसर ही नही दिया। वे क्रुद्ध हो गये और कह उठे, 'आई विल पुट यू इन ए रोग पोजीशन।'

मैं सोचता रहा कि मेरी पोजीसन कैसे रोग होगी ? क्या आरोप लगायेंगे ये मेरे ऊपर ? फिर वह आरोप जायेगा भी तो उन्ही के पास जो सब बात पहले से ही जानते है। मेरा आशय भाई किशनलालजी से है।

मैं के० वोरा के ऑफिस मे गया। मैंने सेठजी की बात हरिशकर वावू से कह दी, और उन्होने इसे सेठजी से कह दिया।

मुलाकात होने पर सेठजी मुझसे कहने लगे, 'मेरा मतलब तो यह था कि तुम जाते समय हमको रोग पोजीशन में न डालते जाना।'

मै वाद-विवाद मे पडना पसन्द नही करता। इसलिए मैं चुप रहा और कोलियरी चला गया।

इसके थोडे दिन बाद मैंने वीरम वावू से कहा, 'देखिये, मुझे यहाँ से जाना है। अब काम मे मेरा मन लगता नहीं, और मेरी कलम तथा जिह्वा में भी अब वह बल नही रहा, क्योकि मैं त्याग-पत्र दे चुका हूँ। आपका काम खराव हो रहा है। कम-से-कम एक आदमी को तो भेज दें, ताकि वह काम देखे।'

वीरम वावू ने कहा, 'हम क्या करें ? आपके मालिको ने ही कह रखा है कि इनसे चार्ज न लो।'

मैंने कहा, 'मेरे पास चार्ज देने को है ही क्या ? स्टोर में आपका आदमी है, खान में आपके आदमी है, कैशियर आपका है। मेरे पास केवल एक चीज है—चेको पर सही करना, सो मैं परासिया जाकर भी सही करता रहूँगा। भला मेरा इसमें क्या लगता है ? बैंक में जो जमा होगे, और चेक से जो रुपये निकाले जायेंगे, उनका हिसाव तो आपका कैशियर ही रखेगा।'

उनकी समझ में मेरी बात आ गई और उन्होने एक आदमी भेज दिया। मैंने उसको सारा चार्ज दे दिया।

परासिया मे पदार्पण

०

मैं दिनाक ६ जून १६४६ को करीब १० बजे परासिया पहुँच गया। मैं साथ में लाया था केवल अपनी किताबें। मेरा सामान, फर्नीचर, बर्तन आदि सब तो कम्पनी के थे, उनसे मेरा क्या वास्ता था। वीरम बाबू ने एक दफा कहा भी था कि बर्तन मुझे साथ ले जाने चाहिएँ।

मैंने उत्तर दिया था, 'वीरम बाबू, हमारे यहाँ अगर एक दफा भी बर्तन काम में आ जाते है, तो फिर उनकी कीमत ठीकरो के बराबर हो जाती है। प्रभु की कृपा से परासिया में मेरे लिए सारा सामान तैयार है।'

इसलिए मैं जैरामपुर से चलते समय सारे मकान को ज्यो-का-त्यो छोडकर चला आया था। उस कच्छी महाशय से मैंने कह दिया था कि आप कृपया खडे रहकर मेरा समान लॉरी मे लदवा दें। वह तो यही चाहता भी था, उसे मौका मिल गया।

इस तरह हम एक लोटा भी अपने साथ नही लाये। रास्ते में बच्चो को प्यास लगी, तो बराकर मे हाँडी खरीदकर उन्हें पानी पिलाया और कलेवा कराया था।

परासिया पहुँचकर, स्नानादि से निवृत्त होकर, हमने भोजन किया और फिर घर को ठीक करने मे लग गये।

दूसरे दिन सवेरे ही भाई किशनलालजी आ गये। सीधे मेरे घर में गये और सब सामान यथास्थान रखा देखकर बहुत प्रसन्न हुए और कहने लगे, 'आप कितने दिन से यहाँ रह रहे है ?'

मैंने भी उसी तरह मजाक में उत्तर दिया, 'जी, मुझे तो यहाँ रहते काफी दिन हो गये है।'

फिर तो हम दोनो खूब हँसे।

भाई किशनलालजी तो दूसरे दिन सवेरे वापस चले गये, और मैं उसी समय से काम में जुट गया।

मैनेजर त्याग-पत्र दे चुका था। उसको मेरा आना अच्छा नही लगा था, या यो कहें, मेरे नीचे काम करना उसे स्वीकार नही था। सर्वेयर भी असहयोग कर गया। इन्चार्ज था एक बगाली—वह भी चल दिया। आदमी छिन्न-भिन्न होने लगे। एक स्टोर-कीपर था—उसने भी सहयोग नही दिया।

पुराने आदमियो में सिर्फ एक चौहान था जो सहयोग देता चला गया। वह आज भी इसी कोलियरी में है। आज उसकी पोजीशन बहुत ऊँची है। उस वक्त तो वह सरदारी ही पास था, आज सेकण्ड-क्लास मैनेजर है। इस कोलियरी का सारा डेवलपमेंट उसके हाथो से ही हुआ। मेरी पत्नी उसे पुत्रवत् मानती थी। मुझसे किसी काम के लिए कहती, और वह काम न हो पाता, तो तुरन्त चौहान को बुलाकर कह देती और उसका काम तुरन्त हो जाता। तब वह हँसती-हँसती मुझसे कहती, 'लो, तुमसे तो कह-कहकर हार गई, फिर मैंने चौहानजी को बुला लिया और देखो, काम तुरन्त हो गया।'

मैं भी हँसकर कह देता, 'मैं भी तो उसके द्वारा ही कराता। चलो अच्छा हुआ, मुझे कहने का कष्ट नही करना पडा।'

हमने दूसरे दिन क्वारी के ठेकेदार को विदा कर दिया और वहाँ पर जो डीजल पम्प था, उसे मैंने न० २ इनक्लाइन पर लगा देने को कह दिया। लोगो को यह अच्छा न लगा। मुझसे कहता तो कौन, लेकिन उनका भाव मैं समझ गया। इसलिए मैंने चौहान को अपना तात्पर्य समझा दिया, 'देखो, बरसात में क्वारी से कोयला उठ नही सकेगा। फिजूल में पम्प का खर्च लगेगा। इधर अपनी इनक्लाइन का भी काम पम्प के बिना नहीं हो सकेगा। इसलिए इनक्लाइन पर डीजल पम्प को लगाना निहायत जरूरी है। इसीसे अपना वास्तविक रेजिंग होगा। इसे ६ मास में फिट कर ही देना है।'

चौहान मेरी बात समझ गया।

इस समय हमारे पास मजदूर बहुत कम थे। मिट्टी कटाई के भी मजदूर

नही थे। हमारी छोटी-सी युनिट थी, इसलिए इधर आने का कोई रुख ही नही करता था।

हमने यों ही २-४ आदमी लगा दिये। वस, हल्ला हो गया कि परासिया में वडा भारी काम खुल गया है। धीरे-धीरे आदमी आकर टूटने लगे, और हमने उनको यथास्थान फिट कर लिया। साथ-ही-साथ कारखाना वनाना भी शुरू कर दिया। लकाशायर वोयलर भी वैठाना शुरू कर दिया। इधर मकान भी वन रहे थे। उधर, १ इन्क्लाइन भी फिट हो रही थी। चानक न० १ को भी हमने फिट कर दिया। भगवान की कृपा से ७-८ मास में ही सारा काम पूरा हो गया।

मैंने रेजिंग एकदम वन्द कर दिया। ऑर्डर कैंसिल करवा दिये। कलकत्तावाले घवरा उठे कि यह क्या हुआ? आया था रेजिंग वढाने…जो हो रहा था उसको भी वन्द कर दिया इसने तो!

वे परासिया आये।

मैंने उनको समझा दिया कि जो कोयला आज निकल रहा है वह तो इस खदान के जीवन को ही समाप्त कर रहा है।

वे मेरी वात समझ गये और चुपचाप वापस चले गये।

हमने खदान से सिर्फ उतना ही कोयला उठाया जितना कि हमे वोयलर में जलाने को चाहिये था।

जव हम चानक न० १ को ऊपर-नीचे फिट कर चुके, और डेवलपमेंट से हमने १२ गाडी उठाई तो मैंने कलकत्ता चिट्ठी लिख दी कि, 'आज हमने १२ गाडी उठाई है। प्रभु की महती कृपा मानते हैं कि थोडे दिनों मे ही इससे रेजिंग होने लगा।'

इसी तरह जव १ इनक्लाइन से रेजिंग शुरू हुआ, तो उसकी इत्तला भी कलकत्ता दे दी और लिख दिया कि, 'दो युनिट तो फिट हो गई है, तीसरी युनिट भी २-४ मास में फिट हो जायेगी। प्रभु ने चाहा तो १९४७ में अच्छा रेजिंग होगा।'

और सन् १९४७ मे हुआ ३७-३८ हजार टन रेजिंग! यह वात उनके लिये आशातीत थी।

इसके वाद तो हर साल रेजिंग वढता ही चला गया।

मैंने परासिया आते ही साइडिंग वढवाने पर भी ध्यान दिया। मुझे तो विश्वास था ही कि रेजिंग युनिट्स जल्दी ही तैयार हो जायेंगी, और कोयला

पर्याप्त मात्रा में उठने लगेगा, लेकिन अगर साइडिंग काफी न रहा, तो कोयला चालान न हो सकेगा और लगाये हुए लाखो रुपये फलीभूत न हो पायेंगे। मैं साइडिंग की फाइल लेकर बैठा, तो पता चला कि साइडिंग का केस बिगड चुका था। हमारे मैनेजर ने सिर्फ आसनसोल के डी० एस० को एक पत्र में इतनी ही प्रार्थना करके छोड दी थी कि हमारी साइडिंग बढा दी जाय।

रेलवे ने उत्तर में लिख दिया था कि तुम्हारी वर्तमान साइडिंग १३ गाडी की है, जिसका पर्याप्त लाभ अभी तुम नही ले सके हो। ऐसी दशा में एक्सटेंशन का प्रश्न ही नही उठता, आप लोग पहले रेजिंग बढा लें, तब लिखें।

मैंने इन पत्रो को पढा, तो मेरा दिमाग चक्कर खा गया। एक अनुभवी मैनेजर के हाथ की इस तरह की लिखा-पढी! मैंने तुरन्त एक मसविदा तैयार किया, जिसमें १०००० टन मासिक कोयला रेजिंग की स्कीम बनाई और इस आधार पर पत्र तैयार किया। पत्र प्रेषित किया डी० एस० आसनसोल को। उसकी एक प्रति भेज दी रीजनल कोल कन्ट्रोलर, धनबाद को।

पत्र का उत्तर न प्राप्त होने पर मैं धनबादवाले अफसर के पास पहुँचा। जब मैंने उनके कमरे में प्रवेश किया, तो क्या देखता हूँ कि मेरे चिर-परिचित मित्र (जो कभी फर्स्ट-क्लास मैनेजर थे) उस पद पर आसीन है।

मैं पूछ बैठा, 'अरे, मिस्टर बोस, आप यहाँ कब से?'

उत्तर में उन्होने पूछा, 'आप परासिया में कब से? मैं तो आपके पत्र को पढकर भ्रम में पड गया था कि कहाँ जैरामपुर और कहाँ परासिया? मैंने सोचा था कि कोई और ही सज्जन होगे।'

अब काम की बात होने लगी। वे बोले, 'भाई, आपका मैनेजर आया था। मैंने उसको साफ-साफ कह दिया था कि इस खान से रेजिंग नही हो सकेगा। इसलिए साइडिंग बढाने का केस बनता नही। वैसे मैं तुम्हारी सहायता करने को तैयार हूँ, लेकिन मेरे हाथ में बल ही नही आ रहा है कि मैं अनुमति प्रदान कर दूँ।'

मैंने कहा, 'परासिया कोयले का भण्डार है। यदि ऐसी बात न होती, तो मैं जैरामपुर छोडकर यहाँ आने का साहस कदापि न करता। प्रभु की कृपा बनी रही, तो यह बहुत बडी युनिट बनकर रहेगी।'

फिर मैंने जरा मजाक मे कहा, 'इस भूमि का कोयला ऊपर आने को अकुला रहा है। सिर्फ निमित्त की तलाश में है। साधन प्राप्त हुआ और यह उबलकर बाहर आने लगेगा।'

मि० बोस बोले, 'गोयनकाजी, यो तो हम लोग भी आपके अनुभव से

परिचित है, और माइनिंग-इन्सपेक्टर वगैरह तो आपके बारे में जिक्र करते ही रहते है, लेकिन जैसा आप कह रहे है, उस प्रकार की सम्भावना परासिया में तो प्रतीत नही होती। अच्छा, लाइये, जरा आपके नक्शे तो देखें।'

मैंने उन्हे अपनी पूरी स्कीम समझायी, तो वे बोले, 'ठीक है, अगर आपकी यह प्रस्तावित स्कीम पूरी पार पड जाय, तो फिर मेरे लिए और कुछ भी कहने की गुंजाइश नहीं रहती। लेकिन आप अपनी स्कीम के अनुसार काम कर सकेंगे, इसमे मुझे शक है। बिना कोल-कटिंग मशीन के आप कोयला रेजिंग कैसे करेंगे ? आपके पास तो बिजली भी नही है।'

मैंने हँसकर कहा, 'जैरामपुर मे बिजली कहाँ थी, लेकिन मैं वहाँ १०००० टन रेजिंग करता ही था। आप अपने रेकार्ड देख लें। अगर मेरे पास कोल-कटिंग मशीन नही है, तो ह्यूमन मशीन तो कही गई ही नही है। प्रत्येक गैलरी मे मूल चला दूँगा। मुझे पहले भी इससे काफी सफलता मिली है।'

यह सुनते ही वह फडक उठा और बोला, 'अगर ऐसा कर लोगे, तो मैं मान गया।'

इस विचार-विमर्श के बाद उसने १३ से २५ गाडी कर देने की अनुमति देने का मुझे आश्वासन दे दिया।

मैं घर लौटा। मुझे ऐसा मालूम पडा कि मेहता की निराशा भी इसी प्रकार की बातो का परिणाम हो सकती है। फिर मैनेजर की निराशा मालिक को निराश कर ही देती है, इसीलिए येन-केन-प्रकारेण मालिक लोग मुझे यहाँ ले आये।

हमारी साइडिगवाली चिट्ठी तत्सम्बन्धी ऑफिसरो की अनुमति प्राप्त करती हुई कलकत्ता सी० ओ० पी० एस० के दफ्तर में पहुँच ही तो गई, और हमारे लिए २० गाडी का साइडिंग मजूर हो गया। जैसे ही हमारा रेजिग बढा, तुरन्त बढा हुआ साइडिग काम आ गया। दूरदर्शिता सदा ही फलदाई होती है। प्रभु की कृपा से सन् १९४८-४९ तक रेजिग काफी होने लग गया। कोलियरी का रूप ही बदल गया। लेबर की भी अब कमी नही थी—अपने-आप धडाधड लेबर आने लग गये थे।

सन् १९४९ के अन्त की बात है। हमारे विश्वनाथजी पोद्दार (भाई किशन-लालजी के द्वितीय पुत्र) और श्री जगदीशप्रसाद सिंहानिया परासिया आये। डेवलपमेंट का काम चालू था।

विश्वनाथजी बोले, 'जिस दिन ५००० टन मासिक रेजिंग कर लें, अपने कमरे

एयर-कण्डीशड करा लें।'

यह वात उन्होने विनोद में ही कही थी। वात यह है कि विश्वनाथजी स्वभाव के वडे विनोदी है। आप कितने भी खिन्न-मनस्क क्यो न हो, अगर इनके पास वैठ जायें, तो क्षण भर में ही आपका मन हलका हो जायेगा।

उनकी वात सुनकर मैंने कहा, 'इतनी निराशा मे क्यों जकडे हुए है। इस कोलियरी से तो मुझे १०००० टन मासिक रेजिंग करना है, और अगर आप हमारे कहे अनुसार रुपया लगाते चले गये, तो एक दिन आयेगा जव इस कोलियरी मे ४०-४५ हजार टन मासिक कोयला उठने लगेगा।'

फिर मैंने भी जरा विनोद में कहा, 'एयर-कण्डीशन में जव वैठने लग जाऊँगा, तो धूप में खडे रहकर कौन काम करायेगा ? मैं अपने परिश्रमशील स्वभाव को आरामतलवी वनाने का नही। सव प्रकार की मोसम का, सव प्रकार की स्थिति का अनुभव करते रहने से ही आदमी तरो-ताजा वना रहता है, और दीर्घायु भी होता है।'

इस प्रकार कोलियरी का काम प्रगति पाता चला गया।

बाई मिथिलेश का विवाह

०

अब होने लगी चिन्ता मुझे मिथिला के विवाह की। एक लडका ढूँढ निकाला, या यो कहें, अपने राम को स्वयं ही मिल गया। ढूँढने की मेरी प्रकृति ही नही। हम तो भरोसे राम है। इसी भरोसे पार कर गये ७१ साल जीवन के, बाकी के भी इनके ही भरोसे है। पिता के राज्य में बालक को क्या चिन्ता—चिन्ता करना तो पिता को अमान्यता देना है। खैर।

लडका बम्बई में पढता था। मैं उसे देखने चला अपने बडे दामाद को साथ लेकर। ये इस समय झरिया में ही रह रहे थे। धनबाद में मेरे साथ शामिल हो गये।

हम लोग बम्बई-मेल से जा रहे थे। ये ऊपर की बर्थ पर सो गये। इलाहाबाद आ गया, लेकिन ये उठने को तैयार नही। तब मैंने कहा, 'उठते क्यो नही ? निवृत्त हो जाओ, तो कुछ नाश्ता कर लें।'

फिर मैंने इनकी तरफ देखा, तो इनका मुख लाल, आँखें लाल। मैंने इनके माथे को स्पर्श किया। 'अरे, यह क्या ? आपको तो बुखार है।'

ये बोले, 'सो तो है, पर यह काम भी तो करना बहुत आवश्यक है।'

मैंने कहा, 'गोद को छोडकर पेट की आश करने का मैं आदी नही। हमको उतरकर तुरन्त वापस चले जाना चाहिये। इस हालत में बम्बई जाना बुद्धिमत्ता नही।'

लेकिन इनको यह बात जँची नही।

इलाहाबाद से एक वकील चढे थे। उनको एक-दो स्टेशन जाना था। वे हमारी बात सुन रहे थे। उन्होने भी इनकी बात को ही सहारा दिया। मेरी मति गुम्! करूँ, तो क्या करूँ ?

वकील साहब के पास मीठे नीबू थे। उन्होने वे मुझे दे दिये और कहा, 'इनको ये चुसा दीजिये, दस्त साफ आने से तबियत हलकी हो जायगी।'

इन फलो का बदला चुकाने का तो जीवन मे अवसर आने का था नही, इसलिए राम-प्रसादी मानकर ही इनको स्वीकार कर लिया। इनके रस से बडा लाभ पहुँचा। इसके बाद रास्ते भर मैं इनको मौसमी देता चला गया। बम्बई पहुँचते-पहुँचते इनका बुखार काफूर था। वहाँ जाकर इन्हें भोजन भी करा दिया।

उस समय बम्बई में दगा हो रहा था। ऐसी हालत में लडके से मिला भी कैसे जाय! फिर भी, दूसरे दिन हम लोग हिम्मत करके चल ही तो दिये।

लडका बोर्डिंग-हाउस में रहता था। उसे हमारे आने की सूचना मिल चुकी थी। हम उससे मिले। वह साफ-सुथरा गजी और धोती पहने था, और उसका यज्ञोपवीत भी इतना साफ और स्वच्छ था कि मैं देखकर बडा प्रसन्न हुआ। प्राय लोगो के जनेऊ मैले ही बने रहते है। मुझे ऐसा भान हुआ कि लडके का अन्त स्थल निश्चय ही स्वच्छ होना चाहिए।

फिर उससे एक-दो बातें की। बात-चीत के दौरान एक बार वह हँस पडा, तो देखा कि उसके दाँत भी बडे साफ और चमकीले थे।

यो तो पूछ-ताछ करना मेरे स्वभाव में है, लेकिन उस दिन मैं अपने स्वभाव के विपरीत ही चला। लडका सुन्दर था, और उसका मस्तक भी विशाल था।

हम १०-१५ मिनट रहकर ही वापस चले आये और उसी दिन बम्बई से रवाना हो गये। वापस आये अहमदाबाद-मेल से, क्योकि हमे खेतडी मे लडके के पिताजी से मिलना था।

अजमेर आया। मेरे दामाद शकरप्रसादजी ने कहा कि अजमेर उतरकर इनके कारखाने को देख लेना चाहिये।

मैंने कहा, 'मुझे इनकी आर्थिक स्थिति नही देखनी है। लडका मुझे पसन्द है। अब तो सीधे खेतडी ही चले चलो।'

हम खेतडी पहुँचे। बात-चीत होने के बाद हम लोग वहाँ से भी रवाना हो गये। आते समय हमने बाई मिथिला को देखने के लिये उन्हें निमन्त्रण दे दिया।

हम परासिया पहुँचे। मैंने अपनी पत्नी से कहा, 'लडका इण्टरमीडियट में पढता है, लेकिन अब आगे न पढ सकेगा, क्योकि बिजनेस में जायेगा। लेकिन इनके घर में पर्दा है, और है भी कडा।'

सुनकर मेरी पत्नी ने कहा, 'आप साफ क्यो नही कह डालते कि लडका आपको पसन्द है, या नही ? जब तक आप साफ-साफ यह नही कह देंगे कि लडका आपको पसन्द है, तब तक मुझे भी वह पसन्द नही है। आपकी पसन्दगी में ही मेरी पसन्दगी है।'

तब मैंने कहा, 'तो फिर आनन्द मनाओ। लडका मुझे पसन्द है और सुखदाई ही रहेगा। फिर वह हमारी खोज तो है नही—मेरे प्रभु की खोज है। उससे ऊपर किसी का हाथ नही।'

लडके के बडे भाई बजरगलालजी यथासमय परासिया आये। उन्हे लडकी पसन्द आ गई। उन्होने खेतडी पहुँचकर स्वीकृति का समाचार दे दिया।

लेन-देन की बात तो पहले ही तय हो गई थी, लेकिन अगर नही भी होती, तो भी मैं उतना ही खर्च करता। उस समय तक जो कुछ भी साधन मैं जुटा चुका था, उसे मैं लडकियो के भाग्य की ही थाती मानता था। मैं तो अब भोग सकूँगा नही, तो फिर यह उन्ही की धरोहर हुई। जिसको मैं भोग सकता, वही तो मेरे लिये होता। मेरी बाल्यावस्था और युवावस्था तो निकल गई कसाले मे ही। खैर!

मैंने अपना आदमी भेज दिया। वह नेग-दस्तूर कर आया।

मिथिलेश को मैंने हिन्दी-साहित्य का 'प्रथमा' पास करा दिया था। इससे यह उस समय के स्टैण्डर्ड के अनुसार पढी-लिखी लडकियो की गिनती मे आ चुकी थी।

सन् १९४७ के फरवरी महीने में चिरजीव महावीरप्रसादजी बीमार पड गये। इनको ह्यूमेटिक बुखार हो गया। यह बीमारी जरा खराब मानी जाती है। मैं इनको देखने जयपुर गया। इनका इलाज वही हो रहा था। उस समय तक इनकी अवस्था मे सुधार हो चला था। मैं बिलकुल भी विचलित नही हुआ, और मैंने इनके पिताजी से कह दिया कि इनके स्वस्थ होने के बाद शादी हो जायेगी।

वापस परासिया पहुँचकर पत्र-व्यवहार के द्वारा शादी की तारीख १९ फरवरी १९४८ की तय हो गयी। मैं सोच में पड गया कि शादी कहाँ से की जाये ? आज भइया की कमी मुझे बडी अखर रही थी। अगर वे आज इस ससार में होते, तो उनके द्वारा निर्दिष्ट स्थान पर ही विवाह किया जाता। लेकिन इस

विषय में आज मुझे सम्मति देनेवाला कोई भी न था। तब भी मैंने चूरू जाकर ही विवाह करने का निश्चय कर लिया, और उसी प्रकार का समाचार लडकेवालो को दे दिया। लडकेवाले भी राजी हो गये।

एक रात को रानीगज से मेरे एक मित्र श्री राधामोहन झुनझुनवाला कार्यवश परासिया आये। बात-चीत के सिलसिले में विवाह सम्बन्धी बातें भी चल पडी, तो वे बोले, 'आपके लिए जैसा चूरू, वैसा ही परासिया। बल्कि वहाँ आपको सारी चीजें बसानी पडेंगी, और कोलियरी में बहुत-से साधन आपके हस्तगत रहेगे। कालियरी के कार्य-सचालन में भी बाधा नही आयेगी। चूरू जाने पर एक मास से कम समय नही लगेगा, और यहाँ के काम में अव्यवस्था आये बिना न रहेगी।'

मैंने कहा, 'लेकिन बरात को कोलियरी पर उतारने का इन्तजाम करने में तो पसीना आ जायेगा। मैं तो यहाँ किसी जाति भाई को भी नही जानता। इतने सामान की व्यवस्था करना कैसे सभव होगा ?'

उसने कहा, 'अजी, जिस वक्त आप यहाँ आये थे, तब यहाँ क्या था ? और डेढ साल के अन्दर-अन्दर क्या-से-क्या हो गया ! इस सफलता के पीछे दो ही बातें तो काम कर रही थी—आपका दृढ सकल्प और अनुभव, तथा मालिको का पैसा। दृढ सकल्प तो वह शक्ति है जो केन्द्रीभूत होकर सारी उपयोगी वस्तुओ को अपनी तरफ खीच लेती है। तो फिर क्या आपका सकल्प इस शादी को सम्पन्न करने मे पिछड जायेगा ? आप लडकेवालो से पत्र-व्यवहार करके यही विवाह करने का निश्चय कर लें।'

इस वार्तालाप से मेरा पथ निर्दिष्ट हो गया और मैंने खेतडी चिट्ठी लिख दी, और वे लोग भी सहमत हो गये।

मेरे बडे दामाद शकरप्रसादजी सदैव मेरा हाथ बँटाते रहे है। यह सगाई कराने में भी उनका ही हाथ था। उनके द्वारा ही लडके के बारे मे खोज-खबर मिली थी। लेन-देन वगैरह की बात भी इन्ही के द्वारा तय हुई थी। अब विवाह की सारी सामग्री जुटाने एव खाने-पीने की सारी तैयारी कराने का जिम्मा भी इन्होने स्वय ले लिया।

मेरे भाई और भतीजे यथासमय परासिया पहुँच गये थे। वे भी पूरी दिलचस्पी से मेरा हाथ बँटा रहे थे।

१७ फरवरी १९४८ के प्रात काल भाई किशनलालजी का फोन आया। उन्होने पूछा, 'विवाह की तैयारियाँ सब ठीक-ठाक हो रही है न ?'

मैंने उत्तर दिया, 'सारा सामान, जो मैं जुटा सका हूँ, वह तो सब तैयार

है। सिर्फ एक चीज की विशेष आवश्यकता है—वह है मेरे गणेश की। गणेश के आये विना तो सिद्धि होगी नही।'

वे हँसकर बोले, 'मैं आज ही पहुँचा रहूँगा।'

फिर बोले, 'मैंने तुम्हारी तरफ से पूज्य चाचाजी गुरुप्रतापजी एव भाई आनन्दीलाल को आग्रह-पूर्वक आमन्त्रित कर दिया है। वे दोनो या तो मेरे साथ ही आ जायेंगे, या कल पहुँचे रहेंगे। मोटर एक तो कोलियरी पर है ही, तीन-चार हमारे साथ रहेंगी, कुछ और माँग ली जायेंगी। वरात के लाने मे सुविधा रहेगी।'

जरा रुककर बोले, 'और किसी चीज की आवश्यकता हो, तो मुझे टेलीफोन कर देना, ताकि मैं साथ लेता आऊँ। यो तो आदमी रोज ही कलकत्ते से आता-जाता रहेगा, और जरूरत की चीजें आती ही रहेगी।'

भाई किशनलालजी उसी दिन दोपहर को आ पहुँचे। आते ही उन्होंने पूछा, 'वरात कहाँ ठहरेगी, और अन्य आदमी कहाँ ठहरेंगे? सारी व्यवस्था किस प्रकार की गयी है—इसका मुझे भली-भाँति परिचय करा दो।'

वरात के ठहरने का इन्तजाम ऑफिस में किया गया था। उसमें छोटे-बड़े तेरह कमरे थे। प्रत्येक कमरे में दरी, गद्दे, मसनद और चान्दनी बिछी हुई थी। हम सीधे वही पहुँचे। देखकर भाई किशनलालजी ने कहा, 'यह इतना बडा ऑफिस कहाँ से आ गया?'

मैंने कहा, 'मैनेजर और कैशियर को हटाकर उनका इन्तजाम दूसरी जगह कर दिया गया है। उन्होंने सहर्ष सहयोग दिया है।'

सारा इन्तजाम देखकर भाईजी प्रसन्न थे।

आखिर घूमते-घामते मैं उनको वहाँ ले गया जहाँ उनके ठहरने का इन्तजाम किया गया था। उसे देखकर भाईजी ने पूछा, 'क्या यहाँ भी बरात के आदमी ठहरेंगे?'

मैंने सकोच के साथ उत्तर दिया, 'आपको एव भाभीजी को किसी प्रकार का कष्ट न हो, इसलिए आप दोनो के लिए यह अलग इन्तजाम कर दिया गया है।'

भाईजी ने कहा, 'क्या तुम मुझे मेहमान समझते हो? क्या मैं यहाँ मेहमान-गिरी कराने आया हूँ? जहाँ भाभीजी तथा अन्य स्त्रियाँ रहती है, वही वह भी रह लेगी, और जहाँ आप सोते-बैठते है, वहाँ मैं। विवाह तो मेरे घर में है। मैं मेहमान कैसे हो गया?'

उसी वक्त वहाँ का सारा इन्तजाम हटा दिया गया।

यथासमय वरात की अगवानी के लिये भाई आनन्दीलालजी, मेरे भतीजे एवं

अन्य कार्यकर्त्ता चले गये। बरात बडे स्वागत-पूर्वक ले आयी गयी। भाई आनन्दीलालजी इस समय कलकत्ते के मेयर थे। उनके द्वारा सम्मान पाकर बराती बडे प्रसन्न और प्रफुल्लित थे।

दोपहरी मे बरातियो को मिजमानी की रसोई दी गई। वहाँ भी प्रधान मेजमान हमारे भाई आनन्दीलालजी ही थे। सबका पेट फुला-फुलाकर खिला रहे थे। आनन्दोल्लास की लहर बह रही थी।

तीसरे पहर हम कोरथ देने गये जिसमें भाई किशनलालजी, पूज्य गुरुप्रतापजी, भाई आनन्दीलालजी, मेरे अग्रज अशर्फीलालजी, मेरे सभी भतीजे, मेरे दामाद शंकरप्रसादजी और रानीगज से आये हुए अनेक गणमान्य सज्जन थे।

जंगल मे इतनी भीड देखकर बराती चकित थे। भाई किशनलालजी का सौजन्य और पूज्य गुरुप्रतापजी का हर्षोल्लास देखकर हमारे साहजी फूले न समाये।

भाई किशनलालजी ने सारे काम का भार अपने ऊपर ले लिया था। पूज्य गुरुप्रतापजी ने रसोई की देख-भाल का भार अपने ऊपर ओढ लिया था। यह देखकर रानीगज के लोग दंग थे। उनके जीवन में इस प्रकार का आदर्श देखने की शायद यह पहली ही घटना थी।

आप शायद यह जानने को उत्सुक हो उठे होगे कि मेरे जिम्मे भी कोई काम था कि नही ? हाँ था, और वह था सिर्फ कन्या-दान कर देना !

जब मिथिला विदा हुई, मेरा हृदय टूक-टूक हुआ जा रहा था। जरा-सा नाखून ज्यादा कट जाये तो कितनी पीडा होती है ! फिर यह तो मेरे हृदय का टुकडा ही थी—इस वेदना का तो कहना ही क्या ! दरअसल हर्ष और विषाद का एक अजब समन्वय था वह अवसर, जिसकी बडी ही मीठी स्मृति आज भी है।

शादी के ६ मास बाद मुकलावा भी हो गया। जब मेरे दामाद महाबीर-प्रसादजी मुकलावे में आये, तो चार-पाँच दिन तक उनको रोक लिया गया था।

एक दिन शाम को मैं बाहर बैठा हुआ था। यह मुस्कराते हुए मेरे पास आये, और बोले, 'बाबूजी, हमने आज सिनेमा जाने का प्रोग्राम बनाया है। राजन और विजय तो साथ जायेंगे ही, आप आज्ञा दें तो माताजी को भी साथ ले लें ?'

मैंने कहा, 'उनको तो जरूर साथ लेना, बल्कि कह देना कि बिना आपके हम यहाँ से सरकेंगे भी नही।'

इनको तो मालूम था नही कि वह सिनेमा के नाम से ही चिढती थी। जब कभी मैं कलकत्ते आता और भाई किशनलालजी के साथ सिनेमा देखने चला

जाता, और बाद मे जब लडके अथवा लडकियाँ पूछ बैठते कि सच कहिये बाबूजी, आप कलकत्ते में सिनेमा देखने गये थे कि नही ? तो मैं सकपका जाता।

तब मेरी स्त्री कहती, 'अजी, इसमें सकपकाने की क्या बात है। देखने चले गये, चले गये।'

मैं मुस्कुराकर वहाँ से हट जाता।

तो मेरी बात सुनकर महावीरप्रसादजी अन्दर गये, और थोडी देर बाद जरा उदास-सा मुँह बनाये मेरे पास आये और बोले, 'माताजी तो कहती है कि आप जायें तो ठीक है, और न जायें तो आपकी मर्जी। मैं आप लोगो को जाने से रोकती नही, लेकिन मेरा तो सिनेमा-हॉल में इस जीवन में पैर पडने का नहीं।'

मैंने कहा, 'कोई बात नही। आप लोग चले जायें। बात यह है कि अगर मैं पहले से ही बोल देता कि वह नही जायेगी, तो शायद आपके दिल में खयाल आ सकता था कि मैं ही उनका सिनेमा जाना पसन्द नहीं करता।'

महावीरप्रसादजी बाई मिथिलेश और बच्चो को लेकर चले गये।

महाबीरप्रसादजी बम्बई में रहने के कारण नई रोशनी के शिकार हो चुके थे। इन्हें घूँघट पसन्द न था। मेरी लडकी के ससुराल जाते ही उसका घूँघट खुलवा दिया गया। मेरे पास प्रतिवाद-स्वरूप इनके ज्येष्ठ भ्राता का पत्र आया—कटुता लिये हुए था हो।

मैंने उत्तर दे दिया कि—'आप अपने भाई के द्वारा इस बात का प्रबन्ध करा लें। अगर मेरी लडकी अपने पति की आज्ञा के बाहर जायेगी, तो जो कुछ मैं कर सकूँगा—करूँगा, लेकिन ऐसा कदम मैं कदापि न उठाऊँगा, जिससे इनके दाम्पत्य-जीवन मे सघर्ष आ जाय। आप भी तो यह पसन्द न करेंगे।'

यह पत्र उनको अच्छा न लगा, लेकिन बाद में स्वय उनके लडके ने भी पर्दे के ठोकर मारी, और उनके दूसरे अनुज भी इसी रीति को अपना ले गये। आज उनके घर मे पर्दा नही के बराबर है।

मेरी आशा के अनुकूल महाबीरप्रसादजी सद्‌गुणी निकले। इनके १६ वर्ष का एक पुत्र-रत्न है—नाम है नरेन्द्र, कुशाग्र बुद्धिवाला है।

महाबीरप्रसादजी ने इन्टरमीडियट पास करके अजमेर में ही अपनी होजियरी फैक्ट्री मे काम करना शुरू कर दिया था, लेकिन अब इन्होने स्वतत्र रूप से भीलवाडा मे अपना काम कर लिया है।

इनका दाम्पत्य-जीवन बहुत सुखी है।

साउथ परासिया कोलियरी का जन्म

०

परासिया में मेरी नियुक्ति के समय जो अनुबन्ध हुआ था उसमे एक शर्त यह भी थी कि भाई किशनलालजी परासिया की कोयला-भूमि में से २०० बीघा भूमि मुझे एक खास लागत पर दे देंगे। लेकिन उस समय कोल-कन्ट्रोल आ चुका था, जिसके अनुसार कोई भी कोलियरी-मालिक अपनी कोलियरी को विभाजित नही कर सकता था, फिर भी अपनी बात का निर्वाह करने के लिए भाई किशनलालजी ने उस जमीन को मुझे देना स्वीकार कर लिया, जो डाइक के दक्षिण में थी। चूँकि उस जमीन के लिये डाइक का प्राकृतिक व्यवधान था, इस कारण उसे परासिया की भूमि से भिन्न मानकर कोल-कन्ट्रोलर मि० हैरीसन ने अपनी स्वीकृति प्रदान कर दी। यह बात है सन् १९४७ की।

इस भूमि में कोयले की आउटर-क्रौप बहुत-कुछ नीचे की तरफ मोड खाकर निकल गई थी और कोयले की मोटाई भी इस तरफ बहुत पतली हो चली थी। बोरिंग करने पर भी कोयले का पता न चला, और मेरा ऐसा खयाल बन गया कि इस तरफ कोयला नही है।

जब मैंने भाईजी से यह बात कही, तो उन्होने डाइक के उत्तर भाग की भूमि देना भी स्वीकार कर लिया। यह उनके उदार हृदय का द्योतक था, लेकिन हैरीसन साहब इस प्रस्ताव से सहमत न हुए।

भाई किशनलालजी ने मुझे सारी परिस्थिति कह सुनाई। मेरी उदासी का ठिकाना न रहा। रात भर नींद किसको आती।

हठात् एक विचार ध्यान में आया—क्यो न हैरीसन साहब अपनी पूर्व-स्वीकृति के अन्तर्गत ही इस जमीन की भी स्वीकृति दे दें।

दूसरे ही दिन मैं कलकत्ता चला गया। ऑफिस पहुँचा, तो सबसे पहले श्री जगदीशप्रसाद सिंहानिया से मुलाकात हुई। मुझे देखते ही उन्होने कहा, 'गोयनकाजी, हम लोगो ने तो बहुत कोशिश की, लेकिन साहब मानता ही नही है। प्रभु की ऐसी ही इच्छा दीख पडती है।'

मैं चुप रहा।

तभी भाई किशनलालजी भी आ गये। विचार-विमर्श के बाद हम दोनो हैरीसन साहब के पास गये। उन्होने अपने वही पुराने शब्द दोहरा दिये।

मैंने कहा, 'जिस जमीन की आपने स्वीकृति दी थी उसमे कोयला नही है, इसलिए आप उत्तरवाली जमीन भी इसी जमीन के लगाव में दे दें। इस तरह आपका पहले का ऑर्डर भी कायम रह जायेगा और मेरा काम भी हो जायेगा।'

सुनकर वे गम्भीर हो गये। उनकी समझ में मेरी बात तो आ गई थी, लेकिन फिर भी उन्होंने कहा, 'कोयले का भविष्य अच्छा नही है, मि० गोयनका। तुम्हारे पास जो रकम है, वह तुम्हारे कठिन परिश्रम की कमाई है, उसे अनिश्चित काम में मत लगा दो, तुम्हें पछताना पडेगा। अब जोखम उठाने की तुम्हारी अवस्था भी नही रही है। मेरी राय को पितृ-तुल्य ही समझो।'

मैंने सोचा कि अगर भविष्य कष्टमय होना ही बदा है, तो उसे रोक ही कौन सकता है, इसके अलावा मेरा आत्म-विश्वास भी मेरे अन्दर कमजोरी को आने नही दे रहा था। मैं कह उठा, 'नही साहब, आप कृपया इस काम को तो कर ही दीजिये।'

वह मान गया। भाई किशनलालजी का वह बडा मान करता था। दोनो पुराने मित्र थे। सो काम बन गया, और आठ आना, आठ आना हिस्से में साउथ परासिया कोलियरी का जन्म हो गया। इसका नाम साउथ परासिया इसलिये रखा गया, क्योकि यह परासिया कोलियरी के दक्षिण भाग में थी।

जब साउथ परासिया की लिखा-पढी हो गई, और हैरीसन साहब की स्वीकृति भी मिल गई, तो मेरी दोनो लडकियो ने आपस में सलाह की कि इस खुशी में आज पिताजी से कोई स्थायी चिह्न माँगें। लेकिन प्रश्न था कि पिताजी के सामने इस प्रस्ताव को उपस्थित कौन करे? विचार-विमर्श के बाद इसका भार पडा छुटकी बच्ची पर ही, क्योकि वह जरा मुँह लगी हुई थी।

मैं दोपहर को घर आया तो दोनो लडकियाँ मेरे सामने आईं। मेरी स्त्री मुस्करा रही थी। मेरे कुछ कहने के पहले ही छोटी बोल उठी, 'पिताजी, साउथ परासिया के उपलक्ष में हमें कोई स्थायी चिह्न चाहिये आपसे।'

मैं तुरन्त कह उठा, 'ठीक है, मेरे हिस्से का चार-चार आना तुम दोनो को और शेष आठ आना राजन को।'

वे विस्मय से चिल्ला उठीं, 'लेकिन बाबूजी, हमने तो कोलियरी नही माँगी थी। हम तो कोई कीमती जेवर चाहती थी।'

मैंने कहा, 'मेरी पहुँच वहाँ तक न जा सकी, क्योंकि जेवर तो मैं तुमको पहले ही दे चुका था। खैर बेटा, कोई बात नही। बेटी जीती, बाप हारा! लेकिन तुम लोगो को हिस्सा मिलेगा उस समय जब कोलियरी पूर्णरूपेण चालू हो जायेगी और मेरी लागत का रुपया निकल आयेगा। तुमको उस समय तक प्रतीक्षा करनी होगी।'

वे दोनों फूली न समाईं। उनकी मातुश्री के भी मन-ही-मन लड्डू फूट रहे थे। मैंने उनकी ओर देखकर कहा, 'अगर लडकियो को दिलवाना ही था, तो तुम्हें ही साफ-साफ मुझे कह देना था। तुम्हारी इच्छा को तो मैं टाल नही सकता था।'

मिथिलेश बोली, 'नही पिताजी, माँ को तो इस बात का खयाल तक न था। यह बात तो हम दोनो बहिनो तक ही सीमित थी।'

खैर, सन् १९५७ में दोनो बहिनो का हिस्सा उन्हें दे दिया गया।

आज ये दोनो बच्चियाँ अपना-अपना हिस्सा भोग रही हैं। हमारा राजन भी अपनी बहिनो का इतना ध्यान रखता है कि जो कोई भी काम करता है, इसी दृष्टि से करता है, ताकि दोनो लडकियों को अपने-अपने अनुपात से लाभ मिलता रहे।

फरवरी १९४८ में इसमे काम चालू किया गया और इसको ६ मास में ही फिट करके कोयला उठाना शुरू कर दिया गया। साइडिंग भी १९५१ में बन गया। पहले ६ वैगन का बना, आज २१ का है, और ६-७ हजार टन माहवारी कोयला उठ जाता है।

यह एक स्वतन्त्र कोलियरी है और इसका परासिया से कोई सम्बन्ध नही है। शकरप्रसादजी इसके एजेन्ट हैं। विजय डिप्टी-एजेन्ट है। सभी बहुत प्रसन्न है।

यों तो हम सभी भाई किशनलालजी के बडे आभारी है, किन्तु मैं तो सभी तरह से उनका चिर आभारी हूँ। उनके बारे में लिखना उस आभार को सीमित कर देना होगा।

एक ईश्वर-प्रदत्त वरदान

०

सन् १९४९ की बात है। एक दिन असिस्टेन्ट-कोल-सुपरिन्टेण्डेन्ट मि० बनर्जी हमारी कोलियरी पर आये। ये वैगन निरीक्षण के लिए अक्सर आते ही रहते थे। जो कोयला रेलवे को जाता था, खासकर उस पर ये कडी निगरानी रखते थे। इस बार आये, तो बोले, 'आपकी कोलियरी मे जामवाद सीम नही है। जिस सीम में आप काम कर रहे है, वह तो बनबहाल सीम है।'

हमारे मैनेजर ने भी उनकी हाँ-में-हाँ मिला दी।

उनके चले जाने पर मैंने मैनेजर से कहा, 'यह आपने क्या किया? आपने उसकी हॉ-मे-हाँ मिला दी, जब कि आपको तो प्रतिवाद करना चाहिये था। अगर हमारी सीम बनबहाल ठहरा दी गई, तो सारा गुड-गोबर ही हो जायेगा।'

मैनेजर तो चुप रहा, लेकिन मेरी बेकली का ठिकाना न था। उस दिन मुझको खाना भी अच्छा न लगा। रात को नीद नही आई—छटपटाता ही रहा। समझ नही पा रहा था कि क्या करना चाहिये? लेकिन मेरा विश्वास नही डिगा था। मुझे दृढ विश्वास था कि यह सीम जामवाद सीम ही है।

लेकिन ए० सी० एस० की दलील भी काफी तगडी थी, इसमें कोई शक नही, और इसी दलील में तो हमारा मैनेजर बह गया था। रात बीतते-बीतते हठात्

मुझे यह खयाल आया कि कहीं इस सीम के दो टुकडे तो नही हो गये है । ए० सो० एस० ठीक ही कहता है कि वगल मे यह सीम ४५ फीट मोटाई की है जव कि हमारे यहाँ सिर्फ २०-२२ फीट ही मिल रही है ।

मैं सोचने लगा कि दोनो सीम का 'कवर' तो समान है । जव दोनो सीम एक लेवल में चल रही हैं, तो हमारी सीम और वगल की सीम मे फर्क कैसे हो सकता है ? और हमारी सीम जव इतने ऊपर है, तो हमारी मीम भी तो हमारे पडोसी को ही मिलनी चाहिये जो उमे मिली नही है । इस प्रकार की विचार-लहरी उठ-उठकर जोर मार रही थी ।

किसी तरह भोर हुआ । निवृत्त होकर वाहर निकला । पडोम की कोलियरी मे इसी सीम में क्वारो चल रही थी, उसका वडी गहराई से अध्ययन किया, और हमारो कोलियरी में चक्कर मारता रहा । जियोलोजिकल मर्वे ऑफ इण्डिया के नक्शे हमारे पास थे ही, उनका भी अध्ययन किया । उनमें तो इसका नामो-निशान भी न था । आज तक किसी के भी यह खयाल में नही आया कि इस सीम के दो टुकडे हो गये है, लेकिन मेरा विश्वास दृढ हो चला था कि हो-न-हो, यह सीम दो भागो में बँट गयी है और दूसरा भाग भी हमारी कोलियरी मे ही मिलना चाहिये । हैण्ड-वोरिंग करवाने का साहस न हुआ, क्योंकि न जाने कितनी गहराई तक जाना पडे ।

यह सारी वात मैंने भाई किशनलालजी से कही, लेकिन उन्होने इस पर खास ध्यान नही दिया । मैं भी अपने काम में व्यस्त हो गया, लेकिन मेरे मस्तिष्क मे से यह वात निकलनेवाली न थी । मैंने वोरिंग कराने की कोशिश भी की, लेकिन मशीन ही न मिल सकी ।

आखिरकार सन् १९५० में किलवर्नवालो ने अपनी मशीन देना स्वीकार कर लिया, तव वोरिंग किया गया । प्रश्न उठा कि वोरिंग किस जगह करना चाहिये, ताकि कोयले का अनुसधान लग जाय, और रुपया फिजूल खर्च न हो । मुझे उन दिनो मोतियाविन्द [जिसका जिक्र आगे चलकर करेंगे] की वजह से साफ दिखता नही था, और मैनेजर जो जगह वताता, वह मुझे जँचती नही थी ।

आखिर नक्शे को सामने रखकर मैंने प्रभु का नाम लिया और एक जगह हाथ रख दिया, या यो कहे कि प्रकृति माता ने रखवा दिया, और तदनुसार सर्वेयर द्वारा मैंने जमीन पर उसी खास जगह को चिह्नित करवा दिया कि वोरिंग वही होगा । इसको इन्टुइशन भी कह सकते है ।

खैर, वोरिंग उसी जगह हुआ और ६० फीट के नीचे ही २४ फीट की सीम मिल गई, और मिली भी वढिया । इसी वीच पडोसी की क्वारी में कोयले के

अन्दर १ इंच मोटा वड आगे चलकर १६ फीट मोटा हो चला था।

हमने इनक्लाइन को खुदवाना शुरू कर दिया। जब मेरे मोतियाविन्द का ऑपरेशन हो गया, तो मैंने आकर इससे कोयला उठाना शुरू कर दिया।

जिस दिन हमको बोरिंग मे २४ फीट कोयला मिला था, उसके दूसरे ही दिन मैं उक्त ए० सी० एस० के पास जा पहुँचा।

मुझे सवेरे-सवेरे आते देखकर वह बोला, 'आज आपने इतने सवेरे ही कैसे धावा बोल दिया, और इतने प्रसन्न क्यो है ?'

मैं बोला, 'मैं अपनी कृतज्ञता प्रदर्शित करने आया हूँ।'

वे बोले, 'किस बात की कृतज्ञता ? मुझे तो याद आता नही कि मैंने आपकी कुछ ऐसी भलाई की है ? हमसे भला आप भलाई की आशा ही क्या कर सकते है ?'

मैने कहा, 'आपके कारण ही हमको एक नई सीम मिल गई है। अगर आप उस दिन इस बारे मे बात न छेडते, तो देश का लाखो टन कोयले का नुकसान हो जाता, और हम तो उससे वचित रहते ही। इसके अलावा, जब जामवाद बॉटम सीम के अन्दर पिलर कटिंग होते, तो ऊपर की जमीन नीचे धँसती, और यह छिपा हुआ कोयला चूर-चूर होकर इसमें आग लग जाती, धू-धू करके ज्वालामुखी का विस्फोट होता, और नीचे की चालू सीम में भी आग लगे विना न रहती। उस समय आपका डिपार्टमेन्ट एव कोल-कन्ट्रोल-डिपार्टमेंट एव माइनिंग-डिपार्टमेन्ट के खयाल तक मे नही आता कि यह क्या हुआ, और कैसे हुआ ! आप ज्यादा-से-ज्यादा हमारी बॉटम सीम को पानी से भरकर सील कर देते, लेकिन यह पानी इस छिपे हुए कोयले तक तो पहुँच नही सकता था, इसलिए इस कोयले की अग्नि को बगल की कोलियरी मे फैलने मे क्या देर लगती ! इसके नीचे की जो कोलियरी है, उनको भी यह अग्नि स्वाहा किये विना न रहती। इस प्रकार करोडो टन कोयला तो नष्ट होता ही, कई कोलियरी बन्द हो जाती। इस पर भी अग्नि के स्रोत का पता नही चल पाता। अब आप ही कहिये, अगर उस दिन आप छेड-छाड न करते, और हम फिक्र के शिकजे में न जकड जाते, तो क्या इस टॉप सीम का पता लगना मुमकिन था ? आपकी उस दिन की छेड-छाड हमारे लिए वरदान हो गयी, और अडोस-पडोस की कोलियरियाँ भी विपत्ति से बच गयी, और देश का करोडो टन कोयला बच गया, और कोल-बोर्ड का लाखों रुपया बच गया, जो कि इसके ऊपर बालू बिछाने मे लगता। तो कहिये, क्या यह आपका कम उपकार है ? मैं तो आपकी उस दिन की वाणी को छद्म-वेश मे वरदान-स्वरूप ही मानता हूँ।'
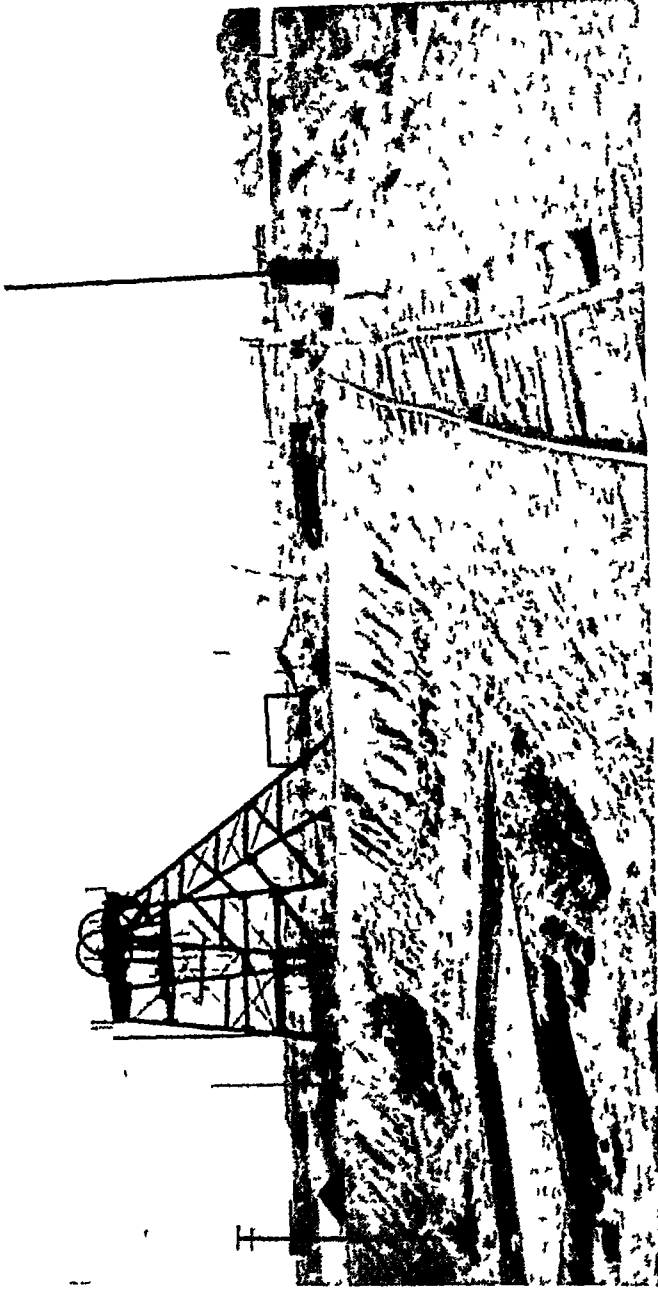
परासिया कोलियरी पिट नम्बर ४ जामवाद बॉटम सीम

यह सीम हमारी प्रॉपर्टी मे सिर्फ ८० बीघे मे ही थी। बगल की शेष जमीन बगाल कोल कम्पनी के हक मे थी। मैंने मालिको को सुझाव दिया कि बगल की ४०० बीघा जमीन उनसे हमें ले लेनी चाहिए।

बगाल कोल कम्पनी को प्रस्ताव दिया गया। उन्होने स्वीकार तो कर लिया, लेकिन कीमत माँगी ३७५) प्रति बीघा।

इस उत्तर ने हमारे मालिको को हिला दिया। इतने कडे दामो मे लेना उनको बिलकुल नही जँचा। उन्होने विमल जैन (मेरा वही शिष्य, जिसका उल्लेख पहले आ चुका है) से सलाह-मशविरा किया। उसकी राय मेरे इस प्रस्ताव के खिलाफ थी। मालिक लोग मेरे प्रस्ताव को सीधे-सीधे तो ठुकराना चाहते थे नही, मेरा लिहाज भी तो रखना चाहते थे, इसलिये मेरे साथ उसकी बात कराने के लिए उन्होने एक मीटिंग बुलाई।

मैं कलकत्ता गया। मीटिंग में विमल बाबू ने अपना फतवा दे ही तो दिया और हमारे भाई विश्वनाथजी का चेहरा खिल उठा।

मैं सारी स्थिति समझ गया। मैंने कहा, 'अपनी कोलियरी के बारे मे जितना मैं जानता हूँ, और सोच सकता हूँ, उतना विमल नही कर सकता। कारण, इसने तो इस कोलियरी का इतने नजदीक से अध्ययन किया नही है।'

तब विमल कहने लगा, 'बाबूजी, वैसे तो आपके सामने मैं बोल ही क्या सकता हूँ! आखिर मैंने जो भी सीखा है, वह आपसे ही तो सीखा है, लेकिन अभी-अभी मैं यूरोप और चाइना होकर आया हूँ, और मुझे ऐसा लगता है कि कोयले का भविष्य अन्धकार मे है। मेरी राय नही है कि कोल-प्रॉपर्टी में इतना रुपया और डाला जाय।'

मैंने इसका कोई उत्तर नही दिया।

वह खा-पीकर चला गया, तब मैंने कहा, 'देखिये भाईजी, मैं आप लोगो की एक नही सुनूँगा। मैं बगाल कोल की जमीन में प्रवेश कर जाऊँगा, और ढोल पीटकर कहूँगा कि मैं उनकी प्रॉपर्टी में काम कर रहा हूँ, तब अगर वे आपके ऊपर मुकदमा चला देंगे तो मुझे खुशी ही होगी। आपको पता नही है कि यह जमीन आपका कितना उद्धार करेगी! इसके दाम ३७५) प्रति बीघा बहुत सस्ते है।'

विश्वनाथजी बोल ही तो उठे, 'आपको तो हमने साउथ परासिया की जमीन २००) प्रति बीघा मे दी थी, तब तो हमारी बडी ठगाई हो गई।'

मैंने उत्तर दिया, 'जी, आपने जो जमीन मुझे दी है, उसमें कोयले के सीम की मोटाई १६-१८ फीट से ज्यादा नही है, जिसमें से सिर्फ १२-१५

फीट तक ही काम हो सकेगा। लेकिन इसमें हमें मिलती हैं तीन सीम··· बल्कि चार सीम। टॉप जामबाद २४ फीट, बॉटम जामबाद २० फीट, उसके नीचे बँदा २८ फीट, और दुवराना १५ फीट, जो बँदा के नीचे है। पहली तीनों सीम में हम काम करेंगे। साउथ में भी बँदा है, लेकिन वहाँ कोयला ६०० फीट नीचे है। उस कोयले को निकालने के लिये चाहिये १५-२० लाख रुपया—न बाबा आवे न घटा बाजे। इसलिए इस कोयले को तो हम अभी ले सकेंगे नहीं। यही कारण है कि मैं कहता हूँ, बंगाल कोल कम्पनीवाला यह सौदा सस्ता है।'

विश्वनाथजी मुस्करा रहे थे।

आखिर भाई किशनलालजी ने कहा, 'जो आपकी मर्जी हो, सो करो। हमको तो कुछ देखना-भालना है नहीं।'

इसके बाद बंगाल कोल कम्पनी से बातचीत होती रही। आखिर फैसला हो ही गया। जमीन ले ली गई। रुपया दे दिया गया।

आज हमारी इसी जमीन की दोनों सीम में काम हो रहा है—बॉटम और टॉप। यह सौदा सोने में सुगन्ध साबित हुआ। अगर यह जमीन न ली जाती, तो आज इस कोलियरी की क्या स्थिति होती—कह नहीं सकते।

मोतियाबिंद का ऑपरेशन

०

सन् १९३८ के दिसम्बर महीने में जैरामपुर कोलियरी में मेरी आँखो में जो चोट लगी थी, उसके कारण मेरी आँखो में मोतियाबिंद बनना शुरू हो गया था। मुझे इसका पता चला सन् १९४७ मे। १९४८ मे तो हालत यह हो गयी कि दूर से आदमी को पहिचानना भी मुश्किल हो चला था।

इसी साल के दिसम्बर मास में सायकाल के समय मैं साउथ परासिया की खान से मॉझियो की झोपडियो के रास्ते से होता हुआ आ रहा था, तो मेरा पॉव एक साँप पर पड गया। रास्ते पर रेंगते हुए उस साँप को मैं देख न सका था। वह मेरे दाहिने पैर में लिपट गया। मैंने पैर झाडा और झटके से सर्प नीचे आ गिरा। मुझे भय तो जरूर हुआ, लेकिन मेरा दिल मजबूत बना रहा।

घर वहाँ से करीब ५०० फीट की दूरी पर था। घर पहुँचकर उपचार होने लगे—लैक्सिन सूँघी, केले के वृक्ष का रस पिया, जतर-मतर भी हुये और किसी तरह मैं बच गया, लेकिन इसके बाद भी करीब ६ मास तक मेरा सिर गर्म रहा।

फिर धीरे-धीरे सिर-दर्द तो ठीक हो गया, लेकिन मोतियाबिंद के कारण प्रातःकाल का भ्रमण बन्द हो गया। अँधेरे मे ऊँची-नीची जगह का साफ पता ही नही चलता था।

१९४९ में पढना भी बन्द हो गया, लेकिन खान में जाना मैंने जारी रखा। खान के भीतर आँखो से देखने में ज्यादा तकलीफ नही होती थी।

फिर १९५० में तकलीफ और ज्यादा बढ गई। दिसम्बर मास में मैं बगलौर गया—उन दिनो भाई किशनलालजी वही पर थे। वहाँ उनकी मैंगेनीज की खदानो में काम हो रहा था।

मेरे बगलोर-प्रवास के दिनो में एक दफा भाई किशनलालजी बोले, 'आप हरदम कमरे में ही क्यो बैठे रहते है? बाहर बैठा करो।'

मैंने कहा, 'अगर आप बैठे रहें, तो आपके साथ मैं भी बैठ जाया करूँगा, क्योकि मेरी लाचारी अब यह हो चली है कि मुझे पता ही नही चलता कि मैं किस तरफ देख रहा हूँ। कही ऐसा हो जाये कि मैं उसी तरफ देखता रहूँ जिस तरफ स्त्रियाँ बैठी हो, तो वे मेरी लाचारी तो समझ सकेंगी नही और मेरी हरकत अशोभन मानी जायेगी।'

सन् १९५१ में मेरी हालत ऐसी हो चली कि कोई आदमी मुझसे बात करने आता, तो मैं बात करता चला जाता, और वह उठकर चल देता, लेकिन मुझे पता ही नही चलता। जब मुझे उसका हुँकारा नही सुनाई देता, तब पता चलता कि अरे, वह तो चला गया! घरवालो की शक्लें भी साफ नजर नहीं आती थी। मोतियाबिन्द अब तक पक चुका था, लेकिन ऐसी हालत में भी मैं लाठी के बल अपना सारा काम कर लेता। मैं एक दिन भी दूसरे के सहारे न रहा। हाँ, लिखना-पढना बन्द था, लेकिन ऑफिस की चिट्ठियाँ मुझे पढकर सुना दी जाती, मैं उनके जवाब लिखा देता तथा टाइप्ड पत्रो पर निर्दिष्ट स्थान पर सही कर देता।

सन् १९५२ की नौ मार्च को मैं ऑपरेशन के लिए सीतापुर रवाना हो गया। मेरी स्त्री, मेरे दोनो बच्चे और दो नौकर साथ थे।

१५ मार्च को मेरी बाईं आँख का ऑपरेशन हो गया। फिर दाईं आँख का भी ऑपरेशन हुआ ३० मार्च को।

अस्पताल के डॉक्टर श्री मेहरा थे। उन्ही का बनाया हुआ था वह अस्पताल। ऐसा त्यागी और लौह पुरुष मैंने दूसरा नही देखा। सवेरे ६ बजे ही अस्पताल में हाजिर। दोपहर को मात्र १-२ घटे के लिए घर जाता। शाम को भी वार्ड में चक्कर लगाता। रात को भी दौडता हुआ चक्कर मार देता। उसके पास दो इगलैण्ड-रिटर्न्ड डॉक्टर थे—वे भी उसी की तरह त्याग की मूर्ति थे। रिश्वत वगैरह का नाम नही। फ्री बेड ४०० थे। बडा ही माकूल इन्तजाम था। शत-प्रति-शत सफलता मिलती थी। लखनऊ से भी लोग वहाँ आते थे। बडे-बडे अफसर लोग भी वही इलाज कराना पसन्द करते। वहाँ के चार्ज भी बहुत

साधारण थे। ५) वाले केबिन के मरीज को एक आँख के ऑपरेशन का ८०), ३) वाले केबिन के मरीज को ६०) और २) वाले केबिन के मरीज को ३०) देना पडता।

मैं जिस दिन वहाँ से रवाना होने को था, उस दिन मैंने अपना बिल माँगा, तो डॉक्टर साहब खुद ही चले आये और बोले, 'देखिये सेठजी, यह अस्पताल तो आप लोगों का ही है। आप लोगो को बिल नही दिया जाता। आपसे तो हम 'डोनेशन' लेंगे।'

मैंने कहा, 'बिल तो मैं जरूर ही 'पे' करूँगा, और यथासम्भव सहायता भी करूँगा ही।'

मैं दो दफा वहाँ गया था। मेरी बाई आँख में कैप्सूल रह गया था, जिसका ऑपरेशन कराने मैं नवम्बर मास में वहाँ दुबारा गया था। ऑपरेशन का काम तो मात्र एक दिन का था, लेकिन उन्होने मुझे रोक लिया २५ दिन। वहाँ एक मेडिकल कान्फरेन्स होनेवाली थी जिसका उद्घाटन उत्तर प्रदेश के गवर्नर श्री के० एम० मुन्शी के द्वारा होने जा रहा था। मेरा भी उनसे परिचय कराया गया। बहुत देर तक बात-चीत होती रही और उद्घाटन के समय एक वार्ड मेरी तरफ से बनाने की घोषणा भी कर दी गई। इसमे ५०००) का खर्च था, जो मैंने दे दिया। लेकिन साथ ही उनके बिल भी मैंने दोनो दफा ही 'पे' कर दिये थे। मेरी आँखो का ऑपरेशन दोनो दफा ही बडी सफलता-पूर्वक हुआ था। मैं डॉक्टर मेहरा का बडा कृतज्ञ हूँ, बल्कि यो कहूँ कि डॉक्टर मेहरा मेरी दोनो आँखो में आज भी अंकित है। हरदम उनकी स्मृति बनी रहती है।

चलते समय मेरी स्त्री ने वहाँ के कर्मचारियो को बक्शीस दी, जो उन्होने सहर्ष स्वीकार की।

उन दिनो इस अस्पताल में साल भर में दस हजार ऑपरेशन होते थे। जाडो के दिनो में तो तम्बू लग जाते और धडाधड दिन-रात ऑपरेशन होते रहते।

मेरे दोनो बच्चे उस समय छोटी उम्र के ही थे। राजन था १४ वर्ष का और विजय १२ वर्ष का। विजय हम सबको खूब हँसाता रहता। बाजार ये दोनो भाई ही करते थे।

आज मेरी दोनो आँखें बहुत अच्छी हालत मे है। चश्मा लगाकर मैं अपने को नॉर्मल पाता हूँ। प्रभु की बडी कृपा है कि आज मेरा लिखना-पढना बदस्तूर जारी है।

आँखो की इस तकलीफ के दिनो मे मुझे कम कष्ट नही उठाने पडे थे। कष्ट के उन दिनो मे मेरी स्त्री ने जो सेवा की, उसे तो मैं भुलाये नही भूल सकूँगा।

लेकिन सबसे बडा कष्ट यह था कि उन तीन-चार वर्षों के लिए मेरा अध्ययन एक तरह से बन्द ही हो गया था जिस कारण मन बडा घुटता था। मुझे पुस्तक पढकर सुनानेवाला कोई न था। जिस तरह की ज्ञान-वर्द्धक और तत्वज्ञान-सम्बन्धी पुस्तको में मेरी रुचि थी, उन्हें कौन पढकर सुनाये ? अन्धे को क्या कष्ट होता है, इसका अनुभव मुझे उन दिनो भली प्रकार हो गया।

लेकिन आज सोचता हूँ कि मेरी यह बीमारी भी एक तरह से प्रभु की मेरे ऊपर कृपा ही थी—अप्रत्यक्ष रूप से यह भी उनका एक वरदान ही था। कारण आँखो की शक्ति जब काम नही करती, तब मन की चचलता कम हो जाती है, मन को किसी एक गम्भीर विषय पर केन्द्रित करने की शक्ति बढ जाती है, और मनुष्य की विचारधारा सात्विक बन जाती है। अपनी इसी अवस्था में मैंने कई अँग्रेजी की कविताएँ लिखी थी, जो बाद में मैंने लोगो को सुनाई तो उन्होने बहुत पसन्द की। उन दिनों जीवन, जगत् और ईश्वर के सम्बन्ध मे मन में अनेक गहन विचार-लहरियाँ उठती रहती थी, वे भी मैंने बोलकर लिखवा ली थी। आशा है, समय पाकर इन दोनो का भी पुस्तक रूप में प्रकाशन हो सकेगा।

आज यह सोचकर आश्चर्य होता है कि काव्य-सृजन एवं गहन भावो और विचारो के चिन्तन-मनन की वह शक्ति उन दिनो मुझमें कहाँ से आ गयी थी ? इसीलिए मेरा यह विश्वास दृढ हो चला है कि मोतियाबिन्द की वह बीमारी एक तरह से मेरे लिए प्रभु का वरदान ही साबित हुई।

मेरे कोलियरी-जीवन का अन्तिम चरण

०

जिस दिन मैंने परासिया कोलियरी में प्रवेश किया, उसी दिन से मैं कँदा सीम को डेवलप करने के लिए बडा आतुर बना रहा। कारण, विभिन्न प्रकार के कोयलों की क्वालिटी की तुलना मे यह एक श्रेष्ठ क्वालिटी की सीम है। उपभोक्ता एक बार इसको अपने काम में लाकर फिर दूसरी किस्म का कोयला लेने को इच्छुक नही होता। टेकनिकल कसौटी पर कसने पर आज-कल के गवर्नमेंट द्वारा निर्दिष्ट ग्रेड के अनुसार यह नम्बर वन ग्रेड में आता है, लेकिन दरअसल यह सिलेक्टेड बी ग्रेड कोयला है।

इस कँदा सीम की मोटाई २८ फीट है, और विशेषता यह है कि यह २८ फीट कोयला बैण्ड रूपी व्यवधान से रहित है, जैसा और सीमो में अक्सर नही पाया जाता।

हमारी कोलियरी के सपूर्ण क्षेत्र में, जिसका क्षेत्रफल ३५०० बीघा है, यह कँदा सीम व्याप्त है। इस क्षेत्रफल मे करीब ५ करोड टन कोयला इस सीम का होना चाहिए जिसमें से करीब पौने चार करोड टन कोयला ऊपर आ सकेगा, क्योकि बहुत-सा कोयला काम करते वक्त काम की सुविधा की वजह से खान में अटक जाता है।
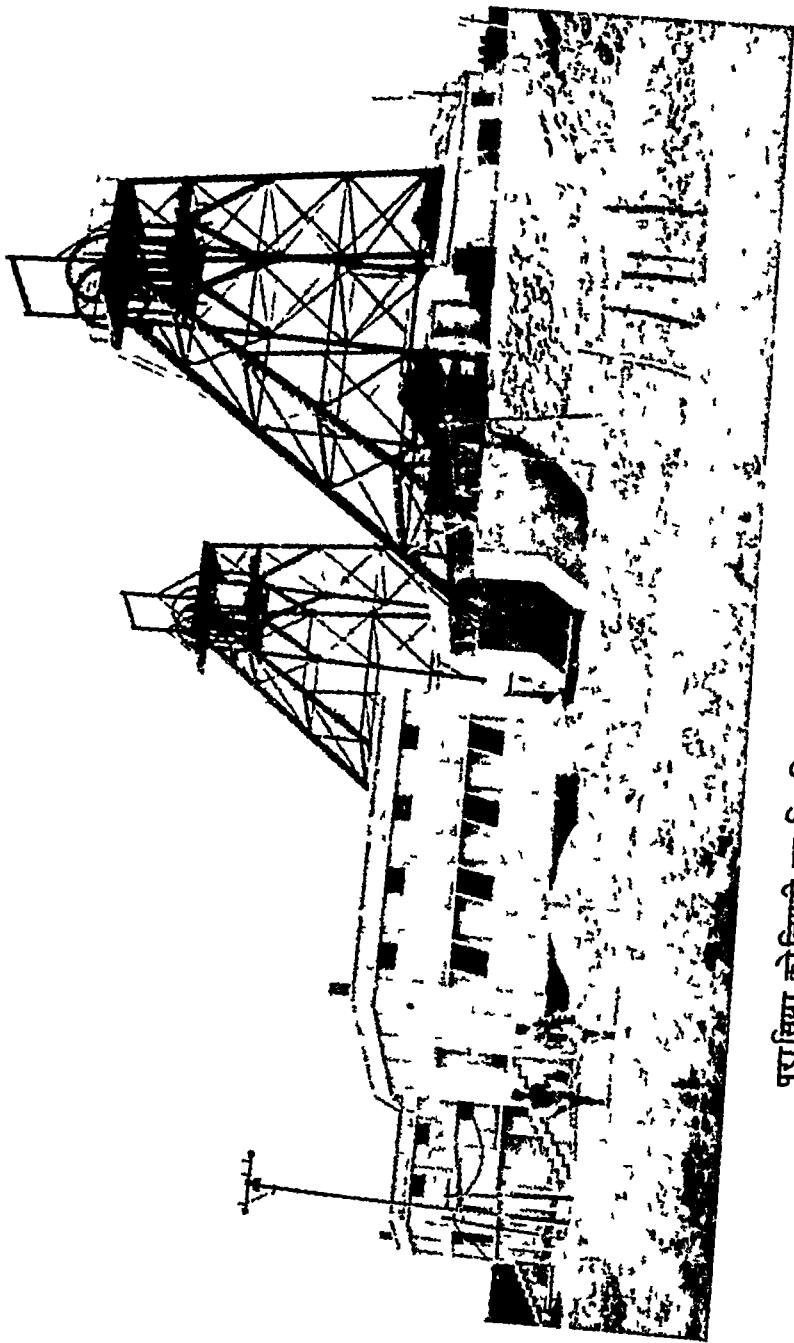
परासिया कोलियरी का विकसित रूप पिट नम्बर २ और ३ कैदा सीम
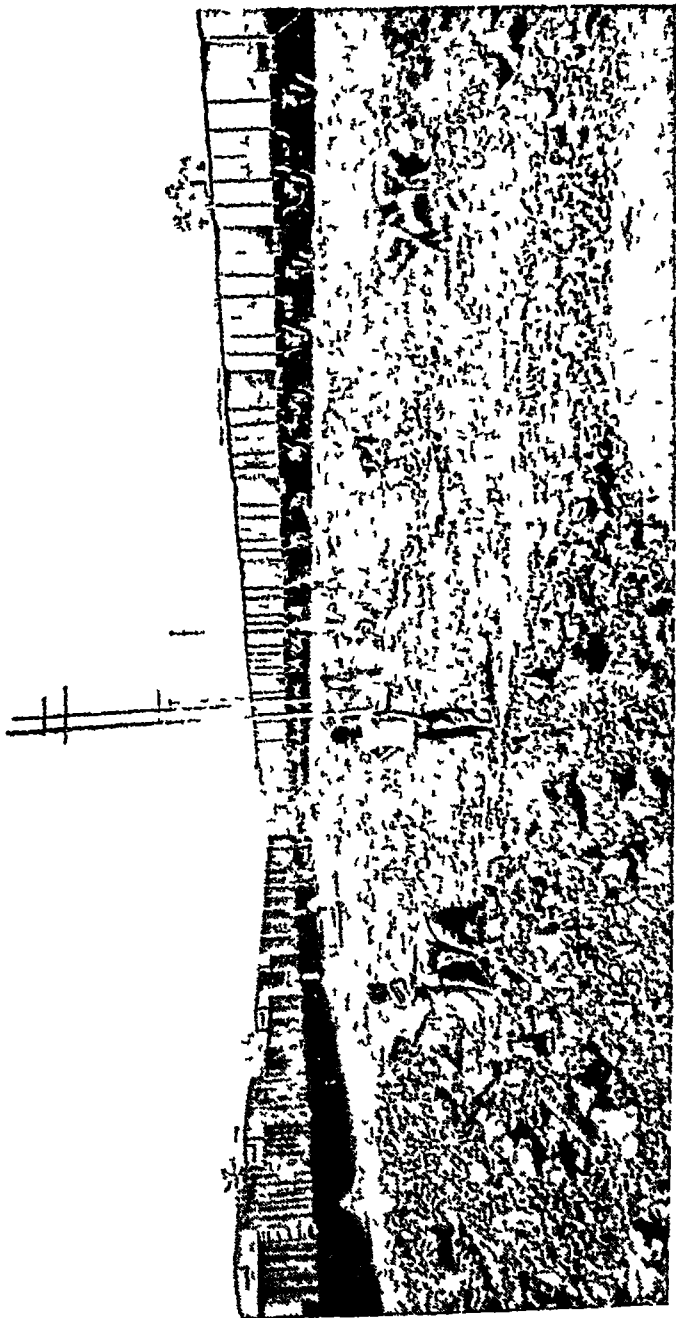
परासिया कोलियरी साइडिंग का एक दृश्य

यह कोयला हमको ४३६ फीट के नीचे जाकर मिला। इस प्रकार की गहराई के कोयलो को निकालने के लिए बहुत बडी रकम की आवश्यकता पडती है। इसी वजह से भाई किशनलालजी का विचार था कि हम पहले ऊपर की दूसरी सीमो को डेवलप करके कोयला निकालना शुरू करें। तदनुसार हम जामवाद टॉप और जामवाद बॉटम को डेवलप करके कोयला निकालते रहे जैसा कि आप पीछे पढ चुके है।

सन् १९५२-५३ में इस कँदा सीम को डेवलप करने के लिए मैंने जोर दिया। लेकिन उम समय भाई किशनलालजी का रुपया खाली न था, क्योंकि वे बगलौर की मैंगेनीज माइन्स में लगे हुए थे। फिर भी मैं बराबर ही उनका ध्यान कँदा सीम के डेवलपमेंट की ओर आकर्पित करता रहा।

न् १९५१ के सितम्बर महीने में विजयकुमार पोद्दार पहले-पहल कोलियरी का काम सीखने के लिए परासिया आया था। कुशाग्र वुद्धि होने के नाते कोलियरी का काम यह जल्दी-जल्दी सीखता चला गया और इस काम में इसकी दिलचस्पी भी बढती गयी। बहुत शीघ्र ही यह समझ गया कि कोयले की क्वालिटी के लिहाज से कँदा एक बहुमूल्य सीम है, और सन् १९५६ में इसने इस सीम को डेवलप करने का परमीशन लेने के लिए गवर्नमेंट को अर्जी दे दी। परमीशन तो दिल्ली से मिलनी थी, फिर भी इसने लगन के साथ परिश्रम करके परमीशन प्राप्त कर ली, क्योंकि यह अच्छी तरह से समझ चुका था कि मोटी रकम लगने के वावजूद कँदा सीम के डेवलपमेंट के वाद इस कोलियरी का भविष्य बहुत उज्ज्वल हो जायेगा।

तो मार्च १९५६ में हमको इस सीम को डेवलप करने का परमीशन मिल गया, और हमने १८ फुट व्यास के २ पिट खोदने शुरू कर दिये। जून महीने के पहले-पहले हम दोनो पिट ५०-५० फीट खोद चुके थे। यह काम मैन्युअल लेबर से ही किया गया था। इसके वाद वरसात आने की वजह से इनकी खुदाई वन्द हो गयी। उस समय न हमारे पास में विजली थी, न अन्य साधन, मसल न् हेडगीयर, एन्जिन, पम्प, बॉयलर आदि। वाजार से खरीदने में एक मोटो धनराशि की आवश्यकता थी जो कि उस वक्त हम न जुटा सके।

सन् १९५८ के पूर्वार्द्ध में रानीगज की वर्न एण्ड कम्पनी से दो एन्जिन और एक हेडगीयर वहुत सस्ते दामो में हमने प्राप्त कर लिये। एक दूसरा हेडगीयर भी एक वद पडी कोलियरी से कम दामो में मिल गया। हमने दोनो एन्जिन एव दोनो हेडगीयर इन दोनो पिटो के ऊपर लगा दिये। तदुपरान्त इस सीम में नियमित रूप से जोरो से काम चालू कर दिया गया।

सन् १९५८ के उत्तरार्द्ध मे एक अँग्रेज मैनेजर महोदय की नियुक्ति हुई। ये माइनिंग के काम में दक्ष माने जाते थे। अच्छी ख्याति-प्राप्त थे।

चन्द महीनो के बाद इन महोदय ने फतवा दे दिया कि जहाँ पिट खोदे जा रहे है, वहाँ कोयला शायद नही मिलेगा, और यदि मिला भी तो ७००-८०० फीट के नीचे मिलेगा। कारण पूछने पर यह मैनेजर लोग खामोशी से ही काम लेते है। लेकिन मैं अपने मन में दृढ था, कारण मैंने सारे डाटा का भली-भाँति अध्ययन करके ही यह स्थान चुना था जहाँ कि ये दोनो पिट खोदे जा रहे थे।

जब उस मैनेजर ने मुझे झुकते नही देखा, तो वह झल्लाकर इस्तीफा देकर चल दिया। लेकिन काम बराबर चालू रहा।

उसके स्थान पर एक बगाली महोदय की नियुक्ति हुई। ये पहले से ही मेरे परिचित थे। मैं इन्हे आदर की दृष्टि से देखता था। ये अच्छे अनुभवी थे, और बडे अध्ययनशील भी।

इन दोनो पिटो का नामकरण हुआ २ नम्बर पिट और ३ नम्बर पिट। अचानक २ नम्बर पिट में १०० फीट के बाद एक बगल मे करीब १॥ फीट चौडी और ६ इच गहरी एक खडी नालीनुमा दरार व्यवधान के रूप मे आ खडी हुई। उसके बाद भी हम १५-२० फीट गहराई तक और खोदते चले गये, लेकिन वह दरार तब भी कायम रही।

इस दरार ने मैनेजर के दिल में भी दरार पैदा कर दी। एक दिन वह बोला, 'आपने दरार के बारे में क्या तय किया? आप पिटो को बराबर खोदते चले जा रहे है। कम-से-कम मालिको को इसकी जानकारी तो करा देनी चाहिए। इससे हमारा उत्तरदायित्व हलका हो जायेगा।'

मैंने उत्तर दिया, मालिक लोग तो टेक्निकल-मैन है नही। उनका दायित्व तो सिर्फ रुपया लगाने का है। काम का भार तो हमारे ही ऊपर है, जैसा हम उचित समझें, करें। वह बिचारे तो दखल देने के लिए आते नही। और मेरे नजदीक यह दरार कोई मायने रखती नही। आगे चलकर यह दरार स्वय ही गायब हो जायेगी।'

वह दरार एक एगिल पर जा रही थी, इसीलिए मुझे दृढ निश्चय था कि यह आकस्मिक घटना है जो कोयले की स्थिति को डाँवाडोल नही कर सकती। मेरी नजर मे यह एक बहुत साधारण-सी बात थी। माइनिंग के दौरान में इस प्रकार के न जाने कितने-कितने व्यवधान आते है और हमे उनको पार कर लेना होता है।

तो मेरी बात सुनकर मैनेजर बोला, 'आपके दृष्टिकोण से मैं सहमत नही हूँ,

और इतना भारी उत्तरदायित्व लेने का भी मैं आदी नही ।'

मैंने कोई उत्तर नही दिया । वह भी चुप रहा ।

मैनेजर ने दो पन्ने का एक पत्र टेकनीकल भाषा मे मालिको को कलकत्ता लिख भेजा । पत्र था फर्स्टक्लास-मैनेजर का, और वह भी ४० साल का पुराना अनुभवी और ख्याति-प्राप्त मैनेजर ।

पत्र पाते ही मालिक लोग विचलित हो उठे और तुरन्त परासिया आ पहुँचे । आये भी दल-बल के साथ—बी० एन० पोद्दार, बी० के० पोद्दार, विनय पोद्दार और मि० सिहानिया ।

जब ये कोलियरी पर मोटर से उतरे, तो मैं इन्हे देखकर कहने लगा, 'आज इस कोलियरी के अहोभाग्य है कि आप सभी यहाँ पधारे है । जबकि आप मेरे बार-बार के तगादो पर भी कभी नहीं आते थे ।'

उन्होने मैनेजर की चिट्ठी का संकेत तक मुझे नही दिया ।

रात हो चुकी थी, इसलिए खा-पीकर सब सो गये ।

सवेरे सब प्रकार से निवृत्त होकर जब ये चाय-नाश्ता करके तैयार हो चुके, तो कहने लगे, 'अब हमारा प्रोग्राम ठीक कर दें ।'

मैंने उत्तर दिया, 'सबसे पहले तो हम लोगो को जहॉ पिट सिकिंग हो रहा है, वही चलना चाहिए और उसे देखना चाहिए । फिर और कोई प्रोग्राम बनेगा ।'

ये लोग भी तो यही चाहते थे । मैने मैनेजर और चौहान को भी साथ ले लिया । हम कैदा न० २ के पिट मे नीचे उतरे । मैनेजर और विश्वनाथ बाबू के बीच बातचीत शुरू हुई । मैनेजर ने उक्त दरार को उन्हे दिखाना और अपने कमेन्ट देना शुरू किया ।

पहले तो मैने गौर नही किया, लेकिन जब यह लोग दरार के पास डटे ही रहे, और वार्तालाप कुछ गहराई पर होने लगा, तो मुझे मैनेजर की उस दिन की बात याद आ गई, और मैं समझ गया कि अपने उत्तरदायित्व से मुक्त होने के लिए मैनेजर ने आखिर चिट्ठी लिख ही दी है, और उसी के समर्थन में अब यह सब बातें कह रहा है ।

मैं खामोश था, और उस मैनेजर के इतने पुराने अनुभव पर मुझे तरस भी आ रहा था । मुझे खामोश देखकर ये सब उदास थे ।

फिर हम लोग ऊपर आये । ऑफिस मे आकर हमारे विश्वनाथजी बहुत उदास होकर बैठ गये, लेकिन विजय के चेहरे पर उदासी के चिह्न लक्षित नही हो रहे थे ।

आखिर विश्वनाथजी मैनेजर की तरफ मुखातिब होकर बोले, 'तो अब क्या करना चाहिए ?'

मैंने देखा कि अब मेरा मौन रहना जरा बेजा होगा, तो मैंने कहना शुरू किया, 'देखो जी, माइनिंग के दृष्टिकोण से तो बोरिंग करना लाजिमी था ही जो कि नहीं किया गया।' इतना कहकर मैंने मैनेजर की तरफ देखा और मुझे उसकी मुखाकृति खिली-सी नजर आई, क्योंकि उसकी विचारधारा को सहारा मिला था, लेकिन हमारे विश्वनाथजी को काफी धक्का-सा लगा। तब मैंने प्रत्येक शब्द पर जोर देते हुए कहा, 'देखिये, बोरिंग करना और न करना मैं भली-भाँति जानता हूँ। मेरे पास जो डाटा मौजूद है, उसके रहते हुए बोरिंग पर एक बडी राशि खर्च कर देना मैं मूर्खता ही समझता हूँ। यह दरार किसी भी प्रकार के भूगर्भ-सम्बन्धी डिस्टर्बेंस की द्योतक नही है। यह थोडी दूर चलकर गायब हो जायेगी और ४४० और ४५० फीट के बीच में कोयला मिलकर रहेगा। यह जो कुछ भी मैं कह रहा हूँ, वह हठधर्मी के आधार पर नही, ठोस अनुभव और निश्चित डाटा के आधार पर कह रहा हूँ। आप ऐसा मत सोचिये कि ५००-७०० फीट नीचे जाकर, लाखो की पूँजी स्वाहा करके, कोयला न मिलने पर मैं यह कहकर अपनी जिम्मेवारी से छूट जाऊँगा कि मुझे अफसोस है, आपकी तकदीर ने साथ नहीं दिया। यह बात मेरे खून में ही नही है। मैं इसको धोखेबाजी समझता हूँ। यह बात आप निश्चित रूप से समझ लीजिये कि मैं आपके मना करने पर भी सिंकिंग जारी रखूँगा। यदि आज हम सिंकिंग बन्द कर देते है, तो लोग कहेंगे कि गोयनका और पोद्दारो के रहते हुए जो यह सिंकिंग बन्द हुई है, निश्चय ही इसका कारण यह है कि कोई अलघ्य व्यवधान आ गया है। फिर तो कोयले का यह अपूर्व खजाना आपके हाथ से सदा के लिए लुप्त हो जायेगा, इस कोलियरी की कीमत बहुत मामूली-सी रह जायेगी, और इस कोलियरी से ३०-४० हजार टन माहवारी कोयला उठाने की हमारी जो स्कीम है वह स्वप्नवत् विलीन हो जायेगी। मैं ऐसा होने दूँगा नही। मैं अपनी यह राय अभी कागज पर लिखकर आपके हाथ में दे देता हूँ। आप इसे भाई किशनलालजी को भी बता दें।'

मैंने तुरन्त उक्त आशय की एक चिट्ठी लिखकर उनके हाथ में दे दी।

और सन् ६० के जून महीने में २ नम्बर पिट मे हमको भगवत्-कृपा से कोयला ४३९ फीट के नीचे मिल गया, और सन् ६१ के पूर्वार्द्ध मे ३ नम्बर पिट में भी ४२९ फीट पर कोयला मिल गया।

इस दरमियान हमने इक्विपमेंट की लिस्ट तैयार करके हेड-ऑफिस भेज दी थी, और यह लोग कोटेशन लेने में संलग्न थे, लेकिन अभी तक ऑर्डर नही दे सके थे।

अब प्रश्न उठा कि कोयला उठाया कैसे जाय ? मौजूदा इक्विपमेंट के द्वारा तो मैनेजर कोयला उठाने के लिए रजामन्द न था। इसमें उसका दोष भी नही था। माइनिंग-डिपार्टमेन्ट से मौजूदा इक्विपमेंट से केवल कोयला सिंकिंग करने की ही इजाजत मिली हुई थी।

आखिर मैंने मालिको से कहा, 'यदि दो-चार महीने में विलायत से एञ्जिन आ सकें, और हेडगीयर हम यही बनवाकर लगा सकें, तब तो हमको थोडे दिन प्रतीक्षा करके मौजूदा इक्विपमेंट को हटाकर, नया इक्विपमेंट लगाकर ही काम शुरू करना चाहिए। लेकिन यदि साल-दो-साल की देरी लगने की सम्भावना हो, तो मौजूदा इक्विपमेंट के द्वारा रेजिंग करने की परमीशन माइनिंग-डिपार्टमेंट से लेने की कोशिश करेंगे। सफलता की पूर्ण आशा है।'

यह परामर्श भाई किशनलालजी एव विजय के साथ हो रहा था। विचार-विमर्श के बाद यही तय रहा कि हम प्रयत्न करके मौजूदा इक्विपमेंट से ही कोयला उठाने की परमीशन ले लें। तदनुसार मैंने परमीशन ले ली।

खान के अन्दर से कोयला उठाने का काम शुरू हो गया, लेकिन इतनी गहराई से कोयला उठाने मे हमारे २ नम्बर पिट का एञ्जिन अपनी कमजोरी की पुकार बीच-बीच में करता रहता। कभी यह टूटा, तो कभी वह। मैंने छोटे और बडे दाँत-चक्के (पीनियन्स) बनवाकर रख लिये। छोटा दाँत-चक्का तीन-चार मास से ज्यादा नही चलता था। यह बडी जोखिम का काम था। रकम भारी लग चुकी थी। कोयला उठाना अनिवार्य था। इसलिए बाध्य होकर हम बराबर जोखिम उठाते चले गये, लेकिन ईश्वर की कृपा से कोई दुर्घटना नही हुई।

सन् ६३ मे चानक नम्बर ३ के ऊपर ५६ फीट का एक बडा हेडगीयर फिट कर दिया गया। उसी समय विलायत से विशालकाय बिजली का एञ्जिन भी आ पहुँचा। इसकी सिटिंग एव इसका घर तैयार करके इसको भी बैठा दिया गया। लेकिन चलने में यह दिक्कत देने लगा। फिटिंग में कही गलती हो गई थी। इससे विशेष छेड-छाड करने की किसी की हिम्मत होती नही थी।

तब एक दिन मैंने चौहान एव इजीनियर प्रसाद को बुलाकर कहा, 'कल ७ बजे मैं एञ्जिन-घर मे प्रवेश कर जाऊँगा, और जब तक एञ्जिन ठीक न हो जायेगा, तब तक उस जगह से हटूँगा नही। तुम लोग बेझिझक काम करना। सफलता का श्रेय तुम्हारा, असफलता की जिम्मेवारी मेरी। अगर किसी प्रकार की कोई दुर्घटना घट गई, तो तुम सब तरह के उत्तरदायित्व से मुक्त रहोगे। बदनामी मेरी होगी।'

उनके चेहरे पर साहस झलक आया।

दूसरे दिन वैसा ही किया गया। शाम तक सफलता ने उन दोनों की पीठ थपथपाई। मैनेजर भी हमारे साथ में ही था।

इसके अगले वर्ष हमने २ नम्बर पिट के ऊपर भी नये एञ्जिन और हेडगीयर फिट कर दिये।

आज इस सीम से १५००० टन कोयला प्रति माह निकालते है, और थोडे अरसे के बाद २०००० टन कोयला मासिक उठने लगेगा। कँदा सीम के सफल डेवलपमेंट को मैं अपने माइनिंग-कैरीयर के ऊपर आखिरी मोहर-छाप मानता हूँ। इसे मिलाकर अब परासिया कोलियरी से प्रति माह करीब ३५ और ४० हजार टन के बीच कोयला उठने लग गया है। आज जामबाद की दोनो सीम के अन्तर्गत ४० गाडियो का साइडिंग है और कँदा सीम के लिए ५० गाडियो का।

सन् ४६ में जब मैं परासिया मे आया था तब यहाँ गिनती के १५-२० धवडे थे, आज प्रभु की कृपा से मजदूरो के रहने के लिए हजारो क्वार्टर्स बने हुए है, और ऑफिसरो के लिए अलग-अलग बँगले है।

रात्रि में दूर से आते समय इस कोलियरी की हजारो बत्तियाँ चमचमाती हुई देखते ही बनती है। आज यह एक कस्बे का रूप धारण किये हुए है। आज इस कोलियरी के अन्दर करीब ३००० मजदूर, तीन फर्स्ट-क्लास मैनेजर, ६ सेकण्ड-क्लास मैनेजर, एक इंजीनियर, एक फुल-टाइम डॉक्टर इत्यादि-इत्यादि काम कर रहे है।

३० सितम्बर १९६४ के दिन मैंने अवकाश ग्रहण कर लिया।

मालिको को मेरा अभाव सहन न होने के कारण उन्होने अपने बोर्ड ऑफ डायरेक्टर्स में टेकनीकल-डायरेक्टर के रूप में मुझे भी शामिल कर लिया, और मेरे स्थान पर मेरा लडका राजेन्द्रकुमार गोयनका ग्रुप-एजेन्ट की हैसियत से नियुक्त कर लिया गया। राजन के बारे में आप आगे के पन्नो में विस्तृत विवरण पढेंगे कि किस तरह बच्चो को उनके बचपन से ही उचित ढंग से शिक्षा देने से उनके अन्दर की सुषुप्त शक्तियाँ सहज-सुगम मार्ग के माध्यम से प्रस्फुटित एवं उद्भाषित हो उठती है।

परासिया से करीब ४ मील दूर डेढ-दो हजार बीघा कोयला-भूमि है। पिछले दो साल से उस पर परासिया के अन्तर्गत कृष्णनगर नाम की कोलियरी बना ली गयी है। अब वहाँ भी कोयला उठने लग गया है, और थोडे समय पश्चात् ही ४-५ हजार टन कोयला प्रति माह उठने लग जायेगा। इस कोलियरी का निर्माण

भी अपने ढग का वहुत सुन्दर हुआ है और जो भी इसे देखता है, सराहना करता है। माइनिग-डिपार्टमेंट तो इस पर पूर्णरूपेण मुग्ध है।

साउथ परासिया कोलियरी भी आज ६-७ हजार टन कोयला प्रति मास उठाती है, और उसका कार्य भी सुचारु रूप से चल रहा है।

परासिया कोलियरी मेरे हाथ की निर्मित सस्थान होने के कारण अब भी मेरी ममता इसके प्रति वनी हुई है। अब भी सुबह-शाम मैं वहाँ का एक चक्कर जरूर लगा लेता हूँ। विशेप डेवलपमेंट का कार्य आज भी मेरे निरीक्षण मे ही होता है। इतने वर्षो तक मेरे सम्पर्क में रहने के कारण कार्यकर्ताओ को भी मेरी उपस्थिति में कार्य करना ज्यादा अच्छा लगता है। यही कारण है कि आज माइनिग-क्षेत्र से पृथक होने की इच्छा रहते हुए भी मैं पृथक हो नही पा रहा हूँ।

मेरा शेष समय पठन-पाठन में व्यतीत होता है। यह पूर्ववर्ती अभ्याम की ही देन है जो आज मेरे जीवन में वहुत सहायक वनी हुई है। मैं कही भी रहूँ, कही भी चला जाऊँ, अपने को एकाकी महसूस नही करता। महापुरुपो का समागम मेरे साथ-साथ कारवाँ की तरह चलता रहना है। इसके लिए मैं प्रभु का हृदय से उपकार मानता हूँ।

स्वाध्याय के सोपान

०

मैं यथास्थान बता चुका हूँ कि मैं उच्च शिक्षा प्राप्त नही कर सका था। बल्कि उच्च शिक्षा की पहली सीढी भी पार नही कर सका था। बाद मे मौका पाकर, हिन्दी में वकालत पास करके अपना काम चलाने लगा था।

लेकिन जब बी० ए०, एल-एल-बी पास वकील अँग्रेजी मे बहस करते, और अपने मुकदमो के सन्दर्भ मे हाईकोर्ट और ब्रिटिश अदालतो के फैसलो का अँग्रेजी में हवाला देते, तो मेरे हृदय मे अँग्रेजी की कमी बडी खलती। एक टीस पैदा होती, जिसको दवाने के सिवाय दूसरा कोई उपाय नही था।

जब मैंने भइया से यह बात कही, तो वे बोले, 'इसमें घबडाने की क्या बात है? तुम ऐसा क्यो सोचते हो कि तुम अँग्रेजी भाषा पर अधिकार प्राप्त नही कर सकते? सिर्फ लगन चाहिए, और वह तुम्हारे अन्दर पर्याप्त मात्रा में है ही। इसके अलावा, अब तो तुम्हें एक ही विषय पर ध्यान देना है—कॉलेज मे तो इतने विषय होते है कि एक विषय में भी विद्यार्थी की गति अवरुद्ध होने पर उसका कैरीयर नष्ट हो जाता है। तुम अँग्रेजी की किताबें पढा करो। जहाँ एक बार तुम्हारा शब्द-कोष बढा और मजबूत हुआ कि फिर तो तुमको अँग्रेजी पढने मे स्वाद आने लग जायेगा। जब तक अँग्रेजी के प्रति तुम्हारा स्वाद नही बढ जाता, तब तक तकलीफ प्रतीत होती रहेगी। जब व्यक्ति को किसी भाषा का रस आने लग जाता है, तो वह उसको छोडता नही।'

मुझे मौन देखकर भाईसाहब फिर बोले, 'यह अंग्रेजी भाषा बड़ी मधुर है—इसमें ज्ञान की बातें बहुत है, और आज संसार का सारा विज्ञान तो इसी भाषा में भरा पड़ा है। इस भाषा को सीखना बहुत आवश्यक है। पहले-पहल तुम्हें महान् पुरुषो की जीवनियाँ पढनी चाहिएँ, इतिहास की किताबें पढनी चाहिएँ, और वकालत की जो पुस्तकें अंग्रेजी मे लिखी हुई हैं, उनका अध्ययन करना चाहिए। कुल ६ मास के परिश्रम से ही बहुत अन्तर पड़ जायेगा।'

भइया की बात मानकर मैंने सबसे पहले स्वामी रामतीर्थ की किताबें पढनी शुरू की। सचमुच, बड़ा रस मिलने लगा। फिर विवेकानन्द और रवि बाबू की किताबें भी पढीं। इनके अलावा, अन्य किताबें भी पढ़ता रहता। साहस बढा—स्वाद मिलने लगा। फिर तो मैं क्या देखता हूँ कि प्रकृति मुझे स्वत ही वे-वे पुस्तकें देने लगी, जो मेरी प्रकृति के अनुकूल थी।

जब पढते-पढते उलझन या कठिनाई महसूस होती, तो एक बार तो मन में आता कि किसी से चलकर पूछ लूँ—फिर सोचता कि कहाँ तक पूछूँगा। आखिर मै ऑक्सफोर्ड डिक्शनरी का सहारा लेकर अध्ययन करने लगा। मेरी कठिनाई हल होने लगी, और मुझे डिक्शनरी के सहारे पढने का चस्का पड़ने लगा। फिर तो रास्ता साफ दिखाई देने लगा।

इस अध्ययन का सुपरिणाम मुझे उस समय मिला जब मै राजस्थान के चीफ मेडिकल ऑफिसर के दफ्तर में काम करने लगा। वहाँ सैकड़ो चिट्ठियाँ रोज नजर से गुजरती, ड्राफ्ट करने का काम रोज का था ही, इस तरह लिखने का भी अभ्यास बढ़ने लगा और सफलता मिलती चली गयी।

मैं नाना विषयो की किताबें पढने लगा। फिलॉसफी की किताबो में मेरा मन ज्यादा लगता।

कलकत्ता में एक दफा मैं राधाकृष्णन् की किताब पढ रहा था। भाई किशनलालजी पोद्दार पूछ बैठे, 'आज इतने लीन होकर किस किताब का अध्ययन हो रहा है?'

मैं चौंक उठा और बोला, 'अध्ययन तो क्या खाक हो रहा है, सिर्फ रश्क हो रहा है।'

उन्होने पूछा, 'यह कैसी पहेली है? समझ मे नही आई।'

मैंने उत्तर दिया, 'रश्क इस बात का हो रहा है कि एक व्यक्ति तो व्यक्त करता है अपने भाव इतनी ओजस्विनी भाषा मे, और दूसरा व्यक्ति उसके ओर-छोर को छूने तक में असमर्थ है। तो बताइये, एक मस्तिष्क की तो इतनी

पहुँच, और दूसरे मस्तिष्क की इतनी कमजोरी ! लेखक के दृष्टिकोण तक पहुँचना ही जब इतना कठिन है, तो उस विषय का समझना और फिर उसे अपने शब्दो मे व्यक्त कर देना तो बहुत दूर की बात है !'

जब मुझे किसी पुस्तक को समझने में कठिनाई होती, तो मैं उसे छोड नही देता था—रटक करने लगता था। इससे मुझे बडी शक्ति मिलती। मैं उसका अध्ययन उस समय तक जारी रखता जब तक कि मैं उसे अच्छी तरह समझ न लेता।

विद्या अगाध समुद्र है। इसके थोडे-से जल-कण भी मिल जायें, तो तृषित को काफी सन्तोष मिलता है, और उसके अन्त चक्षु खुलने लगते है। संसार को देखने में, उसको समझने में उसे बडा सहारा मिलने लगता है। जब इस रहस्य के पर्त खुलने लगते है, तो आनन्द का ठिकाना नही रहता। दाँत के बिना जैसे भोजन का रस नही मिलता—पेट भले ही भर जाये, उसी प्रकार बिना विद्या के जीवन का असली रहस्य दृष्टिगत नही होता। यो तो सभी जीवन-यापन करते है—गरीब भी, अमीर भी, लेकिन कोटि में फर्क आ जाता है।

इसी प्रकार ज्ञानी और अज्ञानी के जीवन का अन्तर है।

विद्यार्थी-काल मे किसी कारणवश अध्ययन नही कर पाने पर भी, यदि मनुष्य प्रयत्नशील बना रहे, तो बाद में भी बहुत कुछ प्राप्त कर ही लेता है। बस, साहस कभी न खोये। किसी ने ठीक ही कहा है—मन के हारे हार है, मन के जीते जीत !

भइया को पढने का बडा शौक था। उनके पास अच्छी-अच्छी पुस्तको का सग्रह था। मैं छोटी अवस्था में ही महाकवि कालिदास के ग्रन्थ मेघदूत, शकुतला आदि के हिन्दी अनुवाद पढ चुका था। उन्ही दिनो मैंने विदुर-नीति, चाणक्य-नीति, शुक्र-नीति भी पढ ली थी। भर्तृहरि-शतक का भी मैंने अध्ययन कर लिया था, बल्कि इसे तो मैं बराबर ही पढता रहता था। इस पुस्तक से मुझे बडी प्रेरणा मिली थी—जीवन की विकट परिस्थितियो मे यह बडी सहायक साबित हुई। अच्छी-अच्छी पुस्तको का अध्ययन जीवन में पथ-प्रदर्शन का काम करता है।

यदि भइया के द्वारा अध्ययन की ओर मेरी रुचि जाग्रत नही हुई होती, तो आज आयु के इस सोपान पर पहुँचकर जीवन नितान्त खोखला और नीरस बना रहता। जिस जीवन मे रोज मरना पडे—वह कैसा जीवन ! असली जीवन तो वह है जिसको प्रतिकूल परिस्थितियाँ भी न मुरझा सकें।

मुझे अपने पठन-पाठन में मेरे अनन्य मित्र श्री रघुनाथप्रसाद के द्वारा भी काफी प्रोत्साहन मिला। जब तक मैं अजमेर में रहा, वे मुझे थियोसॉफी की किताबें लाकर देते और कहते, 'इनको पढना, फिर अपन बैठकर विचार-विमर्श करेंगे।'

मुझे वे किताबें पढनी पडती। जब उन किताबो को समझ लेता, तो मुझे प्रतीत होता कि मैं एक सीढी और ऊपर चढ गया हूँ। अध्ययन के साथ-साथ दृष्टि विस्तृत होती चली जाती।

लेकिन ज्यो-ज्यो मैं पढता गया, मुझे अपने ज्ञान का छिछलापन भी भान होता गया। थोडा जानते थे, तो प्रतीत होता था—बहुत जानते है, और जब ज्यादा जानने लगे तो प्रतीत होने लगा कि अभी तो जानने को बहुत है, जो जानते है, वह तो केवल नीव के सदृश है। ज्ञान के इस अनन्त पारावार का ओर-छोर ही नही है।

एक दफा मै डॉ० भगवानदासजी से बनारस में मिला था। उनके पास मेरे मित्र मुरारीलालजी केडिया मुझे ले गये थे।

जब हमने कमरे में प्रवेश किया, तो क्या देखता हूँ कि वे कुर्सी पर बैठे है और सामने टेबल पर रखी एक मोटी-सी किताब का अध्ययन हो रहा है। मैं बरबस पूछ ही बैठा, 'आपको भी अभी तक पढने की आवश्यकता बनी हुई है जबकि आप तो स्वय विद्या के अपार भडार है?'

हँसकर वे बोले, 'भूल से भी यह अभिमान मन में नही आने देना चाहिए। उस अनन्त की इस सृष्टि में क्या ज्ञान कभी सीमित हो सकता है? हम तो अभी रेती के एक कण को भी नही जान पाये है कि, यह कहाँ से आया? • कैसे बना? किससे बना?•• कब बना? ••कब यह नष्ट हो जायेगा, और नष्ट होकर दूसरा रूप धारण कर लेगा? जब हम लोग एक कण को ही नही समझ पाये है, तो और बातो की तो बात ही क्या?'

मैं उनके चरण-स्पर्श कर, उनका आशीर्वाद लेकर, वापस चला आया।

यह है विद्याध्ययन-जन्य नम्रता और स्वाध्याय का महत्त्व।

हमारे ऋषि एक-एक बात ऐसी कह गये हैं कि खोज करते रहिये, बुद्धि लगाते रहिये, लेकिन उनके दृष्टिकोण की गहराई तक हम पहुँच ही नही पाते। यही कहकर सतोष कर लेना पडता है कि हमारे ऋषि त्रिकालज्ञ थे, दिव्य-चक्षुधारी थे। जब तक कि हम भी अपना स्तर उतना ही ऊँचा न उठा लें, उनकी बातो का गूढ अर्थ कैसे समझ सकते है? हम उनकी महानता के सम्मुख नत-मस्तक हो जाते है।

फलित-ज्योतिष के प्रसंग में

०

सन् १९६३ के आस-पास की बात है। मेरा लडका राजन ज्योतिषियो की बातो पर विशेष रूप से विश्वास करने का अभ्यस्त हो चला था। वैसे यह सच भी है कि फलित-ज्योतिष को नितान्त निरर्थक कहकर इसकी अवहेलना नही की जा सकती। हाँ, शास्त्र एक चीज है, और शास्त्र का ज्ञाता होना दूसरी चीज। अक्सर हम ज्ञाता की अज्ञता को शास्त्र के ऊपर थोप देते है, और उस शास्त्र की ही अवहेलना करने लग जाते है। जैसे नौसिखिये वैद्य होमियोपैथी की दवाइयाँ देते है, तो आराम न होने पर प्राय हम होमियोपैथी-प्रणाली को ही दोषी ठहरा देते है, और यह देखने का जरा भी कष्ट नही करते कि दवाई का देनेवाला कितना दक्ष एव अनुभवी था। यही बात अन्य विषयो पर भी लागू होती है।

आज के ज्योतिषाचार्य भी प्राय इसी श्रेणी मे आते है।

एक बार फरवरी १९६२ मे हम लखनऊ मे पण्डित परमेश्वर द्विवेदी 'भृगुसहिताचार्य' के पास गये। उन्होने हमारी कुण्डली देखकर हमारा जीवन-वृत्तान्त बताना आरम्भ किया। ज्यो-ज्यो वे बताते जा रहे थे, त्यो-त्यो मैं हैरत-अगेज होता चला जा रहा था। मेरे माता, पिता और भाइयो के नाम, पिछली सफलताओ और असफलताओ का इतिहास, मेरे इधर के जीवन से सम्बद्ध व्यक्तियो के नाम तथा उनसे मेरे सम्बन्ध आदि बातें वे बताते चले गये। साथ-साथ उन्होने भविष्य की भी दो-चार बातें बताई।

यही हाल मैंने बनारस-निवासी पण्डित गयाप्रसाद 'भृगुसंहिताचार्य' का भी देखा।

हम कह नही सकते कि किस आधार पर ये ज्योतिषी लोग इतनी भेद-भरी बातें बता देते है। उनकी यह शक्ति देखकर किसी भी व्यक्ति के मन मे इनके प्रति अगाध श्रद्धा का सचार होना स्वाभाविक है। परन्तु हमारा व्यक्तिगत अनुभव है कि इन लोगो की बताई हुई अतीत की बातें तो मिल जाती है, भविष्य की बातें बहुधा नही मिलती।

बात यह है कि इनके पास एक ऐसा अमोघ शस्त्र होता है जिसको फेंककर ये अपने जिज्ञासु को अपने शिकजे मे जकड लेते हैं। वह शस्त्र है मनुष्य के अतीत काल की गुप्त घटनाओ को बता देना, जिस कारण वह व्यक्ति इनका शरणागत हो जाता है। फिर तो ये लोग भावी अशुभ घटनाओ को सूचित करते हुए उनके निवारणार्थ यज्ञ इत्यादि करने का निर्देश देते है, जिसके लिए ये अच्छी-खासी रकम ऐंठ लेते है। इनसे जितना दूर रहा जा सके, उतना ही हितकर है।

हमने इन दोनो ही पडितो के पास श्री के० एम० मुशी के हाथ के लिखे हुए प्रमाण-पत्र भी देखे, जिस कारण किसी भी व्यक्ति का इन पर विश्वास कर लेना स्वाभाविक है। मैं मुशीजी को अपने हृदय में अपना गुरु मानता आया हूँ। मैंने उनको इस बारे में एक पत्र लिखा था। उत्तर में उन्होने इतना ही लिखा था कि इन ज्योतिषी लोगो की भूत-काल की बातें तो अक्षरश मिलती है, लेकिन भविष्य की बातें कभी मिल जाती है, तो कभी नहीं मिलती। इसका कारण बताने मे वे भी असमर्थ थे।

बचपन से ही मैं अपने अग्रज मदनलालजी को ज्योतिष में दिलचस्पी लेते हुए देखता आया था। फलत मुझे भी ज्योतिषियो के पास जाने का शौक पैदा हो गया था। प्रत्येक मनुष्य में ही अपने भविष्य को जानने की लालसा रहती है, और अपने अतीत के बारे में सब कुछ जानते हुए भी वह दूसरे के मुख से उन बातो को सुनने का इच्छुक बना रहता है। लेकिन कुछ सही बातो के साथ-साथ ये ज्योतिषी अपनी तरफ से कितनी मुँहदेखी बातें भी मिला देते है, इसका हमको पता नही चल पाता।

फिर भी मैं अपने अनुभव से इतना अवश्य कह सकता हू कि ईमानदार और अनुभवी ज्योतिषी हमारी जीवन-रेखा को बताने में असफल नही रहते, किन्तु यह जरूरी नही है कि उनकी भी बताई हुई सारी ही बातें सच निकलती हो।

मेरा बचपन एव मेरी किशोरावस्था मेरे अग्रज मदनलालजी के सान्निध्य मे

ही व्यतीत हुई थी। भाईसाहब ज्योतिष में अपनी दिलचस्पी की पुष्टि में अक्सर कई घटनायें सुनाया करते थे। जब भाईसाहब अजमेर रियासत के अन्तर्गत देवलिया में डॉक्टर थे, तब उनकी वहाँ के एक ज्योतिषी से घनिष्टता हो गई थी। उस ज्योतिषी से सम्बन्धित एक घटना भाईसाहब इस प्रकार सुनाया करते थे

'देवलिया के एक अच्छे धर्मनिष्ठ और ज्योतिष-शास्त्र में पारगत पंडित के एक कन्या थी। उसका योग इस प्रकार का था कि जिस दिन उसकी शादी होगी उसी रात वह विधवा भी हो जायगी, लेकिन उसके एक पुत्र भी होगा।

कन्या जब सोलह साल की हो गई, तो विवाह-योग्य जानकर पंडितजी अजमेर आये और योग्य वर की तलाश करने लगे। आखिर एक लडका उनको पसन्द आया, जो शरीर से हृष्ठ-पुष्ट और स्वभाव से दृढ सकल्पी था। उसके माता-पिता से बातचीत हुई। पूरी बात जान लेने पर वे तो यह सम्बन्ध करने में झिझके, लेकिन लडका तैयार हो गया।

तय हुआ कि बिना मुहूर्त का विचार किये, लडकी का ऋतु-धर्म होने के छठवें दिन दोपहर में शादी सम्पन्न होगी। ऋतु-धर्म होने के प्रथम दिन ही लडकेवालो को खबर दे दी जायेगी। बरात छठवें दिन सवेरे पहुँच जायेगी। शादी के बाद रात्रि में लडका और लडकी दोनो एक साथ रहेंगे।

ऐसा ही हुआ।

गर्भाधान होने पर दोनो सो गये। अर्द्ध-रात्रि को भगवान् जाने कहाँ से एक सर्प आया और दूल्हे को डँसकर चल दिया। वह सोया-का-सोया ही रह गया।

सवेरे उठने पर लोगो को ज्योतिष की सचाई का पता चला।

और नौ मास बाद लडका भी पैदा हुआ।'

इस ज्योतिषी ने हमारे भाईसाहब को जो-जो बातें बताईं, वे सब सच निकली। सुनते समय तो वे बातें विश्वास करने योग्य नही लगती थी, किन्तु समय आने पर वे घटित होकर ही रही।

०

एक वर्ग ऐसे मनुष्यो का भी होता है जो छोटे-छोटे चमत्कार दिखाया करता है। मैं अपनी स्वानुभूत दो-तीन ऐसी घटनाओ का यहाँ जिक्र करता हूँ।

सन् १९५८ में मैं एक बार अजमेर गया हुआ था, तो मेरे साले ने एक सज्जन को बुलाया जो रेलवे-ऑफिस मे कर्मचारी था।

रात्रि के ८-६ वजे का समय था। हम बैठक मे बैठ गये। भीतर से एक बडा कटोरा मँगाया गया। वे सज्जन कटोरे से करीब तीन-चार फीट की दूरी पर बैठे हुए थे।

उनके आदेशानुसार मै कटोरे को जमीन पर औंधा रखता जाता, और वे एक कपडे से उसे ढक देते। दो-चार मिनट वाद कपडे को हटाते, और मैं कटोरे को सीधा करता, तो उसके नीचे कभी केले, कभी विस्कुट के पैकेट, कभी कमला नीवू, कभी फूलो की मालाएँ दिखाई देती। अन्त में दो सौ सत्तासी रुपयो के नोट—जो एक-एक, पाँच-पाँच और दस-दस के थे—कटोरे के नीचे से निकले।

उनके आदेशानुसार उनमें से पाँच रुपयो की मिठाई मँगाई गई। वाकी रुपये उन्होने अपनी जेव मे रख लिये—यह कहकर कि ये रुपये जहाँ से आये है, थोडे समय में वापस वही चले जायेंगे।

दूसरा प्रसग राजगृह का है।

सन् १९६१ में मैं राजगृह गया हुआ था। वहाँ के म्युनिसिपल-कमिश्नर से मेरा परिचय हुआ।

एक दफा मैं उनके घर गया। वे शरीर पर सिर्फ एक धोती पहने बैठे हुए थे। वात-चीत के दौरान उनका हाथ पीछे की ओर गया, और जव वापस सामने आया तो दो वढिया सेव उनके हाथ मे थे।

उन्होने वे सेव मुझे खाने के लिए दिये। मै झिझका, तो वे वोले, 'झिझकते क्यों हो? जिसके पास से ये सेव आये है, उसको पैसे दे दिये जायेंगे।'

तव मैंने उनमें से एक सेव खा लिया।

स्वामी विवेकानन्द जव एक वार दक्षिण भारत की रियासत हैदराबाद गय हुए थे, तो वहाँ के अपने अनुभव पर आधारित इसी प्रकार का जिक्र उन्होने भी अपनी पुस्तक में किया है।

हमने ऐसी घटनाएँ अन्य भी कई विश्वासी एव प्रतिष्ठित व्यक्तियो के मुँह से सुनी है।

इसकी तह में क्या रहस्य है, इसका उद्घाटन करने में तो हम असमर्थ है, लेकिन इन घटनाओ को नितान्त तथ्यहीन कहकर हम इनकी अवहेलना भी नही कर सकते। दरअसल यह शोध का विषय है।

देवी, सहचरी, प्राण !

०

मुझे अपने सघर्षशील जीवन में अपनी पत्नी का जो सहारा मिला, उसका जिक्र इस पुस्तक में यथास्थान किया गया है। अपने जीवन के अन्तिम दिनो में वह काफी अस्वस्थ रही। विशेषकर उसके साँस के दौरे ने उसे काफी कष्ट पहुँचाया, लेकिन उसने विना उफ् किये सव खामोशी से सहन कर लिया। उसकी सहन-शक्ति आश्चर्यजनक थी।

अपनी इस जीवन-सगिनी की स्मृति आज भी मेरे जीवन की एक अमूल्य निधि है। इस परिच्छेद मे मैं अपनी इसी जीवन-सगिनी के सम्बन्ध में लिखूँगा।

० सुदामा की पत्नी का प्रसग

सन् १९५० का पूरा दिसम्बर मास बगलौर मे भाई किशनलालजी के पास रहकर ७ जनवरी १९५१ के दिन मैं वापस कोलियरी आ गया। दूसरे दिन विना किसी प्रत्यक्ष कारण के मुझे ज्वर ने धर दबाया। शायद हठात् जलवायु-परिवर्तन ही इसका कारण था। खून लिये हुए इतना श्लेष्मा नाक के द्वारा निकलता कि दिन में दो-दो तौलिये भर जाते। बेहद बेचैनी। यों तो डॉक्टर का इलाज चल ही रहा था, लेकिन रह-रहकर हूक-सी उठती कि काश, आज भइया आकर मेरे सिर पर हाथ रख देते, लेकिन वे आज इस ससार मे ये ही

कहीं, जो आ जाते । मेरी तबियत उनकी याद में भरे दिल रोना चाहती । ऐसा करने से मेरी स्त्री विचलित हो जाती, और अनेक आशंकाएँ उसे घेर लेती । उसे दुःख देना मैं चाहता नहीं था, लेकिन रोकर दिल की भाप निकालना भी अवश्य चाहता था ।

हठात एक बात याद आ गई । मैंने अपनी स्त्री को बुलाया और कहा, 'देखो, तुम्हें सुदामा की पत्नी का एक प्रसंग सुनाता हूँ । जरा गौर से सुनना । वह गरीब ब्राह्मणी जब गरीबी के झकोरे न सह सकी, तो उसने आग्रह करके सुदामा को द्वारिकाधीश श्रीकृष्ण के दरबार में भेजना चाहा ।

ब्राह्मण ठहरा स्वाभिमानी । उसके हृदय में यह बात उतरती ही न थी । वह बोला, 'मित्र से याचना करना मित्र को संकोच में डाल देना है । यह आचरण मित्र-धर्म के विरुद्ध है । ऐसा कार्य मेरे हाथ से मत करा ।'

लेकिन अन्त में वह गरीब ब्राह्मण पत्नी के आग्रह के सामने झुक गया और जाने के लिए प्रस्तुत हो गया । उसकी स्त्री भली-भाँति समझ गई कि उसका पति स्वभावतः अयाचि होने के कारण अपने मुँह से भगवान से कुछ माँगेगा नहीं । किन्तु अपनी दयनीय अवस्था का हाल उस करुणा-वरुणालय के कानों तक पहुँचाने के लिए वह बड़ी आकुल थी । वह सोचती रही कि करे तो क्या करे ?

आखिर उसकी बुद्धि ने उसका साथ दिया, और उसको एक उपाय सूझ गया । वह सुदामा से बोली, 'अपने मित्र के पास खाली हाथ क्या जाओगे ! कम-से-कम एक छोटी-सी पोटली चावल की तो लेते जाओ ।'

सुदामा ने यह स्वीकार कर लिया ।

वह इधर-उधर से मांग के कुछ चावल इकट्ठा करके ले आयी । जिस तरह विरही यक्ष अपने निर्वासन-काल में किसी पहाड़ी की चोटी पर बैठा हुआ मेघों को दूत बनाकर अपनी विरहिणी स्त्री के पास अपना विरह-भरा संवाद भेजना चाहता था, उसी तरह यह गरीब ब्राह्मणी चावलों को बीनने के बहाने प्रत्येक चावल को अपने दुःख-भरे जीवन की व्यथा द्वारा अभिमंत्रित करती चली जा रही थी । उसका विश्वास था कि जब ये चावल करुणानिधान के हाथ में जाकर पड़ेंगे, तो मुखरित हो उसकी व्यथा का राज भगवान श्रीकृष्ण से कह सुनायेंगे, और कदाचित् अगर ये जड़-कुंठित ही बने रह गये, तो वे सर्वज्ञाता इन चावलों में अभिमंत्रित संदेश को पढ़कर मेरी दैन्य अवस्था को जाने बिना न रहेंगे ।'

सुदामा की पत्नी का यह प्रसंग सुनाते-सुनाते मैं फूट-फूटकर रोने लगा । मेरी पत्नी इसका रहस्य न समझ पाई, लेकिन मुझे बड़ी शान्ति मिली ।

इसके दो-चार दिन बाद ही मै ठीक हो गया, लेकिन तभी हठात् मेरी पत्नी को उसके साँस के दौरे ने धर दबाया।

० इलाज के लिए कलकत्ता-प्रस्थान

डॉक्टरो का इलाज होता रहा। कभी साँस मध्यम, तो कभी उग्र रूप धारण कर लेती। यो करते-करते अप्रैल मास आ गया।

आधी रात को कभी साँस का दौरा विशेष जोर पकड जाता, तो पानी की गरम थैली की आवश्यकता पडती। नौकर तो सब रात मे ११ बजे चले जाते थे। राजन कलकत्ते मे पढता था। पास मे था केवल विजय। वह छोटा-सा बच्चा—उसको आधी रात के समय कैसे जगाता। मोतियाबिन्द के कारण मुझे साफ दिखाई देता नही था। फिर भी मै अटकल से बाल्टी के उबलते पानी को गिलास से लेकर रबर की थैली मे भरता और अपनी स्त्री को पकडा देता। यह देखकर उसकी व्यथा दुगुनी हो जाती। मोतियाबिन्द से पीडित पति के द्वारा इस प्रकार की जोखम का काम कराना उसको कितना असहनीय था, यह तो उसका हृदय ही जानता था।

एक दिन मेरे दामाद शकरप्रसादजी रात्रि के समय मेरे पास आये और बडे उदास मन से कहने लगे, 'कल गौ-दान एवं एक खास रकम पुण्यार्थ बोल देनी चाहिए।'

मेरे यहाँ हमेशा ही गायें रहा करती है। मैंने कहा, 'अपनी गायो मे से अच्छी-से-अच्छी गाय दान में दे देनी चाहिए।'

दूसरे दिन गौ-दान हो गया।

२१ अप्रैल के दिन उसकी हालत बहुत सगीन हो चली। आशका हुई कि यह शरीर आज रहे, न रहे।

मैंने श्री मोहनलाल गोयनका को फोन करके बुला लिया। उनके साथ उनकी स्त्री भी आयी। ये दोनो स्त्री-पुरुष मेरे और मेरी स्त्री के बडे भक्त थे। पीढियो के नाते श्री मोहनलाल मेरे पौत्र लगते हैं। प्रतिष्ठित और धनी-मानी व्यक्ति है। कई कोलियरियो के मालिक है। आज तो पटना मे इनकी कॉटन मिल भी है। ये हृदय के बडे सरल और विनयशील है। सेवा-धर्म इनका सहज स्वभाव है, और ये बडे पितृ-भक्त है। इतना लिखने की मुझे आवश्यकता थी नही, लेकिन कलम लिखे बिना रही नही।

जब ये पहुँचे, तो स्थिति की गभीरता इनसे भी छिपी नही रही। इनकी सलाह से मैंने अपने पुराने परिचित डॉ० बी० गुप्ता को बुला लिया। यह एक
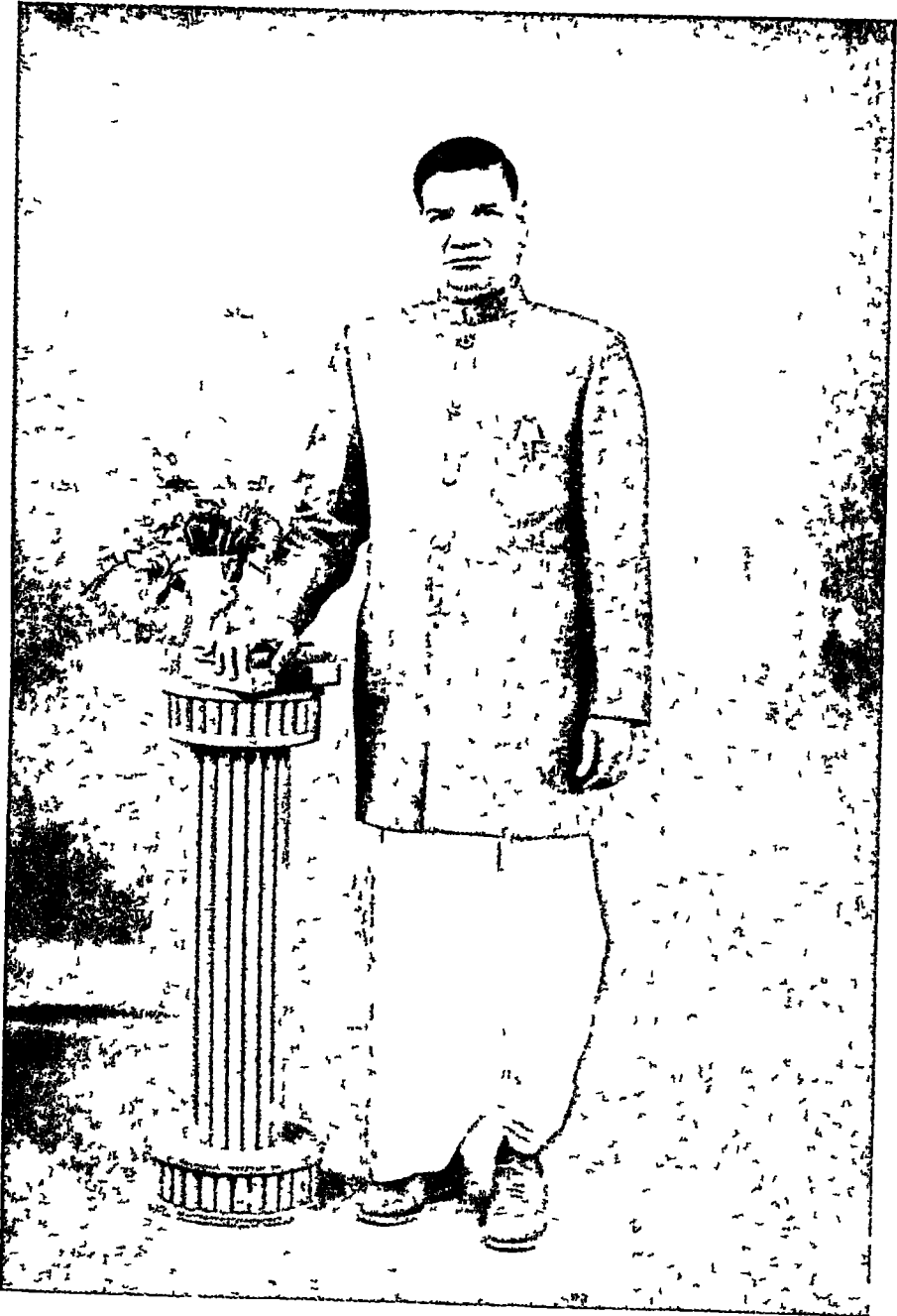
सरल और विनयशील हृदय के धनी
श्री मोहनलाल गोयनका

श्रीमती आनन्दी देवी गोयनका

उच्च कोटि के सर्जन डॉक्टर हैं। रोगी को देखकर उन्होंने उसे जल्दी-से-जल्दी कलकत्ता ले जाने की राय दी। उस समय रात्रि के ७-८ बजे होंगे।

मैंने उसी समय भाई किशनलालजी को फोन किया, और सारी परिस्थिति से उनको अवगत करा दिया।

वे नाराज होते हुए बोले, 'भाभीजी की ऐसी हालत कर दी, और मुझे खबर तक न दी! कल अवश्यमेव उनको लेकर कलकत्ता पहुँच जाओ।'

उन्हीं दिनों भाई आनन्दीलालजी की भतीजी की शादी होनेवाली थी। ऐसे समय उनके घर में एक मरीज को ले जाकर टिकना कहाँ तक उचित होगा—मैं इस सोच में पड गया और संकेत में मैंने अपने भाव भाई किशनलालजी से फोन पर सशंक व्यक्त कर दिये।

वाह रे हृदय के धनी! वे बोले, 'फालतू बात न किया करो! जो होगा, सो देखा जायगा। घर का आदमी तो घर में ही आकर टिकेगा। दूसरी जगह भला जा ही कैसे सकता है! फिर इसकी चिन्ता तो मुझे करनी चाहिए थी, न कि आपको?'

इस प्रकार मेरी हिम्मत बँधाते हुए वे कलकत्ता आने के लिए आग्रह-पूर्ण जोर देते चले गये।

भाई मोहनलालजी पास बैठे सारी वातचीत सुन ही रहे थे। ये अन्दर गये और अपनी स्त्री से परामर्श करके बिना मेरे कहे ही दूसरे दिन भोर में हमारे साथ खुद भी जाने का प्रोग्राम तय कर लिया। फिर मुझसे कहा, 'अभी तो हम दोनो चले जाते है, लेकिन रात्रि के करीब ३ बजे आकर, दादीजी को शौच इत्यादि से निवृत्त कराकर, सूर्योदय होने के पहले-पहले मोटरो द्वारा प्रस्थान कर जायेंगे। एक में दादीजी, बाई भगवती एव मेरी स्त्री बैठ जायेंगी, और दूसरी मे मैं, आप, शंकरप्रसादजी, विजय और एक नौकर बैठ जायेंगे। करीब दस बजे तक हम लोग कलकत्ता पहुँच जायेंगे।'

प्रोग्राम के अनुसार हम लोग सूर्योदय के पहले ही कलकत्ता प्रस्थान कर गये और भाई किशनलालजी के घर जाकर ठहर गये।

मोहनलालजी की स्त्री एक दिन और एक रात मेरी स्त्री के पास रही, और जब मेरी स्त्री की स्थिति ठीक देखी, तो वह अगले दिन चली गयी।

हमारे विश्वनाथजी ने अपने ही तल्ले में मेरी स्त्री के ठहरने के लिए एक कमरा ठीक कर रखा था, और डॉ० चौधरी से सायकाल को आने के लिए टाइम भी कर लिया था।

डॉ० चौधरी यथासमय आये। उन्होंने रोगी को देखा, जाँच-पडताल की,

हम लोगो को दिलासा दी, और इलाज चालू हो गया।

इलाज का सारा भार हमारे विश्वनाथजी ने अपने ऊपर ले लिया था। ये वडे सहृदय और दूसरो के दर्द को सहज स्वभाव से बँटानेवाले है। किन्तु जहाँ तक मेरा सवाल है, मेरा दर्द तो इनका अपना ही दर्द था। इनकी पत्नी भी मेरी पत्नी की सेवा मे जुटी रहती। चौवीस घटे के लिए नर्स का इन्तजाम कर दिया गया था, और एक जूनियर डॉक्टर की भी व्यवस्था कर दी गयी थी, जो सुवह-शाम आकर मरीज को सँभाल लेता और डॉ० चौधरी को रात्रि के समय दिन भर की रिपोर्ट दे देता।

इन्ही दिनो राजन के इण्टरमीडियट के प्रथम सत्र की परीक्षाएँ शुरू हो गयी। वह छात्र-निवास में रहता था, इसलिए परीक्षा देकर शाम को घर आता और थोडी देर रहकर चला जाता। परीक्षा समाप्त होने के पश्चात् वह भी हमारे पास ही रहने लग गया। विश्वनाथजी एव उनकी स्त्री सदा से ही इसे पुत्रवत् स्नेह करते चले आये है। यह उन्ही के साथ खाता-पीता।

एक दिन सवेरे मेरी स्त्री ने इसे वुलाकर पूछा, 'तेरा परीक्षा-फल निकला कि नही ? तेरा प्रमोशन तो हो गया न ?'

मैं भी वही वैठा था।

राजन को खामोश देखकर वह फिर वोली, 'गत रात को सपने मे सफेद वस्त्र धारण किये हुए कोई अँग्रेज व्यक्ति मुझसे वोला कि राजन का प्रमोशन हो गया है। मैं तो प्रमोशन के माने समझी नही। मैंने तो यही अर्थ लगाया कि राजन पास हो गया है।'

और परीक्षा-फल निकलने पर पता चला कि राजन केमिस्ट्री का पेपर अच्छा नही कर सका था, लेकिन शेष विषयो मे अच्छे नम्बर मिलने के कारण उसे प्रमोशन मिल गया।

० एक दिव्य व्यक्तित्व पूज्य दीपचन्दजी

कलकत्ता-निवास के इस एक महीने के दौरान जव कभी मैं भाई किशनलालजी के पिता पूज्य दीपचन्दजी के पास आकर वैठता, तो वे अपने सहज स्नेही स्वभाव से पूछते, 'कहो, राजन की मॉजी की तवियत अव पहले से ठीक है न ?'

मैं धीमे से उत्तर देता, 'हाँ जी, आपके आशीर्वाद से अव तवियत वहुत सुधार पर है।'

जव मैं उनके पास वैठा हुआ होता, और उनके मिलनेवाले आ जाते, और

सहृदय और विनोदप्रिय स्वभाव एव प्रभावशाली व्यक्तित्व के धनी
श्री विश्वनाथ पोद्दार

इनमें आतिथ्य की भावना भी कूट-कूटकर भरी हुई थी, बल्कि उसके तो ये साकार रूप ही थे।

मुझे अपने दीर्घ जीवन मे ऐसा दिव्य व्यक्तित्व कोई दूसरा आज तक नजर नही आया। अब वे इस ससार मे नही है, किन्तु वह पावन स्मृति आज भी मेरी पुण्य-श्लोक निधि बनी हुई है।

करीब महीने भर हम लोग कलकत्ता रहे, और जब मेरी पत्नी स्वस्थ हो गई, तो कोलियरी वापस चले आये।

कलकत्ता-निवास के इन दिनो में ही हमें बाई मिथिलेश के पुत्र होने का तार मिला था, जिससे मेरी पत्नी को बहुत प्रसन्नता हुई।

कलकत्ता से आने के बाद डॉ० चौधरी के बताये हुए नियमो और दवाइयो का पालन होता रहा, और बीमारी यथावत् दबी रही।

० विधाता की कुटिल गति

सन् १९५१ के नवम्बर या दिसम्बर की बात है। भाई चम्पालालजी पोद्दार की शादी होने जा रही थी। यो निमत्रण तो मुझे मिला ही था, किन्तु उनकी तरफ से मुझे व्यक्तिगत रूप से विशेष निमत्रण भी मिला था। बचपन से ही ये मेरी तरफ आकृष्ट थे। मेरा भी पूर्ण स्नेह इनको प्राप्त था।

जब कभी मैं कलकत्ता जाता, खबर मिलते ही ये बडे लालायित होकर मुझसे मिलने को दौडे आते, और मुझे आलिंगन में ले लेते।

विधाता की कुटिल गति को कौन पहचान सकता है! भाई आनन्दीलालजी के निधन के पश्चात् भाई-भतीजो में आपस में विरोध भाव उत्पन्न होने के कारण सब अलग-अलग हो गये।

भाई चम्पालालजी इधर मे कुछ उग्र हो चले थे, लेकिन इनका मानसिक सतुलन असयत होने के बावजूद ये उसे महसूस नही कर पा रहे थे। फलत अन्त में ये एक दिन हुतात्मा हो बैठे।

आँखो की ऐसी हालत में ही १९५१ के सितम्बर महीने में खेतडी जाकर मैं बाई मिथिलेश और नरेन्द्र को ले आया था। ८ फरवरी १९५२ के दिन महाबीर प्रसादजी इनको वापस ले गये।

चलते समय मैंने बाई से कहा था, 'पहुँचकर शीघ्रातिशीघ्र नरेन्द्र का एक फोटो मेरे पास भेज देना। ऑपरेशन होने के बाद जब मेरे चश्मा लगेगा, तो प्रथम बार देखने के लिए उसीका फोटो मेरे सामने आना चाहिए।'

हुआ भी यही।

एक दिव्य व्यक्तित्व

स्वर्गीय श्री दीपचन्द पोद्दार

इलाज होने के पश्चात् काफी राहत मिली, और सन् १९५६ राजी-खुशी वीत गया, और इसी साल के दिसम्बर महीने मे राजन का विवाह भी इन्होने अपने हाथो से सानन्द सम्पन्न कर दिया ।

सन ५७ मे वीमारी फिर उभरी । वैद्य हरिश्चन्द्रजी का इलाज फिर चालू किया । लेकिन इस वार उनकी दवा कारगर न हो सकी । तव वर्नपुर के डॉ० वनर्जी (एफ० आर० सी० एस०) का इलाज चालू कराया और उनका इलाज प्राय वरावर ही चलता रहा । जब ये ठीक हो जाती, तो इलाज बन्द हो जाता । वीमारी उभरती, तो फिर उनका इलाज चालू हो जाता ।

० एक दर्पपूर्ण मुस्कान

सन् ६१ की वात है । मेरे पैरो मे गठिया का दर्द कुछ विशेष जोर पकड गया था । इसलिए अगस्त मास में मैं राजगृह चला गया । शर्त यह थी कि जब मैं वहाँ मकान का इन्तजाम कर लूँगा, तो मेरी पत्नी भी वहाँ आ जायेंगी । मेरे साथ श्री जे० चौधरी (हमारे ऑफिस सुपरिन्टेन्डेन्ट) भी चले आये थे और मेरा सारा मौजूँ इन्तजाम करके, ७-८ दिन वाद वापस चले गये थे ।

श्री चौधरी है तो हमारे ऑफिस सुपरिन्टेन्डेन्ट, लेकिन मैं अपने मन मे इनको अपना एक अन्तरग मित्र मानता हूँ । ये मैथिल ब्राह्मण है । इनकी धर्म-पत्नी आर्य सस्कृति के परम्परानुगत गुणो की दृष्टि से एक आदर्श नारी है । इनके सिर्फ एक ही पुत्र है—अमरनाथ चौधरी, जो एम० ए० पास है, और हमारी सीनियर वेसिक स्कूल का हेडमास्टर है ।

राजगृह में कुछ दिन मैं अकेला रहा ।

एक दिन क्या देखता हूँ कि विजय अकेला ही चला आ रहा है । मैंने उससे पूछा, 'तेरी माँ नही आयी ?'

यह अपनी नानी को माँ बोलकर ही सबोधित करता था ।

इसने उत्तर दिया, 'दो-तीन दिन के बाद माँ भइया के साथ आयेगी ।'

दो-तीन दिन व्यतीत होगये । एक दिन सवेरे मैं उठा । चित्त बडा उडा-उडा-सा प्रतीत हो रहा था । मेरी धारणा ऐसी वन गयी कि हो-न-हो, वह फिर वीमार पड गयी है । मुझे इत्तला इसलिए नही दी कि कही मैं तुरन्त चला न आऊँ ।

मोटर तो पास थी ही । मैंने तुरन्त थोडा-सा खा-पीकर सामान मोटर में लादा, और प्रस्थान कर दिया ।

रास्ते भर मैं बडा चिन्तित रहा । रह-रहकर खयाल उठता कि मिलना

श्री जगेश्वर चौधरी

श्री के० एन० चौहान

भी हो सकेगा, या नही ?

रात के १२ वजे मैं कोलियरी पहुँचा, तो क्या देखता हूँ कि बाहर चबूतरे पर दो पलँग बिछे हुए हैं, और एक पर विजयकुमार पोद्दार और दूसरे पर राजन बैठे बात-चीत कर रहे है।

मेरे आकस्मिक आगमन से ये दोनो चौके। मैंने राजन से पूछा, 'तेरी माँ तो राजी है न ?'

उत्तर में उसने कहा, 'माँ बहुत राजी है।'

मैं सीधा घर में गया, और ज्यो ही मैंने कमरे में प्रवेश किया तो क्या देखता हूँ कि वह पलँग पर बैठी मुस्करा रही है।

मैंने कहा, 'तुम आयी क्यो नही ?'

उत्तर में मीठी मुस्कान थी।

मैंने फिर कहा, 'अगर नही आना था, तो कम-से-कम समाचार ही दे देती, तो मुझे इतनी परेशानी तो न उठानी पडती।'

मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि उसकी मुस्कान मुखरित हो मुझसे कह रही है— बस, आखिर चले ही आये न !

उसके मुँह से एक शब्द न सुनकर भी, उसकी मुस्कान के पीछे छिपा हुआ उसके मन का भाव मैं तुरन्त समझ गया—यह वही दर्पपूर्ण मुस्कान थी जो स्त्री के मुँह पर उस समय खिल उठती है, जब उसे महसूस होता है कि उसका पति उसकी जुदाई अधिक समय तक सहने में असमर्थ है।

आखिर उसने अपना मौन भग किया और कहा, 'देखो, मुझे इसी साल माणक के पिता की गया करानी है। साल-दर-साल बीत गये और मैं अभी तक अपना सकल्प पूरा न कर सकी। मैंने वहुत-सा सामान तो जुटा लिया है। भाद्र के शुक्ल-पक्ष में मैं माणक को और उसकी स्त्री को- चूरू भेज दूँगी, वह आवश्यक नियमो का पालन करके सीधा गयाजी चला आयेगा, और अपन लोग पूर्णाहुति के दो-तीन रोज पहले चले चलेंगे। माणक का कहना है कि अगर हम सब साथ गये, तो खर्चा बेजा बैठ जायेगा, पडे लोग मुँह फाडे बिना रहेगे नही। जब वह खुद के स्तर से काम करायेगा, तो खर्चा कम बैठेगा।'

मैंने कहा, 'ठीक है। जैसी तुम्हारी मर्जी है, वैसा कर लेना।'

० गया-यात्रा

हम तीन दिन पहले मोटर से गयाजी पहुँच गये। हमारा इजीनियर एन० प्रसाद भी हमारे साथ था। वह गया का रहनेवाला है। मेरी स्त्री उसको पुत्रवत्

मानती थी।

प्रसाद का ससुराल भी गया में ही है। उसके ससुर ने अपने रिश्तेदार के घर मे, जो उन दिनो खाली था, हमारे ठहरने का बहुत सुन्दर इन्तजाम करा दिया।

इसके ससुर बडे ही सौजन्यशील व्यक्ति हैं। उन्होने मेरी पूरी सँभाल रखी, और इसकी सास और सालियाँ बराबर ही मेरी स्त्री के पास जुटी रहती।

भोजनार्थ मेरी स्त्री धर्मशाला में चली जाती, जहाँ माणक ठहरा हुआ था।

पहुँचने के दूसरे दिन हम फल्गू नदी के किनारे गये। हमने डोली कर ली थी। मेरी पत्नी ने नदी में स्नान तो नही किया, लेकिन हाथ-पैर धो लिये, और हम दोनो ने विधिवत् पिण्ड-दान कर दिया।

जब कार्य समाप्त हो गया, तो हम लोग बौद्ध-गया गये। बौद्ध-मन्दिर देखने के लिए सीढियो के द्वारा काफी नीचे उतरना पडता है। वह सानन्द नीचे उतरी। बुद्ध भगवान की मूर्ति के दर्शन किये, एव वट वृक्ष के भी।

उसको मैं सारी बातें समझाता रहा कि किस प्रकार भगवान बुद्ध यहाँ आये थे, और वट वृक्ष के नीचे उनको ज्ञान मिला था।

वह पूछ बैठी, 'क्या यह वृक्ष तभी का है ?'

मैंने उत्तर दिया, 'यह वृक्ष तो उतना पुराना नही है, लेकिन इसकी जडें फैलती रहती हैं, और वृक्ष का रूप धारण करती चली जाती है। हम इतना ही कह सकते है कि इसी के आस-पास वह स्थान होना चाहिए, जहाँ बैठकर भगवान बुद्ध को ज्ञान प्राप्त हुआ था।'

फिर हम वापस ऊपर आये। सीढियाँ चढते समय मेरी पत्नी की कमर मे दर्द हो गया, और वह दर्द बढता ही चला गया। वहाँ दो दिन और ठहरकर, होमियोपैथी एवं एलोपैथी डॉक्टरो का इलाज भी करवाया, लेकिन दर्द में कोई फर्क नही पडा।

एक रात यह दर्द से कराह रही थी। आस्थावादी तो थी ही, कहने लगी, 'मतलब निकल गया, अब क्या है ?'

मैंने कहा, 'पित्रेश्वरो के प्रति ऐसा नही कहा करते। यह तो कोई चनक आ गई है, सो दो-एक रोज में ठीक हो जायेगी।'

हम भोर मे रवाना होकर पाँचवें या छठे रोज शाम की वेला कोलियरी वापस पहुँच गये।

दिन-प्रतिदिन कमर का दर्द बढता ही चला गया। हड्डी के स्पेशलिस्ट

अपनी धर्मपत्नी स्वर्गीया श्रीमती वनिता देवी के साथ जीवन की परिपक्वावस्था मे लेखक (सन् १९५८)

डॉक्टरो को भी बुलाकर दिखाया, लेकिन कोई विशेष लाभ न हुआ।

इसी बीच साँस का दौरा भी फिर चालू हो गया। डॉ० बनर्जी दवाई-पर-दवाई बदलता। एक दवाई पाँच-सात दिन असर करती, फिर वह गरीब दूसरी दवाई बदलता। इस प्रकार गाडी लुढकती रही।

० आत्मा का भव्य प्रकाश

दीप-मालिका का दिन था। रात्रि में जब पूजन का समय आया, तो मैंने कहा, 'पूजन में तो तुम्हें अवश्य बैठना चाहिए।'

उसने उत्तर दिया, 'यह भी कोई कहने की बात है। मैं अवश्य बैठूँगी। पूजन तो मेरे सान्निध्य में ही होगा। यह साल भर का त्योहार है।'

इतना कहने के पश्चात् उसने राजन की बहू से अपने लिए एक नई साडी, अन्य कपडे एवं ओढना मँगवाया। वस्त्र धारण करके वह हम लोगो के बीच में बैठ गयी। दीप-पूजन होने लगा।

अचानक मैं क्या देखता हूँ कि इतने दिनो की उस रोगिणी, दुबली-पतली, असहाय-सी नारी की जगह एक बडी प्रकाशवान, मोटी, स्वस्थ महिला बैठी हुई है। जिस प्रकार दीपको में से प्रकाश प्रस्फुटित हो रहा था, उसी प्रकार उसके मुख-मण्डल से भी एक भव्य प्रकाश विकीर्ण हो रहा था।

यह दृश्य देखकर मैं स्तब्ध रह गया। मेरे हृदय में आशका उठी कि यह आत्मा इतनी भव्य हो चली है कि अब इस पिंजडे में कब तक रह सकेगी?

उसी समय मेरी यह धारणा बन गयी कि अब इसका शरीर ज्यादा दिन टिकेगा नहीं। इसकी आत्मा अब विदा लेने को उत्सुक हो उठी है।

हम लोग पूजा समाप्त कर उठ गये, और उसने फिर अपनी खाट की शरण ले ली। पलँग पर लेटते ही बोली, 'इतना श्रम करने के पश्चात् भी मुझे कमजोरी प्रतीत नही हो रही है। लगता है, यह साल बहुत अच्छा बीतेगा, और मैं शीघ्र ही अच्छी हो जाऊँगी।'

मैंने कहा, 'मुझे भी यही आशा है।'

० एक कारुणिक वार्तालाप

१ जनवरी सन् १९६२ की बात है। मेरी पत्नी ने कहा, 'मैंने शकरप्रसादजी द्वारा एक ऊनी चादर मँगवाई थी, लेकिन वह जरा भारी थी। इसलिए लौटा दी थी।'

मैंने कहा, 'मैं स्वय कलकत्ता जाऊँ, और चादर लाऊँ, तव तुम्हें पसन्द आये। सो अभी तो मैं कलकत्ता जा नही सकता। तुम्हें अकेले छोडने का जी चाहता नही। लेकिन घर मे इतनी चादरें पडी हुई है, क्यो नही उनमें से एक को काम मे ले लेती हो ?'

वह बोली, 'आप क्या यह समझते है कि मैं उनको मोहवश काम में नही लेती हूँ ? वे इतनी हलकी और मुलायम है कि वे मेरे शरीर पर ठहर नही पायेंगी, और मेरे हाथ में अब इतनी शक्ति रही नही कि वार-वार मैं ठीक कर सकूँ।'

यह सुनकर मेरा दिल द्रवित हो आया।

उसने मेरी ओर देखकर फिर कहा, 'दिल मे इतनी कमजोरी नही लानी चाहिए।'

जरा रुककर उसने रुँधे गले से फिर कहा, 'मुझे बस एक ही चिन्ता है कि मेरे पीछे तुम्हारा क्या हाल होगा ?'

'मेरे दिल में भी एक ही अफसोस है कि आज प्रभु-प्रदत्त साधन प्राप्त होने पर भी मैं तुम्हारे कष्ट मिटा नही सकता।' कहते-कहते मेरा गला भी भर आया।

मैं उठ खडा हुआ, और वाहर वैठक में आ वैठा।

० माँ-बेटी की अन्तिम सम्मिलित हँसी

६ जनवरी, अपराह्न का समय था। मेरी पुत्र-वधू ने मुझे भीतर बुलाया, और बोली, 'डॉ० वनर्जी को वुला लें।'

मैंने कहा, 'डॉ० वनर्जी से तो पहले से समय तय करना पडता है। अगर वहुत जरूरी हो, तो मैं राजन को भेजकर कोशिश करता हूँ।'

मैंने राजन को ऑफिस मे टेलीफोन किया। उसने डॉ० वनर्जी के घर पर फोन किया। फोन पर उसकी स्त्री मिल गयी। उसने डॉ० वनर्जी से फोन पर वात करके फिर राजन को फोन कर दिया कि वे दोनो करीब ७ और ८ के बीच पहुँचे रहेगे।

जव कभी डॉ० वनर्जी हमारे यहाँ आते थे, तो अपनी स्त्री को भी साथ मे लाते थे।

वे यथासमय आ गये। डॉ० वनर्जी ने ए० सी० टी० एच० इन्जेक्शन देने का निश्चय किया।

उनकी वात सुनकर राजन वोल उठा, 'डॉक्टर साहव, सन् १९५५ में

कलकत्ते में इन्हें यह इन्जेक्शन दिया गया था, तो उसकी हानिकर प्रतिक्रिया हो गई थी।'

डॉक्टर ने कहा, 'और कोई उपाय भी तो नही है, इसके अलावा, अभी मैं स्माल डोज मे टेस्ट के रूप में ही इन्जेक्शन दूंगा। इसे सह लेने के वाद डोज वढाते जायेंगे।'

दूसरे दिन ८ वजे इन्जेक्शन दे दिया गया। करीव ११ वजे मैं कमरे में गया, तो वह प्रसन्न मुद्रा में वैठी भगवती से वात-चीत में मगन थी।

मैंने कहा, 'कहो, अव कैसी तवियत है?'

उसने कहा, 'वैसे तवियत तो ठीक ही है, लेकिन आँखो में जरा ऊष्मा-सी मालूम हो रही है।'

मैंने उल्टे हाथ से उसके मस्तक को स्पर्श किया, तो मेरा हृदय दहल गया। वुखार वहुत तेज था, लेकिन वातावरण को हलका वनाने के नाते मैंने ऊपर से कहा, 'अरे, यह माँ-वेटी में तो वडी मल्हर-मल्हरकर वातें हो रही है।'

भगवती वोली, 'नही वावूजी, हम तो यों ही वातें कर रहे थे। वैसे भी, दिल की वात तो माँ मुझसे ही करती है न।'

मैंने कहा, 'तू वडी ठगोरी है। अव भी कुछ ठगना चाहती होगी।'

मेरी पत्नी वीच में ही वोल उठी, 'यह वात तो न कहो। लोभ तो मेरी वेटियो को छू तक नही गया है। हाथ उठाकर जो दे दो, उसी मे ये दोनो वहनें खुश रहती हैं। ये दोनो लडकियाँ तो हमेशा तुम्हारा गुणगान ही करती रहती है कि हमारे वावूजी ने यह दिया, वह दिया।'

मैंने कहा, 'और तुम चुपचाप जो सरकाती रहती हो।'

दोनो माँ-वेटी हँसने लगी।

मैं उस समय यह कहाँ जानता था कि कल इस समय यह वाँस की डोली मे रस्सी से कस जायेगी?

० आखिरी शब्द

भोजन करके मैं अपने कमरे में गया, और मैंने अपने डॉक्टर को वुलाया, और कहा, 'इन्जेक्शन की प्रतिक्रिया शुरू हो गयी है। इसका कोई वचाव अभी से करना चाहिए। आप राजन के साथ अपराह्न में जाकर डॉ० वनर्जी से विचार-विमर्श कर लें, और इस इन्जेक्शन को न्यूट्रेलाइज करने के लिए कोई दूसरा इन्जेक्शन ले आइये।'

ये दोनो दोपहर में रवाना हो गये। रात मे जव लौटकर आये, तो कहने

लगे, 'कोई दूसरा इन्जेक्शन देने के लिए तो डॉ० बनर्जी ने मना कर दिया है, तथा कल पेशाव और मल की परीक्षा कराने को कहा है। जाँच के पश्चात् हम लोगो को रिपोर्ट लेकर बुलाया है। हम कल शाम को उनके पास जायेंगे।'

रात में करीब १० बजे मैं बरामदे में बैठा भोजन कर रहा था। अन्दर से मेरी स्त्री ने कहा, 'आज सर्दी ज्यादा है। हवा भी ठडी है। तुम बरामदे की बजाय आज बैठक में सो जाओ। अभी तो भगवती मेरे पास बैठी हुई है। ११-१२ बजे यह चली जायेगी, और सुबह जल्दी ही आ जायेगी।'

उस समय मैं यह कहाँ जानता था कि उसके मुँह से ये आखिरी शब्द सुन रहा हूँ ?

मेरी इच्छा नही हुई कि मैं बैठक मे सोऊँ, लेकिन तभी राजन बोल उठा, 'नही, नही, बाबूजी, माँ ठीक ही कह रही है। आप बैठक मे सोइये। मैं और मीरा जागते रहेगे।'

० विदा, चिर विदा

करीब ११ बजे मैं सो गया। ३ बजे के लगभग मैं उठा और पेशाव करके उसके कमरे मे गया, तो क्या देखता हूँ कि वह मुँह से साँस ले रही है। आँखों मे क़ॉमा हो गया है। होश-हवास बिलकुल नही।

तभी राजन अपने कमरे से दौडता हुआ आया। वह घबडाहट में मुझसे बोला, 'एक बजे माँ को शौच कराके मैं जरा कमर सीधी करने चला गया था। मीरा यही थी। वह अभी-अभी घबडायी-सी मेरे पास आई, और मैं उठकर दौडा चला आ रहा हूँ।'

मैंने राजन के सिर पर सान्त्वना का हाथ रखा, और तुरन्त डॉक्टर को बुलाया। उसने आँखें खोलकर टॉर्च की रोशनी डाली। कोई प्रतिक्रिया नही हुई, तो डॉक्टर ने कहा, 'अफसोस, आखिरी टाइम आ गया।'

मैंने साउथ परासिया से उसी समय भगवती को बुलाया।

करीब ६ बजे अपनी इहलीला समाप्त कर, हम सबको बिलखता छोड, वह गो-लोक प्रस्थान कर गई।

मैं सन्न रह गया। मुझे उस वक्त एक ही बात सूझी। मैंने तुरन्त विश्वनाथजी को फोन किया और उनको सारा हाल कह सुनाया। फिर मैंने उनसे कहा, 'इसकी अन्येष्टि-क्रिया वैदिक रीति से बहुत सुचारु ढग से होनी चाहिए, जिसमें काफी मात्रा में सामग्री हो, और काफी मात्रा मे चन्दन और घी। साथ मे पडित भी रहे। यह सारा सामान लेकर आप मगरा (त्रिवेणी) पहुँचें। शव-यात्रा

करीब ४-५ बजे तक वहाँ पहुँच जायेगी।'

एक फोन मैंने अपने अजीज प्रकाश को किया, और उसके बाद मैं स्तब्ध-सा अपनी कुर्सी पर बैठ गया।

समूचे घर में करुण क्रन्दन मचा हुआ था। भगवती, राजन और विजय का बुरा हाल था। इस पर भी मैं स्तब्ध था।

थोड़ी देर पश्चात् मैं पेशाब करने पेशाब-घर में गया, तो वहाँ वह चौकी पड़ी हुई थी जिस पर बैठकर वह शौच करती थी। उसको देखकर मेरे हृदय में एक हूक-सी उठी, और ऐसा प्रतीत हुआ कि अब हृदय के टुकड़े-टुकड़े हुए बिना न रहेंगे।

चौहान मेरा पीछा कर रहा था। मैं उससे लिपट पड़ा। मेरे अन्तर् की गहराई से रुदन का एक वेगवान रेला उठा, और मैं फूट-फूटकर रो उठा।

अब तक माणक भी आ पहुँचा था।

ये लोग शव-यात्रा की तैयारी में मशगूल हो गये। रानीगंज से भी काफी मित्र और परिचित आ गये थे।

शव-यात्रा का प्रस्थान करीब १२ बजे हो गया।

जब हम लोग मगरा के रास्ते में थे, तो उधर से प्रकाश और बृजलाल की गाड़ियाँ आती हुई दिखाई दीं। पास आकर उन दोनों की गाड़ियाँ रुकीं। फिर तो हृदय फिर फट पड़ा।

मगरा में विश्वनाथजी और भाई चम्पालालजी हमें पहले से ही उपस्थित मिले। मुझे अपने अंक में लेकर दोनों फूट-फूटकर रोने लगे।

विधिपूर्वक दाह-संस्कार करके हम लोग भारी हृदय से वापस लौट आये।

इसके बाद कई दिनों तक मित्र लोग आते रहे। जब वे मुझे सान्त्वना का उपदेश देते, तो मैं भरे हृदय से इतना ही कहकर चुप हो जाता, 'क्या करूँ? धीरज साथ नहीं देता। समय ही इस घाव को ठीक करेगा।'

और मैं मन-ही-मन कहता, 'जिस जीवन-संगिनी ने ५१ वर्षों तक मेरा साथ दिया, आज वही मुझे छोड़कर चली गयी है, अब कैसे मन को धीरज बँधाऊँ?'

आज भी जब कभी उसकी बात चल पड़ती है, तो एक टीस-सी कलेजे को चीर जाती है। मैं हृदय को मसोसकर खामोश रह जाता हूँ। मैं बाहर भी गया, लेकिन मुझे कहीं शान्ति नहीं मिली। अब तो मैं केवल किताबों में ही खोया रहता हूँ, और उन्हीं में मुझे शान्ति मिलती है।

होनहार बिरवान के

०

राजन मेरी ज्येष्ठ लडकी भगवती का ज्येष्ठ पुत्र हे। जब यह तीन-चार साल का था, तभी यह अपने पिता का घर छोडकर देवघर से मेरे साथ चला आया था। इस सम्बन्ध में हम पहले लिख ही चुके है।

बाल्यकाल मे बच्चे का शिक्षण-प्रशिक्षण किस पद्धति से किया जाए ताकि बच्चे के मस्तिष्क पर जरा भी जोर न पडे और उसकी सुषुप्त शक्तियाँ यथासमय प्रस्फुटित हो जाएँ, तथा आगे चलकर वह परिवार का एक यशस्वी व्यक्ति, समाज का परिपुष्ट अंग और राष्ट्र का दृढ स्तम्भ बन जाए, इसी लक्ष्य को दृष्टिगत रखते हुए हम राजन के क्रमिक विकास से सम्बन्धित एक पृथक् अनुच्छेद देना चाहते है, जो सम्भवत भावी पीढी के लिए उपयोगी सिद्ध हो सके।

० प्रथम गुरु

जब राजन चार वर्ष चार महीने चार दिन का हुआ, तब मैंने परम्परानुगत विधि से इसको पट्टी का पूजन करा दिया। इसकी प्रथम गुरु इसकी माँ (यानी नानी) ही बनी थी। उसने राजन को अक्षरो का ज्ञान करा दिया, और जब यह अक्षरो को मिलाकर पढने लग गया, तब इसकी माँ ने धीरे-धीरे खेल-कूद मे ही इसको हिन्दी की प्राइमरी किताब पढा दी। जब कभी यह अपनी माँ से प्रेरित होकर अपना सबक सुनाने मेरे पास आता, तो मैं इसको अपनी गोद में लेकर चूमते हुए

कहता, 'अरे, तू तो किताब पढने लग गया ! इतनी जल्दी !! तू तो, मालूम होता है, सरपट पढकर जल्दी ही विद्वान् बन जायेगा ।'

यह फूला न समाता, और तुरन्त अपनी माँ से जाकर कहता, 'माँ, माँ, हमको जल्दी-जल्दी पढाओ ताकि मैं जल्दी से बिदवान हो जाऊँ ।'

बच्चा था, इसलिए विद्वान् तो कह नहीं सकता था, बिदवान कहता था ।

अभी तक इसको सयुक्त अक्षरो का ज्ञान नही कराया गया था । अब धीरे-धीरे सयुक्त अक्षर भी पढाने आरम्भ कर दिये ।

जब इसमें अक्षरो को मिलाने की शक्ति प्रस्फुटित होने लगी, तब मैंने इसके लिए एक अध्यापक रख दिया । सुबह-शाम एक-एक घण्टे आकर वह इसको पढा देता । बाकी समय में खेल-कूद के माध्यम से इसकी माँ इसको हिन्दी की किताब और गिनती, पहाडे आदि सिखा देती । वह थोडी-सी रेजगारी पास रख लेती, और उनसे इसको खिलाती रहती । मेरी छोटी लडकी मिथिलेश भी खेलती रहती, और इस तरह साथ-साथ उसका भी शिक्षण होता जाता ।

मेरी स्त्री को नीति के दोहे काफी तादाद में याद थे । वह उन दोहो को इसके सामने गा-गाकर बोलती रहती । उसने इससे उन दोहो को याद करने के लिए कभी नही कहा । जब यह स्वत ही कोई दोहा दोहराने लगता, तो हम सब बडे प्रसन्न होते, और कहते, 'राजन की स्मरण-शक्ति बडी तेज है । यह बडा मेधावी बनेगा ।'

धीरे-धीरे इसको दोहे याद करने का चस्का पडता चला गया । यह उन दोहो का अर्थ भी पूछता । तब इसकी माँ इसे अर्थ भी बता देती । कुछ यह समझता, कुछ नहीं समझता । निहायत बच्चा जो था ! हमारा यह उद्देश्य भी नही था कि बच्चा अर्थ समझे ही । उद्देश्य सिर्फ इतना ही था कि उन दोहो के शब्द इसके मस्तिष्क के अन्दर अपनी रेखाएँ अकित कर लें, ताकि आगे चलकर वे अपनी गूँज मचाये बिना न रहें ।

बचपन में जितने सस्कार पडते है, वे सब निगेटिव प्लेट के सदृश्य होते है, और चित्त के अन्तस्थल में जाकर ये सस्कार, चाहे अच्छे हो या बुरे, चोर की भाँति चुपचाप पैठ जाते है, और यथासमय परिपुष्ट होकर अनायास ही ऊपर आ जाते हैं ।

कोई-कोई मनोवैज्ञानिक इन सस्कारो को 'इमोशन' और 'इम्पल्स' का भी नाम देते है, लेकिन ये सब चीजें आती हैं उस चित्त (सब-काशस माइण्ड) से ही । यदि बच्चे को एक भव्य और योग्य सन्तान बनाना हो, तो बचपन में विशेष निगरानी की आवश्यकता होती है ताकि कोई अवाछनीय संस्कार बच्चे के हृदय

में न पनपने पाये।

अक्सर माता-पिता बच्चो के शिशुकाल में भयंकर गलतियाँ कर बैठते है—इस आधार पर कि उनका बच्चा तो अभी शिशु है, यह क्या समझेगा, भला समझने की शक्ति हो इसमें कहाँ जाग्रत हुई है, लेकिन वे यह नही समझ पाते कि आँखो और कानो के माध्यम से इसके चित्त पर जो निगेटिव प्लेट बनते चले जा रहे है, वही आगे चलकर पॉजिटिव रूप धारण कर लेंगे और चित्त से उठनेवाली ये लहरियाँ इतने वेग और सबलता से वह निकलेंगी कि उन पर यह अपना अधिकार जमा नही पायेगा।

राजन के शिक्षण के समय इन बातो का पूरी चौकसी के साथ ध्यान रखा गया था।

इसी प्रकार मेरी दोनो लडकियो का भी पालन-पोषण हुआ था।

० सुलेख का महत्त्व

शुरू से ही राजन के सुलेख के ऊपर मेरा बडा जोर रहा। सुलेख का मस्तिष्क के ऊपर बडा अच्छा प्रभाव पडता है। इससे जीवन में सफाई और विचारो में स्पष्टता आती है।

कुछेक व्यक्ति इस कथन पर सन्देह भी कर सकते है। वे कह सकते है कि बडे-बडे विद्वानो और मेधावी व्यक्तियो के अक्षर इतने खराब होते है कि उनको पढना तक मुश्किल होता है। उदाहरण के लिए, नेपोलियन की लिखावट इस प्रकार की थी कि उसे वह खुद नही पढ सकता था, फिर भी वह इतना मेधावी था। छोटे-से सिपाही की हैसियत से उठकर वह फ्रास का बादशाह बन बैठा और उसने सारे यूरोप को हिला डाला।

इस तरह की दलील देनेवाले यह भूल जाते है कि आखिर नेपोलियन ने भी अन्तिम ठोकर ऐसी खाई कि उसे कारावास में ही प्राण त्यागने पडे।

वैसे हम भी यह स्वीकार करते है कि इस नियम के अपवाद अवश्य है, लेकिन अपवाद नियम नही बन सकते। अक्सर स्कूल में बच्चे इस अपवाद के चक्कर मे पडकर महाप्रतापी नेपोलियन बनने की झूठी आशा में अपनी लिखावट बिगाड लेते है, और ऐसा सोच बैठते है कि प्रतापी बनने के लिए जीवन मे यह भी एक सीढो है। हमने अपने विद्यार्थी-जीवन में इसका अनुभव किया है, और इसके दुष्परिणाम भी देखे है।

० शिशु का खान-पान

चार साल की उम्र तक हमारे प्रयत्न करने पर भी राजन ने सिवाय दूध के और कोई चीज ग्रहण नही की, और दूध भी यह अपनी माँ के हाथ से ही पीता था। वडी मुश्किल से इसको अन्न की आदत डाली गयी। वचपन मे ज्यादा अरसे तक वच्चे को दूध पर रखने से लीवर में कमजोरी आ जाती है, क्योंकि दाँत से चवाकर खाना लीवर के लिए हितकर होता है। हमने अपने वच्चो को रात्रि में उठाकर कभी दूध नही पिलाया। अगर वच्चे को सोते-सोते भूख लग गयी, और उसने खाने की इच्छा प्रकट की, सिर्फ तभी दूध पिलाया करते थे। कारण, वच्चो को सोते से जगाकर दूध पिलाने से जिगर के ऊपर वोझ पडता है, और उसकी कार्य-प्रणाली में वाधा पडती है।

मेरी स्त्री ने कभी भी इसको भुला-भुलाकर खिलाने की कोशिश नही की। इसके पेट की सफाई पर हम लोग वरावर ध्यान रखते थे।

हम अपने वच्चो को प्रात काल सूर्योदय के पहले-पहले अपने साथ जगाकर शौच इत्यादि से निवृत्त कराते, दाँतो को अच्छी तरह मजन से साफ कराते, फिर वस्त्र वदलकर, सवेरे का कलेवा कराते।

मेरे यहाँ विस्कुट और डवल रोटी का प्रचलन विलकुल न था। 'प्रॉसेस फूड' यानी विस्कुट इत्यादि के क्रम में आनेवाले खाद्य-पदार्थ हमारे जमाने मे नहीं के वरावर थे। हमने पढा और अनुभव किया है कि ये तन्दुरुस्ती के लिए हानिकारक होते है।

मैं भली-भाँति जानता हूँ कि मेरी इस वात से आज के युग का आदमी सहमत नही हो सकेगा, क्योंकि वह हर चीज का इस्तेमाल आज के आधुनिक डॉक्टरो से पूछ-पूछकर करता है। यानी आज के ये डॉक्टर क्या हैं—प्रत्येक व्यक्ति के जीवन के सन्दर्भ-ग्रन्थ! आज इन्ही डॉक्टरो की सिफारिश से करोडो-करोडो रुपयों के लागत की दवाइयाँ और टिन फूड्स हमारे वाजारो में अपना साम्राज्य जमाये हुए है।

हमारे कहने का यह आशय कदापि नही है, कि ये दवाइयाँ एकदम निरर्थक ही है। नही, नही, ये उपयोगी भी साबित हुई हैं, लेकिन उपयोगिता प्रदान करने के साथ-साथ आगे के लिए अपना रास्ता भी साफ करके रखती है।

० दाई प्रथा के कुसस्कार

वचपन में जो वच्चे नर्स एव दाई द्वारा पालित होते है, और रात-दिन उनसे चिपके रहते है, यहाँ तक कि सोते भी उन्ही के साथ है, उनके ऊपर इन अशिक्षित

'एव अविकसित स्तर की औरतो के जो सस्कार बचपन में पड जाते है, आगे चलकर उनका दुष्परिणाम स्पष्ट रूप से चाहे परिलक्षित न हो पाये, लेकिन अपने वश एव समाज के संस्कारो के अन्दर छिपे हुए ये कुसस्कार समय-समय पर अपना आघात किये बिना नही रहते। उदाहरण के लिए, रायते को ही ले लीजिये। रायते के नमक और खटास को अभिभूत करने के निमित्त हम उसमें चाहे जितनी भी शक्कर मिला दें, लेकिन शक्कर की तह के नीचे नमक अपनी हस्ती बनाये रखता है।

० शिक्षा की प्रारभिक सीढियाँ

हाँ तो, हम कह रहे थे कि इसकी माँ पैसो के माध्यम से इसे जोड-बाकी सिखाती चली गयी। मेधावी होने के कारण इसे बहुत जल्दी ही बिना अटके हिन्दी पढने का अभ्यास हो गया, और इसे हिन्दी की शिशु-स्टैण्डर्ड वाली पाँच-छ किताबें पढा दी गयी। अभी तक शब्द-बोध के ऊपर जोर नही दिया गया था।

जब हिन्दी पढने में इसकी गति अच्छी हो गयी, तो शब्द-बोध कराने के ऊपर भी ध्यान दिया गया, और इसे हिन्दी का छोटा-सा व्याकरण पढाना शुरु कर दिया। अब तक यह जोड, बाकी, गुणा, भाग भी सीख चुका था।

जब यह करीब छ साल का रहा होगा, तब इसे अँग्रेजी पढाना शुरु कर दिया, और बिहार मे प्रचलित 'क्लेण्डर रीडर' के पाँच भाग इसे पढा दिये गये।

जब यह आठ साल का था, तो अँग्रेजी की छोटी-मोटी कहानियो की पुस्तक पढकर समझ लेता था।

फिर हमने इसको 'फोक टेल्स ऑफ बगाल' पुस्तक पढा दी। कुछ-कुछ तो यह खुद ही समझ लेता, और जहाँ यह अटकता, वहाँ मैं समझा देता।

तत्पश्चात् इग्लिश ग्रामर का भी बोध कराना आरभ कर दिया। इस प्रकार हिन्दी, अँग्रेजी और गणित—इन तीनो विषयो की पढाई एक साथ चलती रही। इस बात का पूरा ध्यान रखा जाता कि बच्चे के मस्तिष्क के ऊपर भार न पडे।

रोज शाम के समय मैं इसको अँग्रेजी का अखबार भी पढाता। शुरु-शुरु में पढते वक्त यह झिझकता। नये-नये शब्द आते तो यह पढ नही पाता, तब जिस शब्द पर यह अटकता, उसी शब्द की स्पेलिंग मैं इससे करवाता। दो-चार बार स्पेलिंग करते-करते यह अपने-आप ही ठीक उच्चारण करने लगता। इस प्रकार का अभ्यास मैं इसे प्रतिदिन करवाता। हिन्दी का अखबार भी पढाता।

मैं इसकी सफलता पर प्रसन्न होता और इसको भी प्रोत्साहित करता। धीरे-धीरे इसका साहस बढने लगा।

जब यह दस साल का हो चला, तो मैट्रिक्युलेशन के कैरीकुलम के हिसाब से इसकी पढाई का क्रम आरभ कर दिया। इससे बच्चे के दिल में यह भाव आ गया कि वाह, छोटी-सी उम्र में ही वह मैट्रिक्युलेशन में आ गया, लेकिन हमने सारे विषय एक साथ पढाने शुरू नही किये। गणित मे जब यह त्रिराशि के सवाल करने में दक्ष हो गया, तो बीजगणित की शिक्षा आरभ की, और बीजगणित में गति प्राप्त करने के बाद रेखागणित का अभ्यास कराना आरभ कर दिया। इन विषयो के साथ-साथ हिन्दी और अँग्रेजी की पढाई भी निरतर चालू रही।

मैट्रिक्युलेशन की परीक्षा में बैठाने के मात्र छह माह पहले हमने इसे इतिहास पढाना आरंभ किया था।

इस प्रकार कुल १२ वर्ष की आयु मे, १६ फरवरी १६५० के दिन, यह बिहार बोर्ड से प्राइवेट स्टुडेण्ट की हैसियत से मैट्रिक की परीक्षा में बैठा, और सेकण्ड डिवीजन से पास हुआ।

० असफलता का सफल समाधान

इसके बाद यह कलकत्ता के सेण्ट जेवियर्स कॉलेज में फर्स्ट ईयर में साइस लेकर भर्ती हो गया। चूँकि यह विषय इसके लिए बिलकुल नया था, इसलिए इसको पढाने के लिए इसी के कॉलेज का एक ट्यूटर नियुक्त कर दिया गया। फर्स्ट ईयर में तो यह पास हो गया, लेकिन जब सेकण्ड ईयर में आया, तो बच्चा ही तो ठहरा, यह पढाई में लापरवाही कर गया। परिणामस्वरूप, 'सेण्ट-अप' की परीक्षा में असफल रहने के कारण यह फाइनल परीक्षा मे बैठने से रोक दिया गया।

और जब रोक दिया गया, तो इसको भय लगने लगा कि यह पराासिया कैसे जाए? पिताजी क्या कहेगे?

आखिर इसको एक बात सूझी। यह भाई किशनलालजी के पास आया, और इसने अपनी कहानी उनसे कह सुनायी।

उन्होने तुरन्त मुझे फोन किया और सारा वृत्तान्त कह सुनाया। फिर बोले, 'भय से यह आपके पास आना नही चाहता।'

मैंने कहा, 'भाईजी, जरा राजन से मेरी बात करा दीजिये।'

जब राजन ने फोन लिया, तो मैंने कहा, 'राजन, तू रोक दिया गया, इसका मुझे बडा हर्ष है। अरे, तुझे तो परिपक्व होने के लिए एक साल और मिल गया। यह तो मेरी ही गलती थी कि तुझे इतनी जल्दी मैट्रिक पास कराके कॉलेज में ठेल दिया। तुम आज ही किसी गाडी से घर आ जाओ। मुझे आँख का ऑपरेशन

कराने के लिए सीतापुर जाना है। मुझे तो अपने साथ मे तेरी आवश्यकता थी ही। मैं तो इसको प्रभु-प्रदत्त सुअवसर ही मानता हूँ।'

मेरी बात सुनकर राजन बडा खुश हुआ। तडाक् से बोलने लगा, 'बाबूजी, मैं अभी आता हूँ। समय काफी है। तूफान से चलकर अण्डाल पर उतरूँगा।'

मैं निज मे ही इसको लेने के लिए अण्डाल गया।

जब यह ट्रेन से उतरा, तो इसने मुझे प्लेटफार्म पर खडा पाया। दौडकर इसने मेरे धोक दी। असफलता की ग्लानि यह कतई भूल गया, और बडे प्रसन्न चित्त से इसने घर मे प्रवेश किया। फिर तो दोनो भाई मिलकर खेल-कूद में लग गये।

बच्चे प्रसन्न थे। उनकी माँ प्रसन्न थी। खाना-पीना बडे चैन से हो रहा था।

राजन की हिम्मत बँधाने की जगह, यदि इस असफलता के लिए मैंने इसे बुरा-भला कहा होता, तो स्पष्ट है कि इसका दु ख और अधिक बढ जाता, और तब कुछ भी अघटनीय घट सकता था। असफल विद्यार्थियो के साथ घटी हुई घातक दुर्घटनाओ के समाचार हम लोग अक्सर ही अखबारो में पढते रहते है। लेकिन मैं तो अपने बचपन में स्वय इसका भुक्तभोगी रह चुका था। शिक्षा-सम्बन्धी मेरी असफलता के समय मेरे भइया ने भी इसी तरह मेरी हिम्मत बँधाई थी। राजन से फोन पर बात-चीत करते समय मेरे प्रति भाईसाहब के उस व्यवहार ने ही मुझे इस प्रकार की प्रेरणा दी थी। बल्कि सच तो यह है कि फोन पर राजन से मैं नही बोल रहा था, बल्कि मेरे वही भइया बोल रहे थे।

० भाईसाहब का भइया

जब हम लोग आँख का ऑपरेशन कराने सीतापुर गये, तो राजन और विजय भी हमारे साथ थे। मेरे साथ जो व्यक्ति गये हुए थे, उनमें से किसी की हिम्मत डॉ० मेहता के पास जाने की नही होती थी। कारण, व्यवहार मे डॉ० मेहता जरा रुक्ष और कडे थे, वैसे कठोर नही थे। लेकिन जब राजन उनके पास जाता, तो वे बडे मिठास और प्यार से इससे बात करते, और मेरे बारे में जानकारी प्राप्त करने के अलावा इधर-उधर की बातें भी पूछते रहते। यह बडा प्रसन्न चित्त वापस आता। कभी-कभी तो इसके पीछे-पीछे ही डॉक्टर साहब भी चले आते। नर्स, कम्पाउण्डर तथा अन्य सभी कर्मचारी भी इससे बहुत प्रसन्न थे, और इसको बहुत नजदीक से चाहने लगे थे।

ऑपरेशन के बाद हम लोग मई महीने मे देवघर आ गये, और डेढ-दो महीने

भइया के 'भाईसाहब'

श्री विजयकुमार पोद्दार

वही रहे।

मेरे देवघर पहुँचने के थोड़े ही दिन पश्चात् विजयकुमार पोद्दार मुझसे मिलने आया। तीन-चार दिन रहकर जब वह वापस कलकत्ता जाने लगा, तो राजन भी उसके साथ कलकत्ता चला गया। राजन शुरू से ही विजयकुमार को भाईसाहब कहता आया है। इसलिए कभी-कभी आज भी मैं राजन को 'भाईसाहब का भइया' बोलकर पुकार लेता हूँ।

राजन का यह 'भाईसाहब' भाई किशनलालजी का चतुर्थ पुत्र है। यह बचपन से ही मेरी ओर विशेष रूप से आकर्षित था। मुझे भी इससे काफी प्यार था।

यह अध्ययनशील और प्रतिभाशाली बालक था। सीनियर केम्ब्रिज की परीक्षा पास करने के पश्चात् इसने मुझसे अपने भावी जीवन का दिशा-निर्देश चाहा। इसके अग्रजो ने इसको राय दी थी कि यह अपनी शिक्षा जारी रखे, और बी० ए० में एडमीशन ले ले, लेकिन यह अन्तिम रूप से यह निश्चय नही कर पा रहा था कि इसे क्या करना चाहिए। इसलिए उन दिनो यह अपने को काफी खोया-खोया-सा महसूस करता था।

दरअसल, बचपन में एक ऐसे निर्देशक की बहुत आवश्यकता होती है जो बच्चे की रुचि को देखते हुए उसे सही दिशा का ज्ञान करा दे, लेकिन इस तरह का एक सही निर्देशक खोज निकालना आसान काम नही होता।

आखिर इसने मुझसे इस बारे में सम्मति माँगी, तो मैंने पूरे आत्मविश्वास के साथ इसको राय दी, 'देखो, बी० ए० करने में तुम्हें पूरे तीन वर्ष लगेंगे, और तुम्हारी रुचि को देखते हुए मै समझता हूँ कि यह समय का अपव्यय ही होगा। तुम्हारा अपना कोयले का व्यवसाय है· मेरी तो यही सम्मति है कि तुम्हे अभी से अपने व्यवसाय के क्षेत्र में उतर जाना चाहिए, और अनुभव प्राप्त करके अपने इस काम को सँभालना चाहिए।'

जब इसने मेरी इस सम्मति के बारे में अपने पिता किशनलालजी से बात की, और अपना निश्चय उनके सामने प्रकट किया, तो उन्होने इसे सहर्ष अनुमति दे दी, लेकिन साथ-साथ यह भी कहा कि इसे शुरू मे अपने कलकत्ता ऑफिस में ही काम सीखना चाहिए।

इसने फिर मुझसे इस बारे मे बात की, तो मैंने कहा, 'भाईजी का कहना ठीक है। तुम शुरू के ६ मास कलकत्ता ऑफिस में काम करके अनुभव प्राप्त करो, और जितना कुछ भी सीख सको, सीखो। फिर मैं तुमको कोलियरी पर बुला लूँगा। वहाँ तुम्हें इस क्षेत्र का प्रैक्टिकल अनुभव हो जायेगा, और तुम जल्दी ही इसमे

माहिर हो जाओगे।'

तदनुसार यह कलकत्ता ऑफिस में काम करने लगा।

लेकिन वहाँ इसका मन लग नही रहा था, और मैं जब भी कलकत्ता जाता, इसको हताश-सा पाता। इसलिए सितम्बर १९५१ में मैंने इसे अपने पास परासिया कोलियरी में बुला लिया।

वहाँ तुरन्त ही इसका मन लग गया, और यह पूरे मन और लगन से काम सीखने लगा। कुल डेढ-दो साल में ही इसने पर्याप्त व्यावहारिक अनुभव प्राप्त कर लिया।

इसके बाद सन् १९५३ में इसने फिर कलकत्ता ऑफिस में काम शुरू कर दिया। अपने क्षेत्र में यह लगातार प्रगति करता चला गया, और आज यह स्थिति आ गई है कि यह कोल इन्डस्ट्री का कर्णधार बन गया है। इसकी सफलता का राज यह है कि बुद्धिमान और अध्यवसायी होने के साथ-साथ यह वडा गभीर, धैर्यवान और अच्छी स्मरण-शक्तिवाला भी है जो किसी भी सफल व्यवसायी के प्रबल आयुध होते हैं।

यह स्वभाव से ही मधुर, सरल और विनम्र प्रकृति का है, और वक्ता तो इतना कुशल है कि सार्थक और सवल युक्तियो द्वारा अपने विषय का सफलतापूर्वक प्रतिपादन कर सकता है। यही कारण है कि सार्वजनिक क्षेत्र में भी यह जल्दी ही लोकप्रिय हो गया। आज यह कई सार्वजनिक सस्थानो से सम्बन्धित है। जूनियर चेम्बर इन्टरनेशनल का तो यह अध्यक्ष ही रह चुका है, और आज भी उसका प्राण है।

यह अमरीका, इग्लैण्ड, फ्रास, जापान आदि देशो का भ्रमण भी कर चुका है।

इसका सबसे वडा गुण इसका आकर्षक, हँसमुख और प्रभावशाली व्यक्तित्व है जिसके जादू से वचना किसी के लिए भी सम्भव नही है।

राजन के इस 'भाईसाहब' से हमे वडी-वडी आशाएँ है।

० उच्च शिक्षा की ओर

फेल होने के कारण सेण्ट जेवियर्स कॉलेज के प्रिसिपल ने राजन को दुबारा भर्ती नही किया। तब यह विद्यासागर कॉलेज में भर्ती होकर इण्टरमीडियट साइस की फाइनल परीक्षा मे सेकण्ड डिवीजन से पास हुआ।

साइस के लिए इसके मन में कुछ अरुचि आ गई थी, इसलिए अब इसने बी० कॉम० मे एडमीशन ले लिया।

छात्र-जीवन में

श्री राजेन्द्रकुमार गोयनका

मैंने कहा भी था, 'सोच लो, साइंस को छोडकर नया विषय लेना कहाँ तक उचित रहेगा ? भली-भाँति समझकर काम करना। इन्टरमीडियट में तुम्हारा कॉमर्स होता, तो एक बुनियाद पड गयी होती।'

लेकिन इसमें काफी साहस था, और मुझको तसल्ली दिलाते हुए इसने बी० कॉम० का कोर्स ले ही लिया।

बचपन से ही मेरे विशेष सान्निध्य मे रहने के कारण, अपने से बडो से मिलने में यह कभी झिझकता नही था। अभी इसका सोलहवाँ साल ही लगा था, लेकिन तन्दुरुस्ती अच्छी होने के कारण छात्रावास मे अपने से ऊँची कक्षावाले विद्यार्थियों से भी यह बडी घनिष्ठता से ही मिलता-बैठता था।

० खर्च का सही हिसाब

यो तो थर्ड ईयर पास करने के पहले भी यह सिनेमा देखा करता था, लेकिन फोर्थ ईयर में आते-आते सिनेमा देखने का चस्का कुछ ज्यादा हो चला था। खर्च भी पहले से कुछ ज्यादा ही करने लगा था। मेरा अनुमान है, जब यह अपनी मित्र-मडली के साथ कही जाता, तो खर्चा इसी की पॉकेट से होता था। मैंने कलकत्तावालों के द्वारा इसके खर्चे पर नियत्रण करवाना उचित न समझा, क्योकि ऐसा करने से इसके स्वाभिमान पर आघात लगने का भय था। यह मुझको खर्चे का माहवारी हिसाब भेजता, तो खर्चे की सारी कलमें बिना किसी दुराव के लिख देता था। मैं इसकी इस सत्यवादिता से प्रसन्न था।

इस बार मैं कलकत्ता गया, तो मैंने इससे पूछा, 'रुपये तुम ज्यादा उठाने लगे हो। जो हिसाब तुम भेजते हो, वह उतने रुपयो का होता नही। बाकी रुपयों का क्या करते हो ?'

इसने कहा, 'मैं कुछ रुपये जोड रहा हूं। मुझे कपडे बनवाने है।'

मैंने कहा, 'यह तरीका ठीक नही है। माहवारी खर्च के रुपये तुमको अलग लेने चाहिएँ। कपडो के लिए अलग। और फिर, तुम्हे रुपये बचाने की जरूरत भी क्या है ? मेरे पास जो कुछ भी है, वह सब तुम्हारा ही तो है।'

मेरे साथ हुई इस बात-चीत के बाद इसने स्वत ही अपने खर्चे पर नियत्रण कर लिया।

सच बात यह है कि इससे मीठी बातें करनेवाला इसको बहुत प्यारा लगता था। बच्चे में यह ताकत तो होती नही कि वह समझ सके, कि वह तारीफ उसकी नही है, और वह आदमी उसके अनुकूल बात-चीत करके महज अपना उल्लू सीधा करना चाहता है। इसके जमाने का छात्रावास का चपरासी आज भी

इससे फायदा उठा रहा है। उसकी माँग कभी खाली नही जाती।

० बी० कॉम० मे सफलता

जब बी० कॉम० की परीक्षा देने का समय आया, तब एक दिन यह फोन पर मुझसे बोला, 'परीक्षा देने की मेरी इच्छा कम है। तैयारी मैं कर नही सका हूँ। अगले साल बैठ जाऊँगा।'

मैंने समझाया, 'देखो, परीक्षा में तुम इसी साल बैठ जाओ। सफल अवश्य होओगे। अगले साल तुम परीक्षा न दे पाओगे। तुम्हारे कलकत्ता रहने का यह आखिरी मौका है।'

कई पेपर दे चुकने के बाद, यह फोन पर मुझसे बोला, 'मेरा कल का पेपर ठीक नही हुआ है। मैं आज की परीक्षा मे बैठूँ, कि नही ?'

मैंने कहा, 'अवश्य बैठो। सफलता तुम्हें जरूर मिलेगी। मेरा आशीर्वाद खाली नही जा सकता।'

इम्तहान देकर यह कोलियरी आ गया।

उन्ही दिनो इसकी माँ फिर ज्यादा बीमार हो गयी। मई मास में हम उसका इलाज कराने कलकत्ता गये। राजन हमारे साथ था ही।

मई का तीसरा हफ्ता होगा। राजन का परीक्षा-फल निकलनेवाला था। यह मुझसे बोला, 'आज शाम को मेरा परीक्षा-फल निकलेगा। मैं रिजल्ट देखने के लिए कॉलेज जाऊँगा।'

शाम हो गई, लेकिन यह न अपनी माँ के पास नजर आया, न नीचे। मैंने सोचा, शायद कॉलेज चला गया है।

रात्रि के करीब ८ बजे मैं नीचे भोजन कर रहा था, तो इसका मित्र मेडिकल का स्टुडेन्ट जयराम डोकानिया आया, और मेरे धोक लगाई।

मैं जरा चौका कि इसने आज अकारण धोक कैसे लगाई ?

मैंने पूछा, 'कहो, तुमने आज धोक कैसे लगाई ?'

वह बोला, 'खुश-खबरी की धोक लगाई है, बाबूजी! हमारा राजन पास हो गया है।'

मैंने उसकी पीठ थपथपाई, और मैं तुरन्त समझ गया कि राजन परीक्षा-फल देखने के लिए कॉलेज नही गया है, यही कही लुका-छिपा बैठा है। मैंने वही से राजन को आवाज दी, 'राजन, तुम पास हो गये हो!'

लेखक के सुपुत्र

श्री राजेन्द्रकुमार का प्रस्फुटित व्यक्तित्व

यह तीसरे तल्ले पर अपने 'भाईसाहब' के पास बैठा गप्पें लड़ा रहा था। ज्यों-ज्यो यह मेरी आवाज सुनता, त्यो-त्यों सिकुड़ता चला जाता। शायद इसने सोचा होगा कि मैं इसके फेल होने की खबर देने के लिए इसे आवाज लगा रहा हूँ।

तभी दूसरे तल्ले से विश्वनाथजी जोर से बोले, 'राजन, सुनता क्यो नही है ? ये आवाज-पर-आवाज दे रहे है कि तू बी० कॉम० में पास हो गया है।'

तब फिर इसके कहने ही क्या थे। तीन तल्ले से सीधा दौड़ता हुआ पहले तल्ले पर आया, और मेरे धोक लगाकर, फिर सबके धोक लगाता फिरा। उस दिन इसकी पीठ पर कितनी थपकियाँ पडी होगी, यह इसकी पीठ ही जानती होगी।

अपने बेटे की सफलता पर इसको माँ भी बेहद प्रसन्न थी।

० कोलियरी-जीवन का प्रशिक्षण

इसकी माँ के ठीक होने पर जब हम कलकत्ता से वापस कोलियरी पहुँचे, तो मैंने इससे कहा, 'अब मैं तुमको आगे पढाना नही चाहता। तुमको एम० ए० और 'लॉ' कराने के लिए लोग मुझ पर जोर डाल रहे है। मैं तुम्हारी आड़ लेकर अपना पीछा छुड़ाता रहता हूँ, क्योंकि मेरा खयाल है कि अब तुमको दत्तचित्त होकर कोलियरी का काम सीख लेना चाहिए।'

इसने उत्तर दिया, 'मैं खुद भी अब आपके ही पास रहना चाहता हूँ। आपसे और माँ से अलग रहना अब मेरी बर्दाश्त से बाहर हो चला है। मेरा मार्ग निर्दिष्ट कर दीजिये, ताकि मैं उस मार्ग का अनुगामी बन जाऊँ।'

मैंने इसको साउथ परासिया कोलियरी में माइनिंग की ट्रेनिंग देनी शुरू कर दी। यह प्रतिदिन सवेरे सात बजे खान मे प्रविष्ट होता, और कभी दो बजे, तो कभी तीन बजे, बल्कि कभी-कभी पाँच बजे, काला भूत बनकर वापस निकलता।

इसकी यह हालत देखकर इसकी माँ तिलमिला जाती, तो मैं उसे खुश करने के हेतु इसको दिखावटी रूप में कुछ कह-सुन देता।

फिर यह नहा-धोकर, कपड़े बदलकर, भोजन करके, अपनी माँ के साथ चुलबुली करने में लग जाता।

उन दिनो विजय भी स्कूल की छुट्टियों में राँची से आया हुआ था। वह भी शामिल हो जाता।

बाई भगवती तब मेरे बगल के ही मकान में रहती थी। उस समय तक साउथ

परासिया में उसके लिए बँगला तैयार नही हो पाया था। वह भी आकर इनमें शामिल हो जाती।

दो-तीन घण्टे इस प्रकार व्यतीत करके, रात में यह फिर मेरे पास आकर बैठ जाता। मैं इससे इंगलिश का पेपर पढवाता, और जहाँ यह न समझ पाता, इसको समझा देता। पेपर का सम्पादकीय मैं इससे अवश्य पढवाता।

इस प्रकार इसका माइनिंग-प्रशिक्षण करीब दो साल तक चलता रहा। मैं इसको नक्शो की स्टडी और सर्वेयिंग के अन्दर भी प्रशिक्षण देता रहता। माइन्स के रूल्स एण्ड रेगुलेशस भी बताता रहता। जब कभी कोई नया काम शुरू होता, तो मैं इसको अपने साथ रखता, और कहाँ और क्यो इन्क्लाइन खोदनी चाहिए, क्यो पिट खोदने चाहिएँ, कब क्वारी खोदनी चाहिए आदि सब बातें इसे गहराई से समझाता। ग्रहण-शक्ति इसकी बचपन से ही तेज थी, इसलिए इसको समझने में देर न लगती।

सन् १९५६ की जुलाई में हमको दोनो कोलियरियो में बिजली लानी थी, और बिजली के सब-स्टेशन बनाने तथा बिजली के ट्रासफॉर्मर, स्विचेज, पम्प्स, कोल-कटिंग मशीन आदि बैठाने थे। काम दिन-रात चल रहा था। इसको साथ रखकर मैंने इसके हाथ से यह सारा काम कराया। मैनेजर, इजीनियर तो अपना-अपना काम करते ही थे, लेकिन यह एक क्षण भी उनके पास से अलग नही होता था।

जब कोल-कटिन मशीन चालू हो गई, तो इसने करीब ६ महीने इस पर मुतवातिर काम किया। जब मुझको पूर्ण विश्वास हो गया कि यह माइनिंग-टेक्नीक अच्छी तरह समझ चुका है, तब मैंने इसको खान के अन्दर जाने से रोक दिया।

० सगाई

एक लडकी के बारे में भाई किशनलालजी की चिट्ठी आई। मेरी सारी ही चिट्ठियाँ—क्या घर की, क्या ऑफिस की—राजन को भी पढनी पडती थी। भाई किशनलालजी की चिट्ठी पढकर यह कुछ डर गया कि कही किसी के दबाव में आकर मैं इसकी इच्छा के विरुद्ध किसी लडकी को इसके गले न बाँध डालूँ।

इसने अपनी माँ से जाकर कहा, 'मैं अभी विवाह करने को तैयार नहीं हूँ।'

मैंने इसको बुलाया, और कहा, 'देखो, मैं कोई भी सम्बन्ध तुम्हारी मर्जी के खिलाफ नही करूँगा। लडकी को पहले मैं देखूँगा। बिना किसी बाहरी दबाव के यदि लडकी मुझे पसन्द आ गयी, तो तुमको दिखाऊँगा। यदि लडकी तुम्हें

पसन्द आ जायेगी, और तुम्हारी इच्छा होगी, तभी उससे सम्बन्ध किया जायेगा। तुमको किसी प्रकार का भय करने की जरूरत नहीं है। मैं आशा करता हूँ, मेरे चुनाव पर तुमको भरोसा होगा।'

इसने मुस्कुराहट के माध्यम से अपनी मूक स्वीकृति दे दी।

भाई मोहनलाल गोयनका के मार्फत भी एक लड़की की बात आई। वह लडकी उनके चचिया ससुर की बेटी थी। मैट्रिक्युलेशन में पढ़ती थी। लड़की के पिता राजन को देखने के लिए आये। यह उनको बहुत भाया। शादी और मुकलावे तक एक लाख रुपये लगाने की बात कह गये।

राजन से किये अपने वायदे के अनुसार मैंने लड़की के पिताजी के सामने शर्त पेश कर दी थी कि कृपया पहले लड़की का फोटो भेज दें, तथा लड़की को देखने के लिए लड़का भी साथ जायेगा। लड़की उसके पसन्द आने पर ही सम्बन्ध हो सकेगा।

लड़की का फोटो यथासमय हमें मिल गया। फोटो देखकर लड़की हम लोगों को पसन्द आ गई, और हमको आशा बँध गई कि राजन को भी पसन्द आ जायेगी, लेकिन राजन को फोटो पसन्द नहीं आया। यह अपनी माँ के सामने कुछ भुनभुनाता रहा। भाई मोहनलालजी का मेरे ऊपर कितना प्रभाव है, यह भली-भाँति जानता था।

यह कुछ आशंकित हो चला। मैं भी असमंजस में पड़ गया।

लेकिन घटनाएँ किस प्रकार घट जाती हैं, मनुष्य की बुद्धि काम नहीं कर पाती।

हुआ ऐसा कि इन्हीं दिनों मेरा भतीजा प्रेमचन्द्र गोयनका अपनी पत्नी सहित एक दिन कोलियरी पर आया। आते ही वह बोला, 'बीमारी की वजह से चाचीजी मेरी शादी में शामिल नहीं हो सकीं, और शादी के बाद मेरा इधर आना हुआ नहीं। सो मैंने विनोद (उसकी स्त्री) से कहा कि, तुमने हमारे अन्य सब घरवालों को तो देख ही लिया है, चलो, अपनी एक और चाची से भी तुम्हें मिला लाऊँ।'

ये लोग तीन-चार दिन हमारे यहाँ रहे।

इधर मेरी स्त्री राजन के लिए एक योग्य पात्री के लिए बड़ी चिन्तित रहने लगी थी। कारण, भाई मोहनलाल गोयनका की साली का फोटो राजन को पसन्द नहीं आया था।

स्त्रियाँ आपस में विवाह-शादी की चर्चा करने की अभ्यस्त होती ही है।

एक दिन मेरी लडकी भगवती ने अपनी चप्पल मँगवाने के लिए दाई को आवाज दी। दाई का प्रत्युत्तर न मिलने पर विनोद उठी और भगवती की चप्पलें लाकर उसके सामने रख दी।

मेरी लडकी ने इसका जरा विरोध-सा किया, तो विनोद बोली, 'बाईजी, आप मेरी पूज्य है। इस प्रकार की सेवा करने का मौका तो सौभाग्य से ही मिलता है।'

विनोद की इस विनयशीलता के ऊपर मेरी लडकी एव पत्नी मुग्ध हो गईं, और कहने लगी, 'तेरे जैसी वहू हमारे राजन के लिए मिल जाए, तो हम निहाल हो जाएँ।'

विनोद वोली, 'चाचीजी, यह क्या वडी बात है। मेरी एक अनुजा है। वह मेधावी छात्रा है और इसी साल उसने मैट्रिक का इम्तहान दिया है। सुशील एवं सुन्दर भी है। अगर आपकी आज्ञा हो, तो मैं उसका फोटो मँगवाकर आपके पास भेज दूँ। फोटो आप लोगो के पसन्द आने पर मैं अपने पिताजी को लिख दूँगी, और वे मीरा को कलकत्ता लाकर आप लोगो को दिखा देंगे। उनको तो सगाई करनी ही है, और वे एक योग्य पात्र की खोज में भी है। अगर यह सम्बन्ध हो जाये, तो सोने मे सुगध हो जायेगी।'

उनके चले जाने के बाद मेरी स्त्री ने सारी बात मुझसे कह सुनाई।

मैंने कहा, 'बाई भगवती एव शकरप्रसादजी से भी सलाह कर लेनी चाहिए। कारण, ये यू० पी० के अग्रवाल है, मारवाडी नही है। अगर लडकी हम लोगो को पसन्द आ गई, और मेरी जवान छूट गई, तो फिर वापस फिरेगी नही। मैं इतना अवश्य कह सकता हूँ कि इनका कुल बहुत अच्छा है। घराना शिक्षित है। बहुत अच्छे ठिकाने के है। लडकी के दादा वकील थे। पिता, चाचा, और ताऊ सब एम० ए० है। लडकी के चाचा श्रीमन्नारायणजी काग्रेस के सेक्रेटरी है। ख्यातिप्राप्त है। इनकी शादी महात्मा गाँधी की प्रेरणा से जमनालालजी बजाज की लडकी से हुई थी। लडकी के पिता मोतीहारी शुगर मिल के जनरल मैनेजर है। लडकी की माता एम० ए० है, शादी के पश्चात् गार्हस्थ-जीवन यापन करते हुए ही उन्होने इन्टरमीडियट, बी० ए० और एम० ए० किया है। (आगे चलकर, सन् १९५७ मे, वे बिहार की विधान सभा की सदस्या भी चुन ली गई थी।) इस प्रकार घराना तो इन लोगो का उच्च कोटि का है ही। लडकी निश्चय ही सुशील और सुसंस्कृत होगी। तुम लोग आपस मे विचार-विमर्श करके अगर तुम मुझसे कहोगी, तो शाहजी को एक चिट्ठी मैं लिख दूँगा, और एक प्रेम से दिलवा दूँगा।'

मेरी पत्नी ने उत्तर दिया, 'लडकी के कुल को तो प्रधानतया दृष्टिगत रखना ही होगा, लेकिन लड़की के व्यक्तिगत गुणों पर भी बहुत कुछ निर्भर करता है। मुझे तो वह लडकी चाहिए, जो मेरे कुल की श्री बन सके।'

दूसरे ही दिन मेरी स्त्री ने सब की ओर से, और अपनी ओर से भी, मुझे पत्र लिखने की स्वीकृति दे दी।

तदनुसार मैंने शाहजी को चिट्ठी लिख दी, जिसमें लडकी का फोटो भेजने के लिए भी लिख दिया। फोटो वापसी डाक से ही आ गया।

फोटो सबको पसन्द आया। लडका भी उस पर मुग्ध था। पहले से ही विनोद और राजन में खूब पटती थी। वह ठहरी भाभी, यह ठहरा देवर। प्रेम भी इनकी तरफ बचपन से ही आकृष्ट था।

सबने आगे बढने के लिए मुझे अनुमति दे दी। लडकी को पन्द्रहवाँ साल चल रहा था। मैंने फोन पर प्रेम से लडकी को बुलवाने के लिए कह दिया। उसने तुरन्त मोतीहारी फोन कर दिया।

शाहजी मीरा के साथ अप्रैल की २८ या २९ तारीख को कलकत्ता पहुँच गये। लडकी प्रेम के यहाँ उतर गई।

मैं और राजन भी यथासमय कलकत्ता पहुँच गये, और सदा की तरह भाई किशनलालजी के यहाँ ठहर गये।

दूसरे दिन शाहजी मुझसे मिलने के लिए आये। मैंने उनको प्रेम की शादी में देखा था, लेकिन उन दिनो मेरी आँखो में मोतियाबिन्द होने के कारण उनकी आकृति मेरे मस्तिष्क में समा न सकी थी। वे बहुत धीमे स्वर में बोलते थे। बोली में मिठास थी। शक्ल से सौजन्य टपकता था। सुन्दर तो थे ही।

उन्होने लडका देखा। लडका उन्हे पसन्द आ गया। वे लडकी को देखने के लिए हमें आमन्त्रित करके चले गये। लडकी को देखने के लिए मध्याह्न का समय निश्चित हुआ।

यथासमय मैं, भाई किशनलालजी और विश्वनाथजी लडकी को देखने के लिए चले।

मेरी ऐसी धारणा है कि लडकी हो या लडका, जब हम उसको देखने के लिए जायें, और वह हमारे समक्ष आये, तो उस समय यदि कुछ प्रकाश-सा प्रतीत होने लगे और मन के अन्दर स्थान पा जाये, तो वह पात्र सुयोग्य ही निकलेगा, और सम्बन्ध होकर रहेगा।

मेरे अग्रज अशर्फीलालजी और हम तीनो जने बैठक मे बैठे हुए थे—शाहजी भी वहीं थे।

मीरा को साथ लेकर ऊपर से प्रेम आया, और उसको हमारे सामने कुर्सी पर बैठा दिया।

लडकी के चेहरे पर मुझे अपेक्षित आभा दिखाई दी, और पहली ही दृष्टि में वह मुझे भाने लगी। मैंने उससे इतिहास एव भूगोल के प्रश्न किये। वह बिना झिझक के उत्तर देती चली गयी। अँग्रेजी की एक पुस्तक से कुछ पढने के लिए कहा। उस पैराग्राफ को पहले उसने मन-ही-मन पढ लिया, फिर सपाटे से हमारे सामने पढ दिया।

अचानक मैंने पूछा, 'बीकानेर कहाँ है ?'

लडकी बता नही सकी।

मेरे मुँह से अनायास ही निकल गया, 'यह वही स्थान है, जहाँ तुम जा रही हो।'

मैं अवाक् था। सोचने लगा, यह मैंने क्या कह दिया ? मुझे ऐसा लगा कि यह प्रकृति की वाणी थी जो मेरे द्वारा मुखरित हो गई। मुझे विश्वास हो गया कि अब यह सम्बन्ध होकर ही रहेगा।

मैं अभी तक लडकी की दायी तरफ बैठा हुआ था। अब मैं उठकर उसके बायें बगल जाकर बैठ गया—उसको कुछ और निकट से देखने के लिए।

इसके बाद लडकी ऊपर भेज दी गई।

मैंने घर आकर राजन को वहाँ भेज दिया, और उससे कह दिया, 'लडकी मुझे तो पसन्द है। यदि तुम्हें भी पसन्द आ जाये, तो मैं अपना वचन दे दूँगा।'

करीब दो घटे पश्चात् राजन लौट आया। उसने भी अपनी स्वीकृति दे दी।

मैंने कहा, 'मुझे एक लडकी और देखनी है। उसके पिता एक लाख रुपये लगाने को तैयार है। कम-से-कम लडकी को एक बार देखना आवश्यक है।'

राजन बोला, 'अब किसी और लडकी को देखने की आवश्यकता नहीं है, क्योकि जहाँ तक दहेज का सवाल है, आपको याद होगा ही कि आपकी आज्ञानुसार मैंने मारवाडी सम्मेलन (जो आसनसोल में दिसम्बर १६५५ में हुआ था) के प्लैटफॉर्म से दहेज न लेने की घोषणा की थी, और मैं अपने उस वचन से बद्ध हूँ। सो धन का प्रलोभन तो अपने सामने कोई मायने रखता नही है। रही लडकी की बात, सो यह लडकी मुझे पसन्द है। अब मैं दूसरी लडकी नहीं देखूँगा।'

मैंने कहा, 'कम-से-कम लडकी देखने में तो तुम्हें कोई आपत्ति नही होनी चाहिए।'

वह मौन रहा।

तब मैं पूछ बैठा, 'क्या मीरा की तरफ से तुम्हें कुछ रेसीप्रोकेशन मिला था ?'

राजन बोला, 'जी हाँ ।'

मैंने पूछा, 'वह क्या था ?'

राजन ने उत्तर दिया, 'मैंने उससे पूछा था, क्या तुम्हारी आगे पढने की इच्छा है ? तो उसने उत्तर दिया था, अगर आपकी इच्छा होगी तो ।'

मैंने कहा, 'ठीक है, अब दूसरी जगह बात चलाने का प्रश्न ही नही उठता, क्योकि इस लडकी ने भी तुमको अगीकार कर लिया है । लडकी यदि किसी लडके को अगीकार कर ले, तो उसको भग कर देना मेरी दृष्टि मे अनाचार ही है ।'

फिर मैंने भाई किशनलालजी से कह दिया, 'लडकी राजन को पसन्द है । अब यह सम्बन्ध कर ही लेना होगा । मैं भोजन करने के बाद राजन को लेकर चला जाऊँगा, और शाहजी को अपनी स्वीकृति दे दूँगा । लडकी तो आपको भी पसन्द आ ही गई थी ।'

इसके बाद हम दोनो प्रेम के घर जाकर शाहजी से मिले, और शाहजी को मैंने अपनी स्वीकृति दे दी, लेकिन साथ ही यह शर्त्त रख दी कि एक बार उनको, लडकी को, एव प्रेम और विनोद को हमारे साथ परासिया चलना होगा, ताकि बाई भगवती, शकरप्रसादजी एव राजन की माँ भी लडकी को देख लें, और वही दोनो तरफ के दस्तूर भी हो जायें ।'

हम दूसरे दिन कोलियरी चले गये ।

लडकी को देखकर सब मुग्ध थे, प्रसन्न थे, प्रफुल्लित थे । लडकी के गले में कुछ पहना दिया गया, और नई साडी भी पहना दी गई । शाहजी ने मुझे एव शकरप्रसादजी को मिलनी दे दी, और लडके के हाथ में गिन्नियाँ ।

फिर वे दोनो जने उसी रात को मोतीहारी रवाना हो गये ।

० विवाह · बरात का स्वागत-सत्कार

यथासमय लडकी का परीक्षा-फल भी निकल आया । वह मैट्रिक्युलेशन में सेकण्ड डिवीजन से पास हो गयी, और आगे पढने के लिए उसके माता-पिता ने उसे बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी भेज दिया ।

इसी दरमियान हमारी तरफ से एव उनकी तरफ से रस्मो-रिवाज भी अदा होते चले गये, और आपस में पत्र-व्यवहार के द्वारा विवाह की तारीख १२ दिसम्बर, १९५६ निश्चित हो गयी । विवाह बरात का होगा, यह भी निश्चय हो गया ।

कार्यवश सितम्बर मास में मुझे बगलोर जाना पडा । विवाह का समय

नजदीक चला आ रहा था। मेरी स्त्री छटपटा रही थी। कारण, विवाह की तैयारी अभी शुरू भी नही की गयी थी। उसका पत्र पाने पर मैं अक्टूबर मास के शुरू मे लौट आया।

दीप-मालिका के बाद हम दोनो कलकत्ता गये। भाई किशनलालजी की सलाह के अनुसार सारा प्रोग्राम बनाकर तीन-चार दिन बाद हमलोग वापस कोलियरी आ गये।

मेरी दोनो लडकियो की तरह राजन का विवाह भी भाई किशनलालजी के हाथो से ही सम्पन्न होना था, क्योकि विवाह-शादी के मामले में मैं तो कोरा था—अनुभव-शून्य, लेकिन मेरा दूसरा अग परिपुष्ट था, इसलिए मुझे चिन्ता किसी बात की नही थी।

भाई किशनलालजी पहली दिसम्बर को कोलियरी आ गये, और विवाह की सारी कार्यवाही का प्रोग्राम तय करके दो दिन के लिए कलकत्ता चले गये।

मैं तो पहले से ही बेफिक्र था, अब और भी निश्चिन्त हो गया। मेरी स्त्री विवाह की चिन्ता के भार से अब तक जो दबी हुई थी, वह भी अब हल्कापन महसूस करने लगी।

भाई किशनलालजी ६ दिसम्बर को फिर आ गये, और इस बार आकर डट ही तो गये।

विवाह के नेग-चार शुरू हो गये। यथासमय राजन और उसके अनुज विजय का उपवीत-संस्कार करा दिया गया।

८ तारीख के दिन मेल का भोजन भी सानन्द सम्पन्न हो गया।

इस अवसर पर आये हुए थे सम्माननीय गुरुप्रतापजी, भाई चम्पालालजी, हमारे प्रिय विश्वनाथजी, विजयकुमार और विनयकुमार। इधर परिवार के सदस्यो मे से आये हुए थे मेरे अग्रज अशर्फीलालजी, मानक, हरिश्चन्द्र, बृजलाल इत्यादि-इत्यादि। बाई मिथिलेश और मेरे छोटे दामाद महावीरप्रसादजी एव उनका पुत्र नरेन्द्र भी यथासमय आ गये थे।

१० दिसम्बर को रात्रि के समय हमारी बरात मोतीहारी के लिए प्रस्थान कर गई।

बरात मुख्यत तीन वर्गों में विभाजित थी—गोयनका-वर्ग, पोद्दार-वर्ग और छावछरिया-वर्ग। मेरे बडे दामाद शकरप्रसादजी के चाचा, भाई, भतीजे आदि सभी ने आकर मेरे आनन्द को बढाया था।

हम दूसरे दिन पटना पहुँचे। यहाँ बरात के रहने तथा खाने-पीने का बढिया प्रबन्ध था। मेरे भतीजे प्रकाश की ससुराल पटना में ही है। उसके

ससुर ने हमारी बडी खातिरदारी की, और पटना से आगे बढते समय हमारे साथ एक बडी मिकदार मे फलो के टोकरे दे दिये, और हमको जहाज पर चढाकर ही वापस लौटे।

मुझे यहाँ यह बता देना अति आवश्यक प्रतीत होता है कि सारे बराती भाई किशनलालजी की स्वर-तन्त्री मे बँधे हुए थे। जैसे ये नचाते, वैसे वे नाचते। हर्षोल्लास इतना कि जिसका वर्णन नही किया जा सकता। आज भी जो बराती हमसे मिलता है, वह यही कहता है कि जो मजा राजन के विवाह में आया, वह फिर कभी नही आया।

जहाज से जब हमलोग प्लाजा उतरे, तो कुलियो की कुछ कमी महसूस होने लगी। मैं बडा परेशान था। मुझे चिन्ता यह थी कि ये धनी-मानी व्यक्ति मेरे कहने से बरात में आ तो गये है, लेकिन अगर अब इनको किसी तरह की तकलीफ हो गयी, तो मजा किरकिरा हो जायेगा।

तभी भाई किशनलालजी ने मेरा हाथ पकडा और मुझे खीचते हुए-से बोले, 'चलो, हम लोग तो आगे बढें। चिन्ता की कोई बात नही। ये बच्चे सब अपने-आप ठीक कर लेंगे।'

सामान कुलियो के सिर पर आ ही रहा था कि तभी मैं क्या देखता हूं कि हमारे प्रिय विश्वनाथजी बगल में एक सूटकेस दबाये हुए ऐसी सर्दी में भी पसीने मे तर-ब-तर चले आ रहे है।

मैंने कहा, 'ठीक है विश्वनाथजी, राजन की बरात आपको याद रहेगी।'

उन्होने हँसते हुए उत्तर दिया, 'यही तो मजा है। लेकिन आप बाहर क्यो खडे है? अन्दर बैठिये।'

थोडी देर पश्चात् गाडी रवाना हो गई।

इस बार हम हाजीपुर उतरे, और स्टेशन पर खाना-पीना करके, मोटरो द्वारा शाम की बेला मे मोतीहारी पहुँच गये।

बरात के ठहरने का इन्तजाम बडा माकूल था। उसी अन्दाज का खाना-पीना भी था। खा-पीकर बराती सो गये।

दूसरे दिन भोर में ही टी-बेड से बरात की खातिरदारी शुरू हो गयी। फिर तो हर घटे खातिरदारी-पर-खातिरदारी हो रही थी।

मैं और भाई किशनलालजी बरातियो की हलचल का आनन्द ले रहे थे।

अपराह्न में विवाह-सम्बन्धी कुछ औपचारिकताओ का निर्वाह करने के बाद बरात विजय-घोष के साथ लडकी के घर के लिए प्रस्थान कर गयी। उनका घर नजदीक ही था। वर घोडी पर चढा हुआ था। सारी फैक्टरी के ।व

शहर के लोग बरात एव वर को देखने के लिए जुटे हुए थे, और मुक्त-कण्ठ से बरातियो की सराहना कर रहे थे।

वर-माला का शुभकार्य सम्पन्न होने के पश्चात् वर विवाह-मण्डप में चला गया, और बराती कलेवा उडाने में मशगूल हो गये।

अब तक रात्रि का समय हो चुका था। विवाह-सस्कार चालू हो गये। कन्या आकर वर के बगल में बैठ गयी। कन्या-दान एवं पाणि-ग्रहण संस्कार सानन्द सम्पन्न हुआ।

हमारे विजयकुमार पोद्दार कैमरे के द्वारा रील-की-रील फोटो खीचे जा रहे थे, और वर एव वधू के फोटो अनेक कोणो से उतारने में व्यस्त थे।

मैं वर और वधू के सामने ही बैठा हुआ था। हठात् क्या देखता हूँ कि दोनो की सौम्य आकृतियो से ज्योति की भव्य किरणें-सी प्रस्फुटित हो रही है, फिर वे किरणें आपस में मिलकर एक ज्योति-शिखा सी बन गई, और वधू के ललाट के ऊपर के केशो में जाकर विलीन हो गई।

विवाह-सस्कार सानन्द सम्पन्न हुआ।

० सिन्दूर की माँग दुर्गा के खड्ग का प्रतीक

विवाह के दूसरे दिन हमारे यहाँ वधू की सिर-गूँथी होती है, तत्पश्चात् वर के द्वारा सिन्दूर से वधू की माँग भरी जाती है।

जब माँग भरी जा रही थी, तो मैं वही खडा हुआ था। गत रात्रि का वह भव्य दृश्य फिर मेरे सामने आ गया, और मुझे ऐसा प्रतीत होने लगा कि यह सिन्दूर की माँग उसी भव्य ज्योति-शिखा का चिह्न-मात्र है।

सिन्दूर की यह माँग स्त्री के केवल सौभाग्यवती होने का ही सकेत नही है, बल्कि यह दैवी-शक्ति से सम्पन्न वह ज्योति-शिखा है, जो स्त्री के सतीत्व को रक्षार्थ सदा-सर्वदा सतर्क रहती है, जागरूक रहती है। यह दुर्गा के खड्ग का प्रतीक है। आज-कल पाश्चात्य देशो की चुलबुली सभ्यता के प्रभाव में आकर स्त्रियाँ इसको सूक्ष्म रूप देते-देते एक छोटे-से बिन्दु के आकार मे ले आई है, और समझ बैठी है कि उनके मुख-मण्डल की शोभा के सवर्द्धन मे यह भी एक छोटा-सा उपकरण मात्र ही है। लेकिन मैं अपनी प्यारी बेटियो से आग्रह सहित कहूँगा कि वे इस माँग की तात्विकता को भली-भाँति हृदयगम कर निरन्तर शक्ति का अनुभव करती रहें।

सिन्दूर की माँग के बारे में ऊपर जो कुछ लिखा गया है, वह सिर्फ कल्पना के ऊपर आधारित नही है, और न यही बात है कि भाल के ऊपर सिन्दूर की
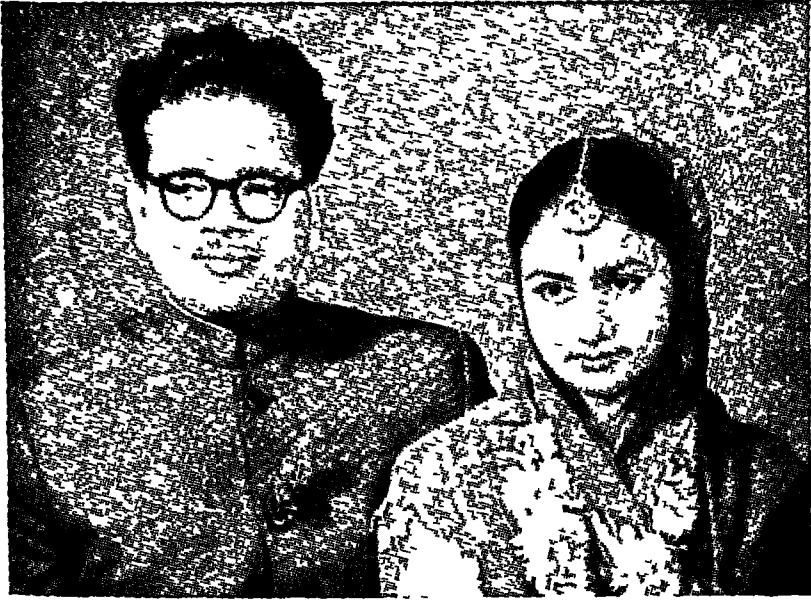
नव-दम्पति

श्री राजेन्द्रकुमार और सौ० मीरा

बिन्दी लगाने से देखने में अच्छा लगने लगता है।

हमारे सामाजिक एव व्यक्तिगत रस्मो-रिवाज में एक बडा वैज्ञानिक तथ्य है, जिसको आज हम भूलते चले जा रहे हैं। उदाहरणार्थ, आयुर्वेदिक सिद्धान्त के अनुसार सिन्दूर (वरमीलियन) में प्रकाश की ओजस्विनी शक्ति को अपने अन्दर खपाने की बडी सामर्थ्य होती है। सिन्दूर की यह बिन्दी अथवा माँग उस स्थान पर लगाई जाती है, जो इडा और पिंगला नाडियो का संगम-स्थल है, और आज्ञाचक्र भी इसी सगम पर स्थित है। जब सिन्दूर का विन्दु भाल के मध्य भाग में लगा दिया जाता है, तो यह विन्दु उस 'फोकल लेन्स' का काम करता है, जो विकेन्द्रित किरणों को अपने में केन्द्रित कर लेता है। प्रकाश की यह ओजस्विनी शक्ति जब हमारे अन्दर प्रवेश कर जाती है, तो हम एक स्फूर्तिमान शक्ति का अनुभव करते है, और वह शक्ति हमारे मुख-मण्डल पर भी प्रस्फुटित हुए बिना नही रहती। जब तक सिन्दूर का विन्दु आपके भाल पर अंकित रहता है, आप देखेंगी कि तब तक आपका मुख-मण्डल प्रसन्न और प्रकाशमान नजर आता रहेगा, और आपके प्रति किसी भी व्यक्ति की दुष्ट भावनाओ का उद्भव होना सहज नही होगा। इसीलिए हमने सिन्दूर की माँग को दुर्गा के खग की उपमा दी है।

यह सिन्दूर पारा और गन्धक के मिश्रीकरण से बना हुआ पाया जाता है, जिसको अँग्रेजी में मरक्युरिक सलफाइड कहते है। पारे मे सोने को अपने अन्दर जज्ब करने की अद्भुत सामर्थ्य होती है। कहते है, यही पारा और सोना साथ मिलाकर रख दिया जाय, तो पारा सोने को खा जाता है, यानी सोना खत्म हो जाता है, लेकिन पारे का वजन सोने के अनुपात में बढता नही है। यही प्रक्रिया सिन्दूर में काम करती रहती है, यानी सिन्दूर प्रकाश की ओजस्विनी शक्ति को अपने अन्दर पीकर अपने भक्त को ओजस्वी बना देता है।

वैसे तो सिन्दूर का मस्तिष्क पर लगाना नितान्त धर्म-निरपेक्ष है, लेकिन किसी महत्वपूर्ण बात को धर्म का रूप देने से वह जाति के जीवन मे समा जाती है, इसीलिए हमारे पूर्व-पुरुषो ने सिन्दूर को धर्म का रूप देने की बुद्धिमानी की।

कुमकुम भी वही काम करती है जो कि सिन्दूर। यही कारण है कि हमारे बन्धु-बान्धव जब घर से विदा होते है, तो उनके भाल पर रोली का टीका अंकित करके ही हम उनको विदाई देते है। इसके अन्तर्गत यही भावना निहित रहती है कि तुम एक महान् शक्ति को लेकर हमसे विदा हो रहे हो।

० बरात की विदाई

सायकाल को मिल के बगीचे मे एक शानदार टी-पार्टी हुई। वर-वधू भी

मौजूद थे। नाम टी-पार्टी का था, लेकिन दरअसल थी वह चाट-पार्टी। बराती लोग चाट को चटाचट उड़ाते चले जा रहे थे, और साथ-साथ आपस में बतियाते भी जा रहे थे, 'अरे, जिह्वा पर जरा सयम रखो, हाथ को काबू में रखो, नही तो सज्जनगोठ का मजा ही जाता रहेगा।'

कोई-कोई मजाक भी कर बैठता और कह उठता, 'शाहजी बडे होशियार है! सज्जनगोठ में मिठाई बचाने के लिए यह चाट का आयोजन कर दिया है। पेट एक है, और खाने दो। एक चाट, दूसरी सज्जनगोठ।'

इस प्रकार आनन्दोल्लास का वातावरण बना हुआ था, और दोनो तरफ के शाहजो लोग आनन्द-विभोर थे। वधू अवश्य गौरवान्वित महसूस कर रही होगी कि बराती लोग उसके पिता के आदर-सत्कार की इतनी उमग और प्रसन्नता से सराहना कर रहे है।

रात्रि में करीब ६ बजे बराती सज्जनगोठ जीमने बैठे। सज्जनगोठ की सामग्री बडी रसभरी थी। बराती लोग उसका भी पूरे स्वाद से उपभोग कर रहे थे।

सज्जनगोठ की समाप्ति के पश्चात् वधू के घरवाले जीमे होगे। फिर वधू की विदाई की तैयारी होने लगी।

हम वधू को लेकर अपने डेरे पर करीब ४ बजे सुबह पहुँचे होगे। वधू को एक अलग कमरे में सुला दिया गया। बच्ची रात भर की जगी हुई थी, इसलिए तुरन्त सो गयी।

मैं बिना किसी खास कारण के एक बार यो ही कमरे के बाहर आया, तो क्या देखता हूँ कि राजन इधर-उधर चक्कर लगा रहा है। मैंने इसको पास बुलाया और पूछा, 'तेरे इरादे क्या है? अपने साले-सालियो से मिलने के लिए आतुर हो रहा है क्या?'

गर्दन नीचे की ओर झुकाये यह मूक था।

तब मैंने कहा, 'अच्छा जा, चला जा। लेकिन आना जल्दी। अगर बरातियो के जगने के पश्चात् तू लौटता हुआ पकडाई मे आ गया, तो तेरी बडी हँसी होगी।'

बस, इतना सुनना था कि यह दौडता हुआ नजर आया, और वहाँ जाकर उन लोगो में इस तरह से घुल-मिल गया, मानो कोई बहुत पुराना आत्मीय हो।

इधर सूर्योदय के तुरन्त पश्चात् लोग जाग उठे। बरात के प्रस्थान करने का समय हो चला। राजन के लिए चारो तरफ पुकार मची हुई थी। किसी-किसी को टोह भी लग गई थी कि यह अपनी ससुराल गया हुआ है।

भाई मोहनलाल गोयनका मेरे पास आये, और बोले, 'यह भी कोई काम की बात है ? राजन का पता नहीं, और बरात रवाना होने को तैयार है ।'

मुस्कुराते हुए मैंने कहा, 'आज-कल के बच्चे हैं ! इधर-उधर चला गया होगा ।'

फिर मैंने विजय को बुलाया और कहा, 'जाओ, और राजा को खोज-खाजकर पकड़ लाओ ।'

वह भी मुस्कुराता हुआ चुपके से चल दिया, और रास्ते में ही दोनों की भेंट हो गयी ।

राजन को देखते ही बरात में छाये हुए उसके साथी उसके ऊपर टूट ही तो पड़े, और विनोद की लहर प्रवाहित हो चली ।

हम मोटरों द्वारा मुजफ्फरपुर पहुँचे, और वहाँ से ट्रेन पर चले । वर-वधू, विजय एवं छोटे बच्चे एक अलग कम्पार्टमेंट में बैठा दिये गये ।

हँसते-कराते शाम को पहलेजा पहुँचे । वहाँ से जहाज पर चढ़कर पटना पहुँचे और हिन्दू होटल में जाकर विश्राम एवं भोजनादि किया ।

तत्पश्चात् हमलोग स्टेशन पहुँचे । हमारी रिजर्व बोगियाँ तब तक प्लेटफॉर्म पर लग चुकी थीं ।

अब राजन ने मेरे इर्द-गिर्द चक्कर लगाना शुरू कर दिया । उसकी भाव-भंगिमा देखकर मैं उसके मन की बात समझ गया । उसके कंधे पर हाथ रखकर मैंने कहा, 'क्यों बेटे, तुम्हें एयर कंडीशंड कूपे चाहिए ?'

उसने उत्तर अपनी मौन मुस्कुराहट से ही दिया ।

यह बात मैंने भाई किशनलालजी के पास पहुँचा दी । उन्होंने झट् एक एयर कंडीशंड कूपे का इन्तजाम कर दिया ।

तब तक सब बराती गाड़ी में यथास्थान बैठ गये थे ।

मैं और भाई किशनलालजी अभी प्लेटफॉर्म पर ही खड़े थे कि भाईजी ने कहा, 'विवाह बड़े आनन्द से सम्पन्न हो गया । सारे बराती प्रसन्न रहे । शाहजी लोग भी बड़े प्रसन्न थे । उनको किसी तरह की भी कोई परेशानी नहीं उठानी पड़ी जब कि अक्सर बरात में कोई-न-कोई बराती उपद्रव कर ही बैठता है ।'

मैंने उत्तर दिया, 'भाईजी, सारे बराती आपके प्रेम-पाश में जो बँधे हुए थे । कोई टस-से-मस हो ही कैसे सकता था । जहाँ स्वयं आनन्द-मूर्त्ति विराजमान हो, वहाँ आनन्द की वर्षा के सिवा और हो ही क्या सकता था ?'

इस प्रकार विनोद-वार्त्ता करते हुए हमलोग भी ट्रेन में बैठ गये, और गाडी यथासमय रवाना हो गयी।

बरातियो ने अपने-अपने डिब्बो में यथास्थान बिस्तर बिछाकर लम्बी तान ली।

मैं और मेरे अग्रज अशर्फीलालजी एक ही डिब्बे में बैठे हुए थे। बातचीत के दौरान उन्होने कहा, 'निरजन, कहो, शादी में मजा तो आया न ? शाहजी की खातिरदारी से तुम्हारे बराती प्रसन्न तो रहे न ?'

मैंने उत्तर दिया, 'भाईसाहब, मैं आपकी यह बात कुछ समझ नहीं पाया। आपके सामने मै तो बरातियो में से ही एक बराती मात्र हूँ, और आपकी प्रसन्नता में ही मेरी प्रसन्नता है। जहाँ तक शाहजी लोगो का प्रश्न है, सो उनकी सज्जनता में न तो प्रेम के विवाह में कसर रही, न इस बार ही। फिर आपकी देख-रेख में जो काम हो, उसमें भला कसर कैसी।'

वे बोले, 'शादी तो दोनो तरफ से ही बहुत मजे में हुई, इसमें कोई शक नही, लेकिन मुझे यही एक बात खटक रही है कि यदि मिलनी तुमने ली होती, तो मुझे बडी प्रसन्नता होती। तुम्हारे एक ही तो लडका है, और उसकी ही शादी में तुम पिता की हैसियत से मिलनी न ले सके, इसका कुछ दु ख मेरे मन में है।'

उनकी यह बात सुनकर मेरी आँखें गीली हो आयी, और भावोद्रेक के कारण मैं कुछ बोल न सका।

यह देखकर, वे फिर बोले, 'निरजन, तू मेरी बात को गलत समझ गया क्या ? तेरे हृदय पर किसी प्रकार की चोट तो नही पहुँची ? मेरी बात सुनकर तेरे ऊपर इस प्रकार की प्रतिक्रिया क्यो हुई ?'

मैंने उत्तर दिया, 'मेरे बडे भाग्य, कि आपने मिलनी ली। लेकिन आपकी बात सुनकर भइया की याद हो आयी, और मन पुकार उठा कि, काश, आज भइया होते। बात यह है भाईसाहब, कि यह मिलनी पिता को नही दी जाती, यह तो घर के कर्त्ता को ही दी जाती है। घर का मालिक ही इस मिलनी का हकदार होता है। आपके होते हुए मिलनी का अधिकारी कोई दूसरा हो ही कैसे सकता था ?'

मेरी यह बात सुनकर वे फिर कुछ नही बोले।

हमारे ये भाई अशर्फीलालजो मेरे पचम् भ्राता थे, और मुझसे ११ वर्ष बडे थे। ६ नवम्बर १९६४ के दिन, ८० वर्ष की आयु में, इनका देहावसान हुआ।

लेखक के अग्रज स्वर्गीय श्री अशर्फीलालजी

परिस्थितिवश ये सन्तोषजनक शिक्षा प्राप्त नही कर सके थे। आठवी कक्षा के बाद ही इन्होने तत्कालीन बी० बी० सी० आई० रेलवे के दफ्तर मे नौकरी कर ली थी, और ५५ वर्ष की आयु में अवकाश ग्रहण किया।

अवकाश ग्रहण करने के बाद अध्ययन की ओर इनका रुझान बढा। गीता और रामायण का तो प्रतिदिन ही पारायण करते थे।

इन्होने कलकत्तावाले अपने मकान की छत के ऊपर एक छोटा-सा मन्दिर बना लिया था, और रोज प्रात काल स्नानादि से निवृत्त होकर, ये उस मन्दिर में पहले तो गायत्री मंत्र की मालाएँ फेरते, फिर ठाकुरजी की पूजा करते। इस तरह भजन-पूजन के बाद करीब आठ बजे नीचे उतरते।

क्रमश प्रभु-भक्ति में इनका मन रमता चला गया।

इनके कई सतानें हुई, लेकिन सभी अल्पायु निकली। अन्त में, तीन पुत्र और एक कन्या जोवित रहे। तीनो पुत्रो के नाम क्रमश प्रकाशचन्द्र, हरिश्चन्द्र और प्रेमचन्द्र है। भगवान की कृपा और आशीर्वाद से इनके ये तीनो पुत्र और पुत्री आज बहुत सम्पन्न और सुखी है। इन बच्चो की सम्पन्नता में हमारे भाईजी की महत्वाकांक्षा निश्चय ही विशेष कारण बनी होगी, ऐसा मेरा विश्वास है। अपनी सतान के प्रति माता-पिता का सद्भाव और महत्वाकाक्षा उनके विकास में बहुत काम करती है।

हमारी भाभी अपने जीवन के अन्तिम भाग मे करीब-करीब शैय्या-शायी ही रही। पुत्र-वधुओ द्वारा जिस तत्परता, स्नेह-स्निग्ध भावना एव श्रद्धा से उनकी सेवा हुई, वह बडा सराहनीय व अनुकरणीय उदाहरण है।

इनके सबसे बडे लडके प्रकाशचन्द्र का अपने अनुजो के विकास में बहुत बडा हाथ रहा है। मैंने उसे 'दोयम् मदनलाल' की उपाधि दे रखी है।

मॅझला पुत्र हरिश्चन्द्र शिक्षित, सुसस्कृत, व्यवहार-कुशल एव अध्ययनशील होने के अलावा कलकत्ते की कई सामाजिक और सास्कृतिक सस्थाओ से भी सम्बन्धित है।

इनका तृतीय पुत्र प्रेमचन्द्र गोयनका गौहाटी में स्थित इण्डिया कार्बन कम्पनी का निर्माण-कर्त्ता है, और आज आसाम के एक प्रधान उद्योगपति के रूप में उसकी गणना होती है।

सक्षेप में कहें, तो भाई अशर्फीलालजी एव उनके तीनो पुत्रो का जीवन सघर्ष का एक ज्वलन्त उदाहरण है।

भाई अगर्फीलालजी एव उनके परिवार के मम्बन्ध में इम तरह सोच-विचार करता हुआ आखिर मैं निद्रा देवी की गोद में सो गया। अन्य सब वराती तो पहले ही लम्बी तान चुके थे। जब मेरी आँख खुली, तो गाडी जयसीढी स्टेशन पर खडी थी। देवघरवाले सब वराती तो वहीं उतर गये।

चन्द घटो बाद ही गाडी आसनसोल स्टेशन पर जा पहुँची। जो वराती कलकत्ता लौटनेवाले थे, वे तो गाडी में ही बैठे रह गये।

वरातियों में से जिनकी गाडियाँ स्टेशन पर आ गई थी, वे उनमें चले गये।

वाकी बचे हम लोग, सो वर-वधू को लेकर कारो से कोलियरी पहुँचे।

सबसे पहले वर-वधू की गाडी ने मकान के फाटक में प्रवेश किया। वहाँ सभी सौभाग्यवती स्त्रियाँ प्रस्तुत थी—वर-वधू के स्वागत के लिए। जिस प्रकार विवाह-सम्बन्धी सभी बाह्य कार्य-कलापो में भाई किशनलालजी का प्रमुख हाथ था, उसी प्रकार घर के कार्य-कलापो मे प्रधानता थी उनकी धर्म-पत्नी की, जिनको हम भाभीजी कहकर सबोधित करते हैं।

वर-वधू के गृह-प्रवेश के समय बहन को कुछ-न-कुछ देने का दस्तूर होता ही है, सो मिथिलेश नेग-नेग पर अडती जा रही थी, और हमारी भाभीजी दिल खोलकर उसको मुँह-माँगी दक्षिणा देती जा रही थी।

आवश्यक नेग-चार के पश्चात्, वर-वधू के गृह-प्रवेश के समय आनन्द की लहर चारो तरफ फैल गयी। घर के भीतर कदम रखते ही वधू को सास ने अपने अंक में भर लिया, और वधू विभोर होकर अपनी इस नई माँ के स्नेह की हिलोरो में अवगाहन करने लगी।

फिर वधू को उसके लिए विशेष रूप से निर्दिष्ट कमरे में ले जाया गया।

इस समय एक अदृश्य प्रेरक-शक्ति उसके कानो में फुसफुसा रही थी, 'बेटी, जिस तरह पाणि-ग्रहण सस्कार के समय पति के वाम अग की तरफ आकर तुम उसके हृदय मे प्रवेश कर गयी, और उसके साथ एकाकार हो गई, उसी तरह आज तुमने अपने पति के गृह मे प्रवेश किया है, और उसकी भूमिका में अन्तर्हित हैं—काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य, प्रेम, आनन्द, सत्, अहिंसा इत्यादि-इत्यादि। ये भूमि के रस (साल्ट) है, और तुम्हारे सहज नैसर्गिक सस्कारो के बीज-रूप है। जिस प्रकार नीम और आम के बीज अपने अनुपात में भूमि से रसो को लेकर वृक्ष के रूप में प्रस्फुटित हो जाते हैं, उसी प्रकार, ऐ मेरी प्यारी बेटी, तुम्हारे नैसर्गिक सस्कार, बीज का रूप धारण करके, तुम्हारे पति-गृह की

गृहलक्ष्मी सौ० मीरा

भूमि में से अपने ही अनुपात में रसो को ग्रहण कर अकुरित होकर तुम्हारे सामने आयेंगे। जरा-सी लापरवाही हो गई और तुमने खारे रसो को ग्रहण कर लिया, तो पौधा एव उसके फल खारे ही उपलब्ध होगे, जब कि सद्गुणो के बीज-रूपी सस्कार बोने से आम और नाना प्रकार के पुष्पो से लदे हुए पौधे तुम्हारे जीवन को प्रफुल्लित करते रहेगे। बेटी, यह सास, यह ससुर, यह ननद इत्यादि सभी रिश्तेदार तुम्हारे सुखागमन के लिए 'पीहू-पीहू' की रट लगाये हुए थे, वे यदि तुम्हें कभी कटु रूप धारण किये हुए दिखाई दें, तो उनको अपने ही संस्कारो का प्रतिबिम्ब समझना, उनमें दोष निरीक्षण करने का प्रयास कभी मत करना।'

हमारे भाई किशनलालजी और भाभीजी हमारी प्रेम-पूर्ण श्रद्धाजलि ग्रहण करके कलकत्ते के लिए विदा हो गये, और मेरे पूज्य भ्राता और अजीज भतीजे भी एक-दो दिन के आगे-पीछे रवाना हो गये। बाई मिथिलेश और महाबीरप्रसादजी तथा शेष सब मेहमान भी चले गये।

वधू आठ-दस दिन हमारे यहाँ रही, उसके बाद उसका बडा भाई आकर उसे विदा कराके ले गया।

बहू को गये हुए पन्द्रहेक दिन ही हुए होगे कि मेरी पत्नी कहने लगी, 'यह तो मेरे पीछे पडा हुआ है। कहता है, बुला दे, बुला दे!'

मैंने मुस्कुराते हुए पूछा, 'कौन पडा हुआ है तुम्हारे पीछे?'

उसने उत्तर दिया, 'यही, अपना राजन! आखिर बच्चा है न, इसका मन तो रखना ही पडेगा। शाहजी को समाचार दे दीजिये, ताकि यह पाँच-सात दिन मे जाकर बहू को विदा कराके ले आये।'

मैंने व्यग्य मे कहा, 'बहू अभी तक मोतीहारी मे थोडे ही बैठी है! वह तो पढाई के लिए बनारस चली गई होगी। राजन को तो उसे बी० ए० कराना है न! अगर वह अभी यहाँ आ जायेगी, तो फिर बी० ए० कैसे करेगी?'

उसने उत्तर दिया, 'स्त्रियो की तो शादी हो जाना ही बी० ए० पास होना है। यह भी तो डिग्री ही है!'

थोडे दिन बाद राजन बहू को ले आया।

० ग्रुप-एजेन्ट का पद-ग्रहण

भाई किशनलालजी के आग्रह से अब मैंने राजन को अपने पी० ए० के रूप में परासिया में नियुक्त कर लिया। मैं इसे अपने निरीक्षण में कोलियरी के मैनेजमेंट का प्रशिक्षण देने लगा।

मैं जहाँ कही भी जाता, यह मेरे साथ रहता। यहाँ तक कि जब मैं बडे ऑफिसरो के पास किसी महत्त्वपूर्ण विषय के बारे में बात करने जाता, तो विचार-विमर्श इसी के द्वारा करवाता। जहाँ-जहाँ यह अटकता, मैं सहारा देता जाता। प्राय सारे ऑफिसर मेरे पुराने परिचित थे। वे बडे प्यार से इससे बातचीत करते।

दो-तीन साल के बाद इस तरह के कार्यो के लिए मैंने इसे अकेला ही भेजना शुरू कर दिया। ज्यो-ज्यो इसे सफलता मिलती गयी, त्यो-त्यो इसका विश्वास बढता चला गया। धीरे-धीरे कोलियरी के सारे एडमिनिस्ट्रेशन की बागडोर मैंने इसके हाथ मे दे दी, हालॉकि नियत्रण बराबर मेरा ही रहा।

बी० कॉम० पास करने के पश्चात् जब इसने मेरे पास काम करना शुरू ही किया था, तभी से मैंने इससे चिट्ठियो का जवाब लिखवाना शुरू कर दिया था। प्रारभ में चिट्ठियो को पढकर यह कहता, 'बाबूजी, मुझसे तो उत्तर लिखा ही नही जा रहा है।'

मैं कहता, 'इसकी चिन्ता ही क्यो करते हो कि उत्तर में चिट्ठी ठीक लिखी जा रही है कि नही, भाषा ठीक है कि नही—तुम तो अपनी तरफ से विषय को हृदयगम करके जैसा भी तुमसे बने, उत्तर लिख दिया करो। मैं तुम्हारे ड्राफ्ट को ठीक कर दिया करूँगा।'

थोडे ही दिन यह रफ्तार चली होगी कि इसकी चिट्ठियाँ सुधरने लगी। फिर तो क्रमश इसकी अपनी एक स्वतंत्र लेखन-शैली परिलक्षित होने लगी। यह देखकर मैं बडा प्रसन्न होता, और मेरी प्रसन्नता इसके उत्साह को और अधिक बढा देती।

धीरे-धीरे ऐसी स्थिति आ गयी कि इसको स्वय भी अपने अन्दर आत्म-विश्वास महसूस होने लगा, और यह बिना झिझक के डिक्टेशन देने लगा।

फिर एक दिन यह मुझसे बोला, 'आपकी अनुपस्थिति में तो मैं डिक्टेशन ठीक-ठीक दे देता हूँ, लेकिन आपके सामने मेरा प्रवाह अवरुद्ध हो जाता है।'

मैंने उसको भी छूट दे दी।

तदुपरान्त यह मेरे सामने भी जब डिक्टेशन देता, और मैं उसको समीचीन और सटीक पाता, तो मुझे बहुत प्रसन्नता होती, और मेरी यह प्रसन्नता फिर इसका आत्म-विश्वास बढाने में बडी सहायक होती।

आज तो भगवान की कृपा से एक-एक दिन में बीस-बीस, पच्चीस-पच्चीस लम्बे-लम्बे जटिल पत्रो का यह धाराप्रवाह डिक्टेशन देता चला जाता है।

१ अक्टूबर १९६४ के दिन मेरे अवकाश ग्रहण करने के पश्चात् से राजन ही

मेरी जगह काम कर रहा है, और आज यह परामिया कोलियरी के एक पूर्णरूपेण अनुभव-सम्पन्न ग्रुप-एजेन्ट का कार्य-भार बहुत सफलतापूर्वक वहन कर रहा है। ईश्वर इसको सब ओर से सफलता प्रदान करते रहें, यही मेरा शुभाशीर्वाद है।

मुझे विशेष प्रसन्नता इस बात की है कि यह मेरा पथगामी है, और वह भी हृदय से—सही रूप में। सत्पथ पर चलनेवाले व्यक्ति अपने जीवन में सदा ही सफल एव समुन्नत होते चले जायेंगे—यह प्रकृति का अटल विधान है।

० मेवे के गाछ

एक दिन कार्यवश मैं और राजन धनबाद जा रहे थे। बात-चीत के दौरान कुछ घरेलू प्रसग छिड गया।

वह प्रसग क्या था—यह तो अब ठीक से याद नही है, लेकिन उस वक्त मैंने एक बात राजन से कही थी, जो मुझे इस समय भी अच्छी तरह याद है।

मैंने कहा था, 'राजन, मेरे चले जाने के बाद यदि प्रभु की कृपा से मेरी भाभी एव मेरे ज्येष्ठ भ्राता श्यामलालजी बचे रहे, तो उनकी इस समय जिस प्रकार की मार्मिक सेवा होती चली आ रही है, यदि वह उसी प्रकार जारी रही, तो मेरी आत्मा को बहुत शान्ति मिलेगी, और फलस्वरूप, तुम्हारी आत्मा भी समुन्नत होगी, और तुम अपने जीवन में फलोगे-फूलोगे।'

यह कहते-कहते मेरा मन भर आया था, और इसके ऊपर भी उसकी प्रतिक्रिया हुए बिना न रही थी। यह कोमल हृदय का तो हमेशा से है ही, उदार-हृदय भी है। मेरी बात सुनकर यह भयभीत और स्तभित-सा हो गया, कि बाबूजी यह क्या कह रहे है ? माता-पिता के वियोग की कल्पना भय और विषण्णता उत्पन्न किये बिना रहती नही। इसने मुझसे उस समय कोई खास प्रश्न तो नही किया, लेकिन मेरा खयाल है कि शायद इसके मन में यह भावना भी आयी हो कि ताऊजी की आर्थिक अवस्था को देखते हुए तो यह कहा जा सकता है कि उन्हें सहायता की नितान्त आवश्यकता है, लेकिन ताई की अवस्था तो एकदम भिन्न है। उनके पौत्र सम्पन्न है, और अन्य देवर भी बहुत अच्छी स्थिति में है। इसके अलावा, वे स्वयं भी किसी की मुखापेक्षी नही है।

तो फिर ताई का भार बाबूजी मेरे कन्धो पर क्यो डालना चाहते है ?

वैसे मेरा खयाल है कि शायद यह भावना इसके दिल में नही भी आयी हो, लेकिन साधारणत ऐसी भावनाओ का आ जाना असगत भी नही कहा जा सकता।

बच्चे के चेहरे का भाव देखकर मैंने सान्त्वना देते हुए कहा, 'देखो राजन, एक बात का सदा खयाल रखना, कि अपने छोटे या बड़े भाई, या भाभी की सेवा करने का यदि तुम्हारे जीवन में कभी अवसर आये, तो इस विचार को दिल में कभी न आने देना कि तुम उनकी सहायता करते हो। ऐसा करोगे, तो सेवा-धर्म पर बट्टा लग जायेगा। उदाहरणार्थ, एक हाथ किसी कारण रुग्ण हो जाए, और दूसरा उसकी मरहम-पट्टी करे, तो हम यह कहाँ कहते है कि दूसरा हाथ पहले हाथ की सहायता करता है ? ये दोनो तो एक ही शरीर के अनिवार्य अवयव है, तभी तो रोग-ग्रस्त हाथ की पीडा स्वस्थ हाथ मे भी झंकारे विना नही रहती। जब तक रोग-ग्रस्त हाथ रुग्ण अवस्था से छुटकारा नहीं पा लेता, तब तक स्वस्थ हाथ को भी कैसे चैन पड सकता है ? भाई श्यामलालजी की सेवा करने मे मुझे आत्मिक शान्ति मिलती है—ऐसी शान्ति जो बडी सुखप्रद है, और कोई भी आदमी अपने सुख और अपनी शान्ति से मरहूम रहना पसन्द नही करता।

'रही भाभी की बात। सो बात यह है कि आज हमलोगो से उनकी जो भी सेवा बनती है, अगर वह सेवा किसी कारणवश बन्द हो जाए, तब भी मुझे विश्वास है कि उनके जीवन-यापन के स्तर में शायद कोई विशेष फर्क न आये। लेकिन हमारी यह सेवा निर्देशात्मक है, भावात्मक है, प्रेरणात्मक है, न कि ऋण चुकाने की भावना से प्रेरित। हम यहाँ ऋण की व्याख्या कर लें तो ठीक होगा ऋण के अन्दर पृथकीकरण की भावना रहती है। जब ऋण लिया जाता है, तो पहले प्रार्थी होता है, पीछे दाता। लेकिन जहाँ प्रार्थी ही नही, न दाता है, बल्कि एक अवयव दूसरे अवयव का पोषक है, वहाँ ऋणी बनने और ऋण चुकाने का प्रश्न ही कहाँ उठता है।

'हमारे लालन-पालन में भइया और भाभी की भावना न तो ऋण देने की थी, न उपकार करने की, न सहायता करने की, और न हमारी रक्षा करने की। ये सब तो निम्न कोटि के भाव है, कारण इनमें आदान-प्रदान की भावना अन्तर्हित रहती है, तथा एक खास अरसे तक और एक सीमा तक ही इस तरह के भाव सम्भव होते है, लेकिन हमारे भइया और भाभी तो एक ऐसी भावना से अनुप्राणित थे, जो इन सब भावनाओ से बहुत उदात्त और बहुत ऊपर की भावना थी। माता-पिता की अपने शिशु के प्रति जो भावना होती है, वही भावना हमारे भइया और भाभी की हमारे प्रति थी।

'माँ-बाप अपने बच्चे के पोषण में उसी तरह सलग्न बने रहते है जिस तरह कि अपने शरीर के पोषण में, बल्कि उससे भी कही ज्यादा ही। माता-पिता बच्चे की रक्षा नही करते, रक्षा करना तो क्षणिक होता है, किसी विशेष अवसर पर

होता है, लेकिन वे तो उसे सुख पहुँचाने के निमित्त निरन्तर सलग्न बने रहते है। बच्चे के सुख मे सुख और दु ख में दु ख अनुभव करते है। वे तो यही चाहते है कि हमारा बच्चा बडा हो, हमसे भी ज्यादा समुन्नत और सुखी हो। ऋणदाता ऋणी की अवस्था का कभी खयाल नही करता, वह तो ब्याज समेत अपनी रकम उगाहने की टोह में ही लगा रहता है। इसलिए यहाँ ऋण चुकाने का तो प्रश्न ही नही उठता। बल्कि उनके प्रति कृतज्ञता-ज्ञापन ही इस भावना का बदला हो सकता है। जिस प्रकार भइया और भाभी ने हमारा लालन-पालन अपने बच्चो के सदृश्य किया, और हमारे सुख में सुख और दु ख में दु ख अनुभव किया, उसी प्रकार आज हमारा भी यह कर्त्तव्य हो जाता है कि हम भी उनके सुख में सुख और दु ख मे दु ख अनुभव करें। लोग बोल-चाल की भाषा में इसी को ऋण चुकाना कह बैठते है, जो ठीक नही है। जिस सहज स्वाभाव से, जिस प्रेम से, जिस तत्परता से, जिस त्याग से, एकीकरण की जिस भावना से हमारा लालन-पालन किया गया था, हमारा कर्त्तव्य है कि हम भी आज प्रत्युत्तर मे ठीक उन्ही भावनाओ का परिचय दें। आज हमारी इस प्रकार की भावना की श्रद्धाञ्जलि ही मासिक सेवा का रूप लिये हुए है। माता अपने शिशु को अपनी गोद मे छिपाकर सारे प्रहार खुद ही सह लेती है, और अपने बच्चे को अक्षुण्ण रखती हैं, आज भाभी और भाई श्यामलालजी की सेवा करते समय मेरे मन में भी यही भावना कार्य करती रहती है। तुम मेरे प्रतिनिधि होने के नाते यदि इसी भावना के साथ यह सिलसिला जारी रख सको, तो मेरी आत्मा को बहुत शान्ति मिलेगी।

'हमारी इस सेवा को भाभी किस दृष्टि से देखती है, इस सम्बन्ध मे मैं तुम्हे एक वाकया सुनाता हूँ।

'एक बार भाभी की पौत्र-वधुओ में से एक उनसे इस प्रकार कह बैठी थी, "आप हमारे पास क्यो नही रहती है? और दूसरो के आश्रित रहने में आपको क्या आनन्द मिलता है?"

'यह सुनकर भाभी ने उत्तर दिया था, "बहू, ऐसी बात न कहो। तुम उन्हे पराया समझती ही क्यो हो? दरअसल, मेरे पतिदेव ने मेवे के जो गाछ लगाये थे, वे आज फलो से परिपूरित है। अगर उन वृक्षो की झुकी हुई डालियाँ मेरा समादर आवाहन करें, और मैं उनके स्नेह-स्निग्ध निमत्रण को स्वीकार न करूँ, तो क्या यह मेरे पति का ही अपमान न होगा? तो क्या यह उनके प्रति मेरी अवज्ञा नही समझी जायेगी? इन सुकोमल डालियो से झडे फल तो मेरे पति-प्रदत्त प्रसाद-स्वरूप ही है—इनको कैसे स्वीकार न किया जाये? मेरे पति ने

फलो के इन पौधो को अपने हृदय के प्रेम-रूपी जल से सिंचित करके बडा किया था। ये पराये कैसे हो गये, बहू ? मैं स्वय को उनके आश्रित कैसे समझ लूँ ? देखो, मैं उनके यहाँ कुछ माँगने नही जाती हूँ, मैं तो प्रेम और सम्मान का विनिमय करने ही जाती हूँ। हाँ, यह जरूर है कि हमारे परिवार जैसा उदाहरण साधारणतया कम ही देखने मे आता है। आज-कल न तो उन जैसे माली ही देखने में आते है, और न मेरे देवर जैसे वृक्ष ही नजर आते है। यह तो उस कृपासिन्धु की अनन्त कृपा ही है कि इस प्रकार के सुयोग किसी-किसी के जीवन में घटित हो जाते है। आज मैं अपने उस परम पुनीत पतिदेव के नवनीत जैसे कोमल हृदय को प्रशंसा करते अघाती नही हूँ। उस देवता ने मेरे साथ जिस सौभाग्य का बँटवारा किया था, उसका गूढ तात्पर्य मैं उस समय इतना समझ नही पायी थी। तो बहू, मेरे पति ने जिनको अपने शरीर के अनिवार्य अवयव समझा था, मैं आज उनको पराया कैसे समझ लूँ ?"

राजन को यह वाकया सुनाकर मैंने उससे फिर कहा, 'तो बेटा, तुम भी इसी भावना के साथ मेरी भाभी और मेरे भाई की सेवा करते रहना।'

० एक अप्रिय कटु प्रसग

राजन की कच्ची उम्र की एक अप्रिय कटु घटना को यहाँ सक्षेप मे लिख देना हम आवश्यक समझते है। जीवन के प्रत्येक कटु अनुभव को यदि हम सही मायने मे समझ सकें, तो आगामी जीवन के मार्ग को प्रशस्त करने मे बडी सहायता मिलती है।

राजन की इस कटु घटना के भँवर में अप्रत्यक्ष रूप से मैं भी कुछ-कुछ फँस गया था। इस बात को हम यो समझ सकते है कि मान लो, एक नौसिखुआ व्यक्ति नदी मे स्नान कर रहा है, यदि अचानक उसका पैर फिसल जाये, तो निश्चित है कि नदी के प्रवाह मे आकर वह डूबेगा ही। यह स्वाभाविक ही है कि उसे डूबता हुआ देखकर एक तैराक उसे बचाने का भरसक प्रयास करता है, लेकिन इसके लिए तैराक को भी प्रवाह मे प्रवेश तो करना ही पडेगा, वरना वह उसे बचायेगा कैसे ? नदी के प्रवाह की चपत उसको भी उठानी ही पडती है। इसी तरह मुझे भी उस कटु घटना के भँवर में आ जाना पडा था। नही तो, मैं अपने बच्चे को बचा न पाता।

हमारे एक जाति-भाई युवक की आसनसोल में एक रेडियो की दूकान थी, जिसको उसने काफी टिपटॉप बना रखा था। वह बी० ए० पास था, और अपनी आधुनिक वेश-भूषा के आवरण में अपनी आर्थिक स्थिति के खोखलेपन को

छिपाये रहता था। उसकी बात-चीत गम्भीर और ऊपर से देखने में गहराई लिये होती थी। वह चालाक इतना अधिक था कि उसके फंदे बहुत सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक डोरियो से गुँथे हुए होते थे, और बाहर से लक्षित नही हो पाते थे।

चूँकि वह हमारी ही जाति का था, इसलिए राजन धीरे-धीरे उसकी ओर आकर्षित हो चला। उसकी रेडियो की दूकान मे भी राजन का आना-जाना शुरू हो गया।

एक दफा राजन उसकी दूकान से अपनी पसन्द का एक रेडियो ले आया। रेडियो की कीमत पूछने पर राजन ने कहा, 'हम जो दे देंगे, वही वह ले लेगा। लागत के अलावा मुनाफा बहुत कम लेगा, और हर हालत में बाजार भाव से हमें सस्ता ही पडेगा।'

कुछ दिन बाद राजन उसकी जगह एक नये मॉडल का रेडियो बदलकर ले आया।

मित्रता के नाते वह कभी-कभी राजन को कोई-कोई चीज उपहार के रूप में भी देता रहता था। राजन स्वभावत ही अपनी तरफ झुकनेवाले का अन्ध-विश्वास कर बैठता है। राजन की इस कमजोरी को वह अच्छी तरह पहचान चुका था। चूँकि वह एक कुशल खिलाडी था, इसलिए अपने भावी आक्रमण के लिए वह बहुत सावधानी से जमीन तैयार कर रहा था। वह राजन से बात-चीत के दौरान बराबर यह कहता रहता कि उसे रेडियो के इस काम से बहुत लाभ है।

एक दिन उसने प्रस्ताव रखा, 'अगर मुझे कही से पच्चीस हजार रुपये मिल जायें, तो इस रेडियो के काम को बडे पैमाने पर कर लूँ। यह रुपया एक साल के अन्दर लौटा दूँगा, और रुपया मैं बाजार में प्रचलित ब्याज की दर पर ही लूँगा।'

इस प्रकार का प्रस्ताव वह यदा-कदा राजन के सामने करता रहता, लेकिन आग्रह कतई नही दिखाता।

राजन के दिल में ब्याज से रुपया कमाने का लोभ घर कर गया।

उस युवक ने राजन से एक बात और भी कह रखी थी, 'हमारे भाइयो की साझेदारी का रुपया हमारी माँ के पास है। मैं अपने भाइयो से अलग होना चाहता हूँ। फैसला दो-चार महीने में होनेवाला है। वह रकम मिल जाने पर तो मैं ये रुपये तुरन्त वापस कर दूँगा।'

जीवन के सघर्षो की चपेटो से नितान्त अनभिज्ञ, सम्पदा के अक मे पला हुआ मेरा यह बालक उस जाल में अच्छी तरह से जकड गया।

इन बातो का आभास मुझे कभी-कभी ही मिल पाता, और जब कभी ऐसा होता तो वह युवक उस आभास के विलीन होने के लिए कुछ समय का अवकाश दे देता, ताकि उसे रोकने के लिए मैं कही कोई कदम न उठा बैठूं।

राजन सदा से ही एक आज्ञाकारी और विश्वास-पात्र बालक था, और अब तो यह मेरा सहयोगी भी बन चुका था, इस नाते अब सब कुछ इसी के पास रहने लगा था। यह विद्यार्थी-जीवन में इतने रुपये उठाता था, लेकिन हिसाब हमेशा सही-सही देता था। ऐसा इसने कभी नहीं किया कि रुपये खर्च हुए सिनेमा में, और उनको दिखा दे खाने-पीने के खर्च में, जिनके बारे में माँ-बाप कभी उज्र नहीं कर सकते। ऐसे सत्यनिष्ठ बालक के ऊपर माता-पिता का विश्वास होना अस्वाभाविक नही कहा जा सकता। बिना विश्वास किये बालक अपना जिम्मेदारी समझ भी तो नहीं सकता। पानी मे छोडे बिना बालक तैरना सीख भी कैसे सकता है।

जब इसने उस जाति-भाई को पच्चीस हजार रुपये ब्याज पर देने का प्रस्ताव मेरे सामने रखा, तो मैंने स्वीकार नही किया।

मैंने कहा, 'तुमको इन छोटी-छोटी चीजो की तरफ ध्यान नहीं देना चाहिए। अपने पास कोयले का इतना बडा काम है। मैं वृद्धावस्था की ओर अग्रसर हूँ। तुम्ही को तो मेरी जिम्मेवारियाँ सँभालनी होगी। उस बोझ को उठाने के लिए तुम्हें अपने कंधे सबल बना लेने चाहिएँ, और अपने ध्यान को इधर-उधर बँटने देना नहीं चाहिए।'

उस दिन तो राजन चुप रह गया, लेकिन इसके कुछ ही दिन बाद इसने फिर मुझसे कहा, 'देखिये, मुझे रेडियो के इस व्यापार से लाभ उठाने का लोभ नही है, बाबूजी। मैं मित्र के नाते उसकी सहायता करना चाहता हूँ। लडका सम्पन्न घर का है। सुशिक्षित है। सच्चरित्र है, और अपनी ही जाति का है। उसने आज तक मुझसे कोई छिछली अथवा सेक्स-सम्बन्धी बात नही की न ही वह आज-कल की आधुनिक लतो का शिकार है।'

राजन की यह दलील इसकी माँ के चित्त पर असर कर गई। वह मुझसे बोली, 'अपने मित्र की सहायता करने का इसका मन है। रुपया डूबने का नही। जमी हुई उसकी दूकान है। हाँ, यह हो सकता है कि व्यापार में फँसा हुआ रुपया आने में कुछ देर हो जाये। सो उसकी हमे कोई चिन्ता नही। आपको अपनी अनुमति दे देनी चाहिए।'

मैने उत्तर मे कहा, 'माँ-बेटा जैसा ठीक समझें, कर ल।'

और राजन ने थोडे-बहुत रुपये देने शुरू कर दिये। यह छोटी-मोटी रकम

पश्चिम बंगाल के महामान्य राज्यपाल श्री धर्मवीर के साथ लायन्स क्लब ऑफ रानीगंज के अध्यक्ष
श्री राजेन्द्रकुमार गोयनका

जल्दी-जल्दी वापस भी मिलती रही। इस तरह वह राजन के दिल में विश्वास और स्थान जमाता चला गया।

आपने शायद देखा होगा कि रात्रि के समय दीवार पर विचरती हुई छिपकली पतगो के ऊपर सहसा नही झपटती। पहले वह अपनी आँखो की मोहिनी-शक्ति से अपने शिकार को मन्त्र-मुग्ध कर लेती है, और जब वह होश-हवास खो चलता है, तो फटाक् से उसको गलप लेती है। अजगर की भी यही नीति है, और सिद्ध-हस्त जगली जानवर भी इसी नीति का अनुसरण करते है। शिकारी भी अपने निशाने को भली-भाँति साधे बिना अपनी बन्दूक नही दागता।

राजन भी धीरे-धीरे इस शिकारी के शिकजे मे जकडता चला गया।

स्थानाभाव के कारण हम यहाँ सारी घटनाओ के प्रत्येक अंग पर प्रकाश डालने में असमर्थ है।

धीरे-धीरे उस युवक ने एक कच्छी महाशय की चलवलपुर नाम की कोलियरी (जो आसनसोल के पास है) भी राजन के गले मढ दी।

लेकिन उस कोलियरी के मालिक लोग इस शिकारी से भी जरा अधिक ही चालाक निकले। उन्होने इसके माध्यम से अपना रास्ता प्रशस्त कर लिया, और फिर एक दिन इस शिकारी को इसके मचान से ढकेलकर खुद आसीन हो बैठे।

आगे चलकर, भाई नन्दलालजी जालान ने मध्यस्थता करके हमारे और उनके बीच सतोषप्रद फैसला करा दिया। ऐसा हो जायेगा—यह मेरे खयाल के बाहर की बात थी। मुझे तो यही कहना पडेगा कि कोई दैवी-शक्ति ही भाई नन्दलालजी जालान के माध्यम मे मुझे और मेरे बच्चे को इस पचडे से बाहर निकालने मे प्रयत्नशील थी।

परिपाटी के नाते, अथवा कहे औपचारिकता के नाते, हम भाई नन्दलालजी के वडे कृतज्ञ है। लेकिन हम महसूस करते है कि इस प्रकार की निष्काम सेवा को कृतज्ञता-रूपी औपचारिकता का परिधान पहनाने से हम अपने प्रिय बन्धु से कुछ-कुछ अलगाव का अनुभव करने लगते है। हमारी तो यह मान्यता है कि कृतज्ञता-ज्ञापन एकीकरण का पृथकीकरण है—यानी कृतज्ञता-ज्ञापन किया, सतोष की साँस ली, तत्पश्चात् ओम शान्ति, शान्ति, शान्ति ॥

इस कटु अनुभव ने राजन को जीवन की विषमताओ और प्रवचनाओ से बखूबी परिचित करा दिया, और वह भविष्य में इस तरह के दिखावटी मित्रो से सतर्क रहने लगा।

ऊपर हम राजन के मानसिक और व्यावसायिक प्रशिक्षण के विषय में विस्तार से लिख चुके है।

अपनी व्यवसाय-सम्बन्धी जिम्मेवारियो की समस्त कार्य-व्यवस्था के वावजूद राजन शुरू से ही इस अचल की सामाजिक और सास्कृतिक गतिविधियो में भी सक्रिय भाग लेता रहा है, और मुझे यह देखकर प्रसन्नता होती है कि आज वह इस अचल के मामाजिक और सास्कृतिक जीवन का एक महत्त्वपूर्ण अग वना हुआ है।

सन् १९६३ में यह इण्डियन कोलियरी ओनर्स एसोसियेशन की कार्य-कारिणी समिति का सदस्य वना।

१९६५ में रानीगज चैम्वर ऑफ कॉमर्स का सीनियर वाइस प्रेसिडेन्ट निर्वाचित हुआ।

लायन्स क्लव ऑफ रानीगज से यह १९६४ से सम्वन्धित हुआ, और १९६५ में इसका सेकण्ड वाइस प्रेसिडेन्ट और फाइनेन्स कमिटी का चेयरमैन निर्वाचित हुआ, १९६६ में फर्स्ट वाइस प्रेसिडेन्ट और फाइनेन्स कमिटी का चेयरमैन वना, और १९६७ में प्रेसिडेन्ट के महत्त्वपूर्ण पद के लिए चुना गया।

इनके अलावा, आज यह परासिया सीनियर वेसिक स्कूल का सेक्रेटरी भी है।

अपने मधुर स्वभाव और सहृदय व्यवहार के कारण आज यह इन सस्थाओ में, कोलियरी के श्रमिको और अधिकारी-वर्ग में, इस अचल के सरकारी अफसरो एव व्यावसायिक व्यक्तियो मे तथा अपने मित्र-वर्ग मे इतना लोकप्रिय है कि मुझसे मिलने-जुलनेवाले वरावर ही इसकी प्रशंसा करते रहते है।

राजन का पारिवारिक जीवन भी पूर्ण सुखी और सम्पन्न है।

इसके एक लडका और दो लडकियाँ है।

सवसे बडी लडकी इन्दु का जन्म १५ फरवरी १९५९ के दिन हुआ था। सन् १९६४ के दिसम्बर महीने में लगभग छह वर्ष की आयु में राजन इसे वनारस के राजघाट वेसेन्ट स्कूल में भर्ती करवा आया था। आज यह उसी स्कूल में फोर्थ स्टैण्डर्ड मे शिक्षा प्राप्त कर रही है।

११ जनवरी १९६३ के दिन रवीन्द्र का और ११ सितम्बर १९६५ के दिन रश्मि का जन्म हुआ। रवीन्द्र अभी घर मे ही अपनी प्रारभिक शिक्षा प्राप्त कर रहा है।

लेखक का पौत्र
श्री रवीन्द्रकुमार गोयनका

लेखक की प्रथम पौत्री
सुश्री इन्दु गोयनका

लेखक की द्वितीय पौत्री
सुश्री रश्मि गोयनका

ये तीनो ही बच्चे मुझसे बेहद हिले हुए हैं। मेरे भोजन करते समय रवि और रश्मि आकर मेरी गोद में जम जाते है, और साथ खाने लगते है, लेकिन मुझे तनिक भी बुरा नही लगता। बल्कि अगर वे साथ नही खाएँ, तो मुझे भोजन मे उतना स्वाद ही नही आता।

ये बच्चे सुबह जल्दी ही उठ जाते है, और अक्सर इनकी आवाजें सुनकर ही मेरी नीद टूटती है।

एक दिन इन बच्चो की आवाजें नही सुनाई दी, और फलस्वरूप मुझे उठने में देर हो गयी। कुछ देर बाद मीरा इन दोनो बच्चो को लेकर आयी, और मुझे सोया देखकर चिन्तित स्वर में पूछने लगी कि मेरी तबियत तो ठीक है न।

मैंने उत्तर दिया, 'मेरी नीद तो खुल गयी थी, लेकिन आँखो के पट बन्द थे, क्योकि बच्चो की मगल आरती नही हो रही थी न। और मन्दिर के पट तो तभी खुलते है, जब आरती होती है, और चहल-पहल मचती है।'

मेरी बात सुनकर मीरा मुस्कुराने लगी। बच्चे दोनो ओर से उससे चिपके हुए थे, और चहचहा रहे थे।

कितना आनन्ददायक था यह दृश्य मेरे लिए।

राजन को आज सब प्रकार से सुखी और विकासशील देखकर मेरा अन्तस् कितनी प्रसन्नता का अनुभव करता है, इसका वर्णन करना मेरी लेखनी की शक्ति से बाहर है। मैं महसूस करता हूँ कि यह सब मेरे भइया के आशीर्वाद का ही सुफल है।

समापन श्रद्धाञ्जलि

०

मेरे श्रद्धेय अग्रज के प्रति लिखी गयी इस पुस्तक-रूपी श्रद्धाञ्जलि का समापन उपनिषद् के एक श्लोक से करना मुझे समुचित प्रतीत होता है। वह श्लोक इस प्रकार है—

ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीया मा गृध. कस्य स्विद्धनम्।

अर्थात् इस गतिशील ससार में जो कुछ भी गति कर रहा है, वह सब परब्रह्म से परिवेष्टित है। यानी इस जगत् मे छोटा-से-छोटा, अणु से भी अणु, जो कुछ भी है, वह सब ईशमय है। यह सम्पूर्ण प्रवाह परब्रह्म से अणुप्राणित है। उससे आवासित है। उससे ढका हुआ है।

हमे ससार को केवल बाहर से ही नही देखना चाहिए। इस अविरल प्रवाह के अन्तराल में जाज्वल्यमान प्रगाढ यथार्थ सत्ता है जो कि इस प्रवाह मे अनुष्ट-प्रविष्ट है। उसके आन्तरिक रूप को ढूँढ निकालना है। जो इस प्रकार देखता है, वही सच्चा द्रष्टा है।

उस कृपासिन्धु ईश ने समस्त प्राणि-मात्र के जीवन-यापन के लिए पर्याप्त पदार्थ उत्पन्न किये है।

सन १९६५ मे लायन्स क्लब ऑफ रानीगज के चक्षु-चिकित्सा-केन्द्र में प्रधान अतिथि के पद से भाषण देते हुए श्री निरंजनलाल गोयनका। यह चक्षु-चिकित्सा-केन्द्र लेखक की धर्मपत्नी की स्मृति में 'श्रीमती वनिता देवी गोयनका चैरिटेबल ट्रस्ट' की ओर से आयोजित किया गया था।

यहाँ विशेष रूप से मनुष्य की ओर निर्देश है, कारण मनुष्य ही एक ऐसा बुद्धि-जीवी प्राणी है, जिसमें लोभ का प्रमाद आये बिना नही रहता। इसीलिए वेद कहते है कि, हे मनुष्य, प्रभु-प्रदत्त भोगो को पर्याप्त भोग, किन्तु लोभ के वशीभूत होकर नही। लोभ के वशीभूत होकर दूसरे के भाग को हडप कर जाना नरक के द्वार पर जा खडा होना है। गीता मे भी लोभ को नरक का द्वार ही कहा गया है। लोभ के वशीभूत होकर तू उस परब्रह्म के दर्शन तो करने पायेगा ही नही, वल्कि इस बाहरी जगत् के आकर्षण में इस प्रकार फँस जायेगा कि अपने लक्ष्य से च्युत होकर दुर्गति को प्राप्त हुए बिना न रहेगा। यह धन किसी एक का नही है। सभी इसको भोगने के अधिकारी है।

बुद्धि-प्रमत्त मनुष्य समझता है कि हम अपनी बुद्धि के वल पर ही धन कमाते है। कमाते क्या हैं, संग्रह करते है। उदाहरण के लिए, यदि हम समुद्र के किनारे चले जायें, और वहाँ मामूली और विशेष पत्थरो को देखें, तो बुद्धिमान व्यक्ति उनमे से विशेष पत्थरो को ही चुनता है, जब कि मन्द बुद्धि का व्यक्ति निकम्मे पत्थरो को। इससे उसकी पोट भारी हो जाती है, जिसको ले जाने मे उसको शारीरिक परिश्रम भी अधिक करना पडता है, और लाभ भी कुछ नही होता।

ऐसी स्थिति में न्याय-संगत यही है कि बुद्धिमान मनुष्य को अपने जडमति भाई के साथ अपने वेशकीमती पत्थरो को बाँट लेना चाहिए, क्योकि ये पत्थर उसने स्वय तो वनाये ही नही। ये तो प्रकृति-प्रदत्त है।

प्रखर बुद्धिवाले व्यक्ति को दूसरे का हिस्सा हडप करने की भावना से दूर रहना ही शोभा देता है। उदाहरणार्थ, मान लो, एक मनुष्य के कई सन्तानें है। यह स्वाभाविक ही है कि वडो सन्तान विशेष अनुभवी होती है, जब कि छोटी सन्तान विकास के मार्ग से होकर गुजर रही होती है, यानी उसकी बुद्धि अभी तक वडी सन्तान जितनी विकसित नही हुई रहती, ऐसी स्थिति में वडे भाई का यह व्यवहार अनुदार ही कहा जायेगा, अगर वह अपने अविकसित भाई के लात मारकर उसके भोग के हिस्से को हडप ले।

लोभ के वशीभूत होकर भाई-भाई में द्वन्द्व, जाति-जाति में द्वन्द्व, राष्ट्र-राष्ट्र में द्वन्द्व चलता रहता है। लोभ अशान्ति का प्रधान कारण है। लोभ के त्याग से ही मनुष्य असली मानवता को प्राप्त करता है। इसलिए वेदो का निर्देश है कि अपने स्वरूप को पहचानने के लिए मनुष्य को लोभ का परित्याग करना चाहिए, क्योंकि लोभ तीनो गुणो का सम्भूत रूप ही है।

मानव की आत्मा अमर है। उसका भविष्य ऐसी वस्तु का भविष्य है, जिसकी उन्नति और वैभव की सीमा नहीं है।

मेरे श्रद्धेय अग्रज डॉ० मदनलालजी का सम्पूर्ण जीवन उक्त श्लोक में वर्णित आदर्शों का साक्षात् जीवन्त प्रतीक था, जिसकी झाँकी प्रस्तुत करने का एक विनम्र प्रयास मैंने इस पुस्तक में किया है।

अपने जीवन-पर्यन्त तो वे मेरा पथ-निर्देश करते ही रहे, देहावसान के बाद भी उनकी पावन प्रेरक स्मृति का प्रकाश मेरे जीवन-पथ को आलोकित करता रहा।

यह पुस्तक लिखकर मैं यह महसूस कर रहा हूँ कि आज मेरे जीवन की एक बहुत बड़ी साध पूरी हुई है।

ग्रन्थ-प्रणयन की पीठिका

०

मैं पेशे से लेखक नही हूँ। बल्कि एकेडेमिक दृष्टि से देखा जाए, तो मैं शिक्षित भी नही कहा जा सकता। मुझे अपने विद्यार्थी-जीवन में महाविद्यालयो और विश्वविद्यालयो की ऊँची-ऊँची कक्षाओ में पढने का सुयोग ही नही मिला।

हाँ, अपने परवर्त्ती जीवन-काल में मैंने अपनी रुचि के गम्भीर विषयो का स्वेच्छा से अध्ययन जरूर किया, और खूब जी भरकर किया।

लेकिन फिर भी, मेरे जीवन का यह तो एक ज्वलन्त सत्य है ही कि ७२ वर्षो की मेरी इस आयु की लगभग एक पूरी अर्द्ध-शताब्दी शिक्षा-केन्द्रो से ही नही, बल्कि शहरी जीवन से भी बहुत दूर, कोयले की खानो के परिवेश में ही व्यतीत हुई है।

इसलिए जब यह पुस्तक लिखी जा चुकी, तो मैं यह निश्चय नही कर पाया कि यह प्रकाशन के योग्य है भी, या नही।

वैसे इस पुस्तक के लिखे जाने की भी एक अलग कहानी है।

भइया की बीमारी के दिनों मे मैंने उनसे यह वायदा किया था कि मैं उनकी जीवनी अवश्य लिखूँगा। इसके बाद अपने कर्म-व्यस्त जीवन की उलझनों की गाँठें सुलझाते रहने में ही मैं इस कदर उलझा रहा कि किसी और तरफ ध्यान देने का कभी अवकाश ही नही मिला।

लेकिन सुदीर्घ वर्षो की इस लम्बी अवधि के बीच भी भइया से किया वायदा मेरे 'सब-कांशस माइण्ड' मे बराबर हलचल मचाता रहा।

सन् १९६४ में जब मैंने कोलियरी से अवकाश ग्रहण कर लिया, तो उस वायदे की स्मृति उभरकर ऊपर आ गयी, और मैंने सबसे पहला काम यही किया। करीब तीन महीने तक मैंने भोजन नही किया, नमक तक नही खाया, केवल दूध और फलाहार पर रहा, और स्वयं को एक कमरे में बन्द करके धारा-प्रवाह लिखता चला गया बल्कि यह कहना अधिक सच होगा कि कोई अदृश्य प्रेरक-शक्ति मुझसे लिखवाती चली गयी।

तीन महीने के पश्चात् मैंने पाया कि बडे-बडे पूरे चार रजिस्टर भरे हुए है।

लेकिन जैसा कि मैं ऊपर कह चुका हूँ, मुझे उस समय स्वय यह विश्वास नही था कि यह जो कुछ लिखा गया है, वह प्रकाशन के योग्य है भी, या नही। इसलिए मैं इसके सम्बन्ध में कुछ अनुभवी व्यक्तियो की सम्मति लेने को उत्सुक था।

इसके अलावा, मेरी लिखावट बचपन से ही कुछ अस्पष्ट रही है, इसलिए मैं यह भी चाहता था कि कोई ऐसा व्यक्ति मिले जो स्पष्ट और सुपाठ्य लिखावट मे इसकी प्रतिलिपि कर दे।

ठीक इन्ही दिनो श्री विपिनविहारी सहल हमारे कलकत्ता ऑफिस से कार्यवश कोलियरी आये।

अपनी सांस्कृतिक और शैक्षणिक विरासत के कारण सुप्रसिद्ध, नवलगढ के सहल-परिवार के ही एक युवक सदस्य है श्री विपिनविहारी सहल। हिन्दी पाठको के लिए सुपरिचित और प्रख्यात विद्वान् डॉ० कन्हैयालाल सहल हमारे इन्ही सहलजी के चाचा है। इनके एक दूसरे चाचा है श्री फूलचन्द सहल, जो मुकुन्दगढ में शारदा सदन कॉलेज के प्रिन्सिपल है। सहल-परिवार के अन्य सब सदस्य भी—कुछ तो व्यावसायिक प्रतिष्ठानो में, लेकिन अधिकतर शैक्षणिक संस्थाओ में—उच्च-पदस्थ है।

श्री विपिनविहारी सहल से मेरे दुहरे सम्बन्ध है—व्यावसायिक और व्यक्तिगत। व्यक्तिगत रूप में, ये मेरे पुत्र राजन के एक अन्तरग मित्र है, और इस नाते मुझे पिता-तुल्य सम्मान देते है। व्यावसायिक रूप मे, ये शुरू मे हमारे प्रतिष्ठान के कलकत्ता ऑफिस में सेल्स का काम देखते थे, और उसके बाद इन्होने अपनी कम्पनी एजेन्ट्स एण्ड कन्ट्रेक्टर्स लिमिटेड में कोयले का काम शुरू कर लिया, और आज भी ये हमारे यहाँ से काफी मात्रा में कोयला खरीदते है, और इस प्रकार पुराना सम्बन्ध आज भी बना हुआ है।

सुप्रसिद्ध सहल-परिवार के होनहार युवक
श्री विपिनविहारी सहल

तो ये कार्यवश जब कोलियरी आये, तो इन्होंने बहुत आदर सहित मुझसे बात-चीत की।

बात-चीत के दौरान, मैंने इनसे अपनी पुस्तक की चर्चा की, तो इन्होंने पाण्डुलिपि देखने की इच्छा प्रकट की।

मैंने पाण्डुलिपि के चारो रजिस्टर मँगवाकर इनके सामने रख दिये, और अपनी समस्या इनको कह सुनायी।

इन्होंने यह सहर्ष स्वीकार कर लिया कि ये पाण्डुलिपि को स्पष्ट सुपाठ्य लिखावट में प्रतिलिपि कर देंगे।

तदनुसार सहलजी पाण्डुलिपि के चारो रजिस्टर अपने साथ कलकत्ता ले गये।

चन्द मास बाद सहलजी फिर कार्यवश कोलियरी आये। गाडी से उतरकर हमारे ड्राइंग-रूम में कदम रखते ही इन्होंने मुझसे कहा, 'मैंने आपकी पाण्डुलिपि को बहुत साफ-सुथरे अक्षरो में दूसरे रजिस्टरो में लिख लिया है, और वे रजिस्टर अपने साथ ले आया हूँ।

मैंने कहा, 'लेकिन सहलजी, यह तो बताइये कि आपको पुस्तक लगी कैसी ?'

इन्होंने उत्तर दिया, 'आपकी पुस्तक का विषय मुझे बडा भाया है। ग्रन्थ बहुत उपयोगी बनेगा। हाँ, आपकी भाषा में सम्पादन की आवश्यकता है, सो उसका भार भी आप मेरे ऊपर ही छोड दीजिये। मेरा चचेरा भाई सुरेश हिन्दी में फर्स्ट-क्लास-फर्स्ट एम० ए० है। वह मुकुन्दगढ के एक कॉलेज में प्राध्यापक है, और साथ-साथ डॉक्टरेट के लिए थीसिस भी लिख रहा है। वह कुछ समय से किडनी के रोग से ग्रस्त है, और इलाज के लिए कलकत्ता आ रहा है। मैं यही उसे ये सब रजिस्टर पढने को दे दूँगा, और उससे इस पुस्तक का सम्पादन करा दूँगा। मुझे पूरा विश्वास है कि वह इस कार्य को सहर्ष कर देगा।'

कुछ दिनो पश्चात् श्री सुरेशचन्द्र सहल कलकत्ता आये। विपिनजी ने मेरी पाण्डुलिपि के सभी रजिस्टर उनको दे दिये। उन्होंने पूरी दिलचस्पी के साथ मेरी कृति को पढा, और कोलियरी के पते पर मुझे निम्नलिखित पत्र लिखा·

कलकत्ता

आदरणीय गोयनकाजी, ५ सितम्बर '६५

सादर प्रणाम।

आपकी कृति के तीन रजिस्टर मैं अभी तक पढ चुका हूँ जिससे मुझे काफी साहित्यिक एवं मानसिक तुष्टि प्राप्त हुई है। निश्चय ही कृति पर्याप्त रोचक होगी, इसमे जरा भी सन्देह नही किया जा सकता।

मेरी पी-एच० डी० के विषय की परिधि मे आपकी इस रचना का समावेश हो जाने के कारण मैं इसे और भी अधिक दिलचस्पी और ईमानदारी के साथ पढ़ रहा हूँ। इस दृष्टि से, मेरा खयाल है कि भाषागत मार्जन के पश्चात् , आप इस कृति को प्रकाशित करवा सकते हैं।

यह एक साहित्यिक रचना है, जिसका सौष्ठव जितना भी अधिक हो सके, उतना ही अधिक कलात्मक भी होना चाहिए। इस कलात्मक संयोजन के लिए विद्वानो द्वारा प्रतिपादित जीवनी-साहित्य की मर्यादाओं का पालन करते हुए आप एक विशिष्ट सीमा में अपनी कृति को रखकर उसका संस्कार करने के लिए राजी हो सके, तभी सही अर्थों मे आपकी यह कृति एक सफल आत्मकथात्मक जीवनी का रूप ग्रहण कर सकेगी।

अन्त मे एक बात और। मैं इस कृति की भाषा का संशोधन पूरी तन्मयता के साथ करना चाहता हूँ, जिसमे कम-से-कम तीन महीने लगेंगे। इसलिए मैं इन रजिस्टरो को अपने साथ देश [मुकुन्दगढ] ले जाकर एकदम पुष्ट रूप मे वापस आपके पास भेजना चाहूँगा। आशा है, आप मेरी इस इच्छा से सहमत होकर मुझे तीन महीने का समय अवश्य ही देंगे। मेरी बीमारी की लाचारी अगर न होती, तो मैं इससे भी कम समय मे यह कार्य पूरा करके प्रसन्न हो सकता था···आशा है, आप अन्यथा नही समझेंगे।

आपका

सुरेश सहल

सुरेशजी का पत्र पाकर पुस्तक के सम्बन्ध मे मुझे अपने अन्दर कुछ आत्म-विश्वास महसूस हुआ, और मैं उनसे मिलने को उत्सुक हो उठा। मैं कलकत्ता गया। वहाँ पहुँचकर, मेरी इच्छा यही थी कि मैं स्वय जाकर उनसे मिलूँ, लेकिन सुरेशजी ने मेरे इस प्रस्ताव को स्वीकार नही किया, और कहा कि वे स्वत ही मुझसे मिलने के लिए मेरे स्थान पर आ जायेंगे।

दोपहर का समय था। मैं कमरे में अकेला बैठा एक पुस्तक पढ रहा था। हठात् क्या देखता हूँ कि मध्यम कद एव सुन्दर कोमल हँसमुख मुखाकृति और छरहरे बदन का एक नवयुवक शुभ्र पोशाक मे सुसज्जित दरवाजे पर खडा है। मैं सहसा उस देव-पुत्र सदृश्य सुन्दर सौम्य युवक को पहचान नही पाया, और पूछ बैठा, 'किससे मिलना चाहते है आप ?'

देव-पुत्र सदृश्य सुन्दर सौम्य युवक
स्वर्गीय श्री सुरेशचन्द्र सहल

धीमे, मधु-सिक्त स्वर में उस नवयुवक ने कहा, 'जी, मैं सुरेशचन्द्र सहल हूँ···और गोयनकाजी से मिलने आया हूँ।'

मैंने बहुत स्नेह-पूर्वक उनको पास बैठा लिया, और सर्वप्रथम उनके स्वास्थ्य के सम्बन्ध में पूछा। उन्होंने बताया कि वे काफी अरसे से किडनी के रोग से परेशान है, और अब अपने विपिन भइया के आग्रह पर इलाज के लिए कलकत्ता आये हैं।

इसके बाद थोड़ी देर और इधर-उधर की औपचारिक बातें होती रहीं। तत्पश्चात् बातचीत का रुख मेरी पुस्तक की ओर मुड़ गया।

इस पुस्तक के लिखने के पीछे मेरा जो उद्देश्य रहा है, मैंने वह उन्हें जरा विस्तार से बतलाया। वे गौर से सुनते रहे।

जब मेरी बात पूरी हो गई, तो सुरेशजी ने कहा, 'मैंने आपका दृष्टिकोण अच्छी तरह समझ लिया है। तदनुसार ही मैं इसका सम्पादन करूँगा। इस पुस्तक के सम्बन्ध में मैंने अपने विचार आपको विस्तार से अपने पत्र में लिखे ही थे, और मेरा विश्वास है कि यह पुस्तक अपने-आपमें एक सबल कृति होगी। मुझे अपनी ओर से इसमें कुछ भी जोड़ने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी। लेकिन सम्पादन-कार्य में जरा देर लगेगी। कारण, मैं रोगी हूँ। रोग का वेग जरा कम होने पर इस किताब की पाण्डुलिपि को मैं दुबारा पढ़ूँगा और देश जाते समय इसे अपने साथ ले जाऊँगा, फिर तीन-चार मास के अन्दर इसका सम्पादन करके आपके पास भेज दूँगा। जैसा कि मैंने आपको अपने पत्र में भी लिखा था, मेरा खयाल है कि इसमें जो दार्शनिक और अन्य विचार-प्रधान विषय आये हैं, उनको इस पुस्तक से अलग करके दूसरी पुस्तक के रूप में देना ज्यादा श्रेयस्कर होगा। इस किताब के साथ उनका मेल नहीं खायेगा। उन विषयों को एक अलग पुस्तक का रूप देने से उनका मूल्य और निखर आयेगा, क्योंकि इसमें कोई सन्देह नहीं कि वे विषय बहुत हृदयग्राही और गम्भीर हैं।'

इस वार्त्तालाप के पश्चात् वे चले गये।

सुरेशजी देश जाते समय पाण्डुलिपि अपने साथ ले गये, और मुकुन्दगढ़ पहुँचने के तीन-चार मास के भीतर ही एक-एक रजिस्टर का सम्पादन करके भेजते चले गये।

सम्पादन करने में उनको अवश्य ही विशेष कष्ट हुआ होगा, क्योंकि अपनी रुग्णावस्था में ही उन्हें यह कार्य करना पड़ा था।

अचानक पिछले दिनों, उनके असामयिक देहावसान की खबर सुनकर मेरे हृदय पर कितनी गहरी चोट पहुँची, इसका वर्णन करना मेरी सामर्थ्य से बाहर की बात है।

मैं सुरेशजी के पिता श्री फूलचन्द सहल की मानसिक अवस्था का सहज ही अनुमान लगा सकता हूँ। जिस पिता का इतना सुयोग्य, इतना प्यारा, ज्येष्ठ पुत्र भरी जवानी में चला जाये, उसके हृदय का घाव क्या कभी भर सकेगा? लोग कहते है, समय ऐसे घावो को भी धीरे-धीरे भर देता है। मैं इसे मिथ्यावादन मानता हूँ। समय तो ऐसे घावो के ऊपर मात्र एक झिल्ली-सी ले आता है, जो हाथ के जरा-से स्पर्श से ही हट जाती है, और वही हरा घाव फिर कसक उठता है। चिर-वियोग का यह घाव उस दहकती हुई अग्नि के समान है, जो राख की पर्त्त के नीचे निरन्तर सुलगती रहती है।

हम भाई फूलचन्दजी के सान्त्वनार्थ अपनी हार्दिक समवेदना प्रकट करते है।

अब सुरेशजी द्वारा सम्पादित पाण्डुलिपि के चारो रजिस्टर मेरे पास थे। इस सम्पादित पाण्डुलिपि में से दार्शनिक, आध्यात्मिक, मनोवैज्ञानिक आदि चिन्तन-प्रधान विषयो से सम्बन्धित सभी गम्भीर अंश हट चुके थे, और पाण्डुलिपि का आकार करीब-करीब आधा रह गया था।

मेरे सामने अब फिर एक अनिश्चय की स्थिति आ खडी हुई थी। इसमें सन्देह नही कि सुरेशजी ने अपनी रुग्णावस्था के बावजूद सम्पादन में काफी परिश्रम किया था, लेकिन सम्पादन मे जिस निखार की अपेक्षा थी, वह ऐसी स्थिति में सम्भव नही था। इसके अलावा, विविध गम्भीर विषयो से सम्बन्धित चिन्तन-प्रधान अशो के हट जाने से भी मेरा अन्तर्मन कुछ-कुछ दु खी था।

जब अगली बार सहलजी से भेंट हुई, तो मैंने अपने मन की अनिश्चित स्थिति के सम्बन्ध में उन्हें बताया, और फिर मैंने कहा, 'मैं अपनी मूल पाण्डुलिपि के आधार पर ही किसी अनुभवी और दक्ष सम्पादक के द्वारा इस ग्रन्थ का पुन सम्पादन करवाना चाहता हूँ।'

सहलजी ने मेरी राय के प्रति अपनी सहमति जाहिर की, और मुझे आश्वासन दिया कि वे ऐसे ही एक सम्पादक की खोज में रहेंगे।

हमारे सहलजी की यह विशेषता है कि जिस व्यक्ति को ये सचमुच चाहते है, उसके काम के बारे में ये उस व्यक्ति से भी अधिक स्वय चिन्तित रहते है। सो उसी दिन से ये एक अच्छे सम्पादक की खोज में रहने लगे।

मेरा ऐसा विश्वास है कि अच्छे कार्यो के लिए संयोग स्वय घटित हो जाता है। इस बार भी ऐसा ही हुआ।

हठात् एक दिन 'अणिमा' पत्रिका के सम्पादक श्री शरद देवडा की हमारे सहलजी के चाचा श्री फूलचन्द सहल—जो विद्वान् और सहृदय व्यक्ति है, और काफी

ख्यातिप्राप्त लेखक एव इस ग्रन्थ के सम्पादक

श्री शरद देवड़ा

अरसे से मुकुन्दगढ में शारदा सदन कॉलेज के प्रिंसिपल हैं—से भेंट हो गयी।

शरदजी के बारे मे फूलचन्दजी पहले से ही जानते थे, और राजस्थान के इस होनहार युवक की प्रतिभा और कार्य-क्षमता से वे प्रभावित थे। बातचीत के दौरान उन्हें पता चला कि शरदजी ने 'अणिमा' का प्रकाशन स्वय अपने ही बल पर शुरू किया है, और चूँकि वे अच्छी तरह जानते थे कि साधनो के अभाव में पत्रिका के प्रकाशन में क्या-क्या कठिनाइयाँ और परेशानियाँ होती हैं, इसलिए स्वभावत वे शरदजी की सहायता करने को उत्सुक हो उठे, और उन्होंने स्वयं अपनी ओर से ही शरदजी को अपने भतीजे श्री विपिनविहारी सहल से मुलाकात करने का सुझाव दिया, और कहा कि वे शरदजी के बारे में विपिन से बात करके रखेंगे।

और इस तरह आखिर हमारे सहलजी की एक अनुभवी और दक्ष सम्पादक से भेंट हुई।

भेंट होते ही, उन्होंने शरदजी की पत्रिका 'अणिमा' को तो अपना सहयोग दिया ही, इसके साथ ही पहली ही मुलाकात मे उन्होंने शरदजी से मेरी पुस्तक की चर्चा भी कर दी, और आग्रह किया कि वे इसके सम्पादन का भार ले लें। शरदजी ने सहलजी के आग्रह को स्वीकार कर लिया।

अगली बार अपने कलकत्ता-प्रवास में मैं एक दिन शाम के समय भाई किशन-लालजी की बैठक में अपनी खास जगह पर बैठा हुआ था कि शरदजी को साथ लेकर सहलजी पहुँच ही तो गये। देखते ही मैंने शरदजी को और शरदजी ने मुझे पहचान लिया, और हम बहुत हर्षित होकर परस्पर मिले।

बात यह है कि अपने छात्र-काल में राजन और शरदजी छात्रनिवास के एक ही कमरे में पूरे चार वर्ष तक साथ-साथ रहे थे, और एक-दूसरे के घनिष्ठ मित्र रह चुके थे। इसके अलावा, शरदजी जब 'ज्ञानोदय' के सम्पादक थे, तो बालीगज में मेरे भतीजे हरिश्चन्द्र के पडोसी थे, और जब मैं भाई अशर्फी-लालजी के निधन पर कलकत्ता गया था, तो राजन ने उनसे मेरी मुलाकात भी करवायी थी। लेकिन वह मुलाकात इतनी संक्षिप्त थी कि बाद में जब सहलजी ने मुझसे उनका जिक्र किया था, तो मैं यह नही समझ पाया था कि ये राजन के वही पुराने मित्र शरदजी है।

खैर, अब मुलाकात होने पर बहुत-सी पुरानी बातें हुईं, और फिर घूम-फिरकर बात-चीत आखिर मेरी पुस्तक पर आ गयी।

मैंने बिना सुरेशजी की सम्मति का हवाला दिये शरदजी से कहा, 'आप पहले मेरी इस पुस्तक की पूरी पाण्डुलिपि को पढ जाइये, और बताइये कि यह प्रकाशन

के लायक है भी, या नही ।'

मुलाकात की समाप्ति के बाद जब वे जाने लगे, तो मैंने फिर कहा, 'पाण्डुलिपि को पढते समय आप कृपया इस बात पर जरूर विचार करते जायें कि इसमें गम्भीर विषयो से सम्बन्धित जो चिन्तन-प्रधान अश हैं, वे पुस्तक में रखने चाहिएँ, या हटा देने चाहिएँ ।'

दो दिन में ही शरदजी ने पाण्डुलिपि के सारे रजिस्टर पढ लिये, और मुलाकात होने पर मुझसे कहा, 'मुझे उम्मीद नही थी कि आपकी पुस्तक सचमुच इतनी अच्छी होगी । हाँ, भाषा में काफी सुधार अपेक्षित है । और जहाँ तक पुस्तक के चिन्तन-प्रधान स्थलो का सवाल है, मैं समझता हूँ कि वे पुस्तक के अनिवार्य अंग है, उनको हटाने से पुस्तक केवल रसहीन जीवनी या इतिहास बनकर रह जायेगी ।'

शरदजी की यह राय सुनकर मेरा मन इतना प्रसन्न हुआ कि कह नही सकता। कारण, उनकी सम्मति मेरे अन्तर्मन की आवाज से एकदम मिलती हुई थी ।

बस, मैंने आँख बन्द करके इस पाण्डुलिपि के सम्पादन का भार शरदजी पर डाल दिया । अब तो उन पर मेरा दुहरा अधिकार था—एक सहलजी के माध्यम से, और दूसरा राजन के पुराने अन्तरग मित्र होने के नाते । फिर भला वे मेरा आग्रह टाल ही कैसे सकते थे !

मुझे इस बात की खुशी है कि शरदजी ने पूरी रुचि के साथ इसका सम्पादन किया । यह शायद मेरे प्रति उनका व्यक्तिगत आदर ही है, जिसने इस पाण्डुलिपि के सम्पादन में उनको पूरी तरह से रमा दिया ।

मैं औपचारिकता के नाते भी शरदजी के प्रति आभार प्रकट नही करूँगा, क्योकि मेरे लिए वे राजन के सदृश्य ही है ।

तो इस ग्रन्थ के प्रणयन और प्रकाशन की यही कहानी है ।

अब मैं इसे सकोच और विनम्रता के साथ सुधी पाठको और विद्वानो के हाथ में सौप रहा हूँ । अगर मेरा यह विनम्र प्रयास उन्हें पसन्द आया, तो मैं अपने भइया के प्रति अपनी इस श्रद्धाञ्जलि को सार्थक समझूँगा । इति ।